नरसी की हुंडी

लेखक—
नेपाल गवर्नमेण्ट से कथावाचस्पति की पदवीप्राप्त—
कीर्तनकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—

राधेश्याम कथावाचक

प्रकाशक—श्रीराधेश्याम पुस्तकालय, बरेली

मूल्य ३२ नए पैसे।

श्रीराधेश्याम—भक्तमाल

संख्या—१

नरसी मेहता की कथा

प्रथम भाग

नरसी की हुण्डी

लेखक—
नेपाल गवर्नमेण्ट से 'कथावाचस्पति' की पदवीप्राप्त—
कीर्तनकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—
प० राधेश्याम कथावाचक

प्रकाशक—

पाँचवीं बार २०००] सन् १९५७ ई० [मूल्य ३२ नए पैसे

मुद्रक—प० रामनारायण पाठक, श्रीराधेश्याम प्रेस, बरेली।

[illegible]

अब तो सर मैंने डाल दिया, सरकार तुम्हारे चरणों में ।
सम्पदा जो अपनी थी करदी बलिहार तुम्हारे चरणों में ॥
अब हाथ पसार उठाव मुझे, या नफ़रत से ठुकराव मुझे—
उद्धार तुम्हारे चरणों में, निस्तार तुम्हारे चरणों में ॥
लक्ष्मी दासी बतलाती है—गङ्गा की धार जताती है—
है वार तुम्हारे चरणों में, है पार तुम्हारे चरणों में ॥
जब रावण ने फटकारा था, लङ्का में नहीं सहारा था ।
तब सब कुछ मिला विभीषण को दातार, तुम्हारे चरणों में ॥
अर्जुन जय पाता कभी नहीं, ज्ञानी कहलाता कभी नहीं ।
जाता न निमन्त्रण देने यदि, कर्तार, तुम्हारे चरणों में ॥
कर डाला शबरी को पावन, देदिया अहिल्या को जीवन ।
हाथों में है उदारता, तो—उपकार तुम्हारे चरणों में ॥
जब चरणों की यह रही शान-मिथिलेश्वर, केवट, हैं समान
तब तो मुझ पापी का भी है—अधिकार तुम्हारे चरणों में ॥
अर्जी यह 'राधेश्याम' की है, झूठी शोहरत किस काम की है ?
मधुकर को वह दो—जिसका है भण्डार तुम्हारे चरणों में ॥

—:०:—

प्रस्तावना

श्रीगणपति, द्वारकापति, रखिए जन की लाज ।
'नरसी मेहता' की कथा—कहता हूँ मैं आज ॥
'भक्तमाल' का रत्न है इनका प्रिय आख्यान ।
गाते हैं गुजरात में घर-घर इनका गान ॥
सच तो यह है—धन्य है प्रान्त 'काठियावाड़' ।
समय समय पर जहाँ से पौरुष उठा दहाड़ ॥

'श्रीकृष्ण महाप्रभु' ने जिस दिन—मथुरा से वास हटाया था—
तो रहने को—यादवों सहित,—'काठियावाड़' ही भाया था ॥
'द्विजराज सुदामा' यहीं हुए—सब जिन्हें जानते हैं अब भी ।
'श्रीकृष्ण—सुदामा का चरित्र' कविगण बखानते हैं अब भी ॥
इस युग के विदित सुधारक—जो—'ऋषि दयानन्द' कहलाते हैं ।
उत्पन्न यहीं से होकर वे वेदों का नाद सुनाते हैं ॥
जिन महापुरुष को मान आज देती है कुल दुनिया भर ही ।
वे पूज्य 'महात्मा गान्धी' भी प्रकटे हैं इसी भूमि पर ही ॥
अपने 'श्री नरसी मेहता' भी—गुल इसी पाक गुलशन के थे ।
जूनागढ़ में यह रहते थे, प्रेमी श्रीहरिकीर्तन के थे ॥
यह गीत इन्हीं नरसी का है जो गान्धी जी को भाता है ।
गुजरात तलक ही नहीं, आज भारत में गाया जाता है—

❀ गाना ❀

×"वैष्णवजन तो तेने कहिये जे पीड पराई जाणे रे ।
पर दुःखे उपकार करे तो ये मन अभिमान न आणे रे ॥
सकल लोक माँ सहुने वन्दे निन्दा न करे केनी रे ।
वाच काछ मन निश्चल राखे धन धन जननी तेनी रे ॥
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, पर स्त्री जेने मात रे ।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नउभाले हाथ रे ॥
मोह माया व्यापे नहिं जेने दृढ वैराग्य मनमाँ रे ।
राम नाम शु ताली लागी सकल तीरथ तेना मनमाँ रे ॥
वण लोभी ने कपट रहित छे काम क्रोध निवार्या रे ।
भणे नरसैं यों तेनूँ दरशन करता कुल एकोतेर तार्या रे ॥"

×"वैष्णवजन उसको कहिए जो पीर पराई जाने रे ।
परदुख मे उपकार करे, पर मन-अभिमान न माने रे ॥
सकल लोक मे सबको वन्दै, निन्दा नहीं किसी की रे ।
वाक्, काय, मन निश्चल रक्खे, धन धन मात तिसी की रे ॥
समद्रष्टा, तृष्णात्यागी हो, मातु परस्त्री माने रे ।
जिह्वा थकै, असत्य न बोलै, परधन—हाथ न साने रे ॥
माया मोह न व्यापै जिसको, दृढ विराग जिसके मन रे ।
राम नाम से ताली लागी—सकल तीर्थ उसके तन रे ॥
लोभ कपट स रहित सदा जो, काम क्रोध निर्वारे रे ।
'नरसी' कहे दरस ऐसे का—वंश इकत्तर तारे रे ॥

जिस जूनागढ़राज्य में है गिरिनार महान ।
'नरसी चौरा' भी वहीं, रखता है निज शान ॥
लेखक ने जाकर वहाँ- खुद को किया पवित्र ।
उसी भाव से लिखा है—यह संक्षिप्त चरित्र ॥
सीधी-साधी जबाँ में—हैं कुछ हृदयोद्गार ।
फिर भी जो कुछ भूल हो—लें विद्वान् सुधार ॥

हिन्दी उर्दू के झगड़ों में पड़ना हमको न मुनासिब है ।
हम कथा सुनाने बैठे हैं, लड़ना हमको न मुनासिब है ॥
सीधी-सादी भाषा सदैव उपयुक्त कथावाचक के है ।
यह बात ध्यान देने लायक—गम्भीर समालोचक के है ॥
हम क्या हैं ? सिर्फ़ प्रचारक हैं, अपनी ही धुन में रहते हैं ।
हाँ-यह जरूर है—भावों को—विस्ताररूप से कहते हैं ॥
इतना निभ जाय, ग़नीमत है, निर्दोष चरित का चित्रण हो ।
भीतर कुछ बात, बात में हो, बाहर दो-पदी आवरण हो ॥
अतएव—वही भाषा अच्छी—जो दैनिक बोलचाल की हो ।
उलझन है, यदि आवश्यकता—कोषों के देखभाल की हो ॥
इसलिए हमेशा ही से हम, ऐसी ही भाषा लिखते हैं ।
फिर अब तो—नेता भी पसन्द; 'हिन्दुस्तानी' ही करते हैं ॥
सारांश—सत्य है कथन यही नर प्रकट सत्य को किया करे ।
इतने पर भी हम भूले हों—तो विद्वन्मण्डल क्षमा करे ॥

अच्छा अब हो जाइए श्रोतावृन्द तयार ।
नारायण के नाम की हो सम्मिलित पुकार ॥

❀ गाना ❀

×"वैष्णवजन तो तेने कहिये जे पीड पराई जाणे रे ।
पर दुःखे उपकार करे तो ये मन अभिमान न आणे रे ॥
सकल लोक माँ सहुने वन्दे निन्दा न करे केनी रे ।
वाच काछ मन निश्चल राखे धन धन जननी तेनी रे ॥
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, पर स्त्री जेने मात रे ।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे ॥
मोह माया व्यापे नहिं जेने दृढ़ वैराग्य मनमाँ रे ।
राम नाम शु ताली लागी सकल तीरथ तेना मनमाँ रे ॥
वण लोभी ने कपट रहित छे काम क्रोध निवार्या रे ।
भणे नरसैं यों तेनूँ दरशन करता कुल एकोतरे तार्या रे ॥"

×"वैष्णवजन उसको कहिए जो पीर पराई जाने रे ।
परदुख मे उपकार करे, पर मन-अभिमान न माने रे ॥
सकल लोक में सबको वन्दै, निन्दा नहीं किसी की रे ।
वाक्, काय, मन निश्चल रक्खे, धन धन मात तिसी की रे ॥
समद्रष्टा, तृष्णात्यागी हो, मातु परस्त्री माने रे ।
जिह्वा थकै, असत्य न बोलै, परधन—हाथ न साने रे ॥
माया मोह न व्यापै जिसको, दृढ़ विराग जिसके मन रे ।
राम नाम से ताली लागी-सकल तीर्थ उसके तन रे ॥
लोभ कपट से रहित सदा जो, काम क्रोध निवारे रे ।
'नरसी' कहे दरस ऐसे का-वंश इकत्तर तारे रे ॥

जिस जूनागढ़राज्य में है गिरिनार महान ।
'नरसी चौरा' भी वहीं, रखता है निज शान ॥
लेखक ने जाकर वहाँ- ख़ुद को किया पवित्र ।
उसी भाव से लिखा है–यह संक्षिप्त चरित्र ॥
सीधी-साधी ज़बाँ में–हैं कुछ हृदयोद्गार ।
फिर भी जो कुछ भूल हो–लें विद्वान् सुधार ॥

हिन्दी उर्दू के झगड़ों में पड़ना हमको न मुनासिब है ।
हम कथा सुनाने बैठे हैं, लड़ना हमको न मुनासिब है ॥
सीधी-सादी भाषा सदैव उपयुक्त कथावाचक के है ।
यह बात ध्यान देने लायक़–गम्भीर समालोचक के है ॥
हम क्या हैं ? सिर्फ़ प्रचारक हैं, अपनी ही धुन में रहते हैं ।
हाँ- यह ज़रूर है–भावों को–विस्ताररूप से कहते हैं ॥
इतना निभ जाय, ग़नीमत है, निर्दोष चरित का चित्रण हो ।
भीतर कुछ बात, बात में हो, बाहर दो-पदी आवरण हो ॥
अतएव–वही भाषा अच्छी–जो दैनिक बोलचाल की हो ।
उलझन है, यदि आवश्यकता–कोषों के देखभाल की हो ॥
इसलिए हमेशा ही से हम, ऐसी ही भाषा लिखते हैं ।
फिर अब तो–नेता भी पसन्द, 'हिन्दुस्तानी' ही करते हैं ॥
सारांश–ध्येय है कथन यही नर प्रकट सत्य को किया करे ।
इतने पर भी हम भूले हों–तो विद्वन्मण्डल क्षमा करे ॥

अच्छा अब हो जाइए श्रोतावृन्द तयार ।
नारायण के नाम की हो सम्मिलित पुकार ॥

गाना

श्रीनारायण, श्रीनारायण, श्रीनारायण, श्रीनारायण ।
जय नारायण, जय नारायण, जय नारायण, जय नारायण ॥

हे जिह्वे रसमाज्ञे सर्वदा मधुरप्रिये ।
नारायणाख्यपीयूषं पिब जिह्वे निरन्तरम् ॥

श्रीनारायण, श्रीनारायण श्रीनारायण, श्रीनारायण ।
जय नारायण, जय नारायण, जयनारायण, जय नारायण ॥

किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैः किं तस्य बहुभिर्व्रतैः ।
नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥

श्रीनारायण, श्रीनारायण, श्रीनारायण, श्रीनारायण ।
जय नारायण, जय नारायण, जय नारायण, जय नारायण ॥

नारायणः परं ब्रह्म नारायणः परं तपः ।
नारायणः परं चेदं सर्वं नारायणात्मकम् ॥

श्रीनारायण, श्रीनारायण, श्रीनारायण, श्रीनारायण ।
जय नारायण, जय नारायण, जय नारायण, जय नारायण ॥

इति प्रस्तावना

जिस मेहता परिवार में प्रकटे नरसी भक्त ।
ईश्वर का उसमें नहीं था कोई अनुरक्त ॥
लक्ष्मी के सब दास थे, करते थे व्यापार ।
नारायण के ध्यान से-न था कुछ सरोकार ॥

पैसेवालों की दुनिया में, सबसे बढ़ चढ़कर पैसा है ।
पैसा है पुण्य, धर्म पैसा, व्रत पैसा, ईश्वर पैसा है ॥
थैली की जहाँ खनाखन है, उस जगह समाधि-क्रिया कैसी ?
सोने चाँदी का खेल जहाँ अनहद की वहाँ सदा कैसी ?
माला जपना आडम्बर है, रुपया परखना लियाक़त है ।
मस्तक का चन्दन है मज़ाक, कानों का ज़ेवर ज़ीनत है ॥
दौलत पैदा करनेवाला, सम्मान यहाँ पर पाता है ।
श्रीराम-नाम जपनेवाला, भिक्षुक नङ्गा कहलाता है ॥

मात पिता का हो चुका, जब-इनके-अवसान ।
भाई ने पालन किया, भाई अपना जान ॥
सिखलाता था वह इन्हें-निज पुश्तैनी कार ।
इनका दिल उस कार से करता था इनकार ॥

वह रुपये' जब गिनवाता था-तो यह 'सांसों'को गिनते थे ।
वह 'बही' जिस समय लिखवाता तो 'रामराम' यह लिखते थे ॥
वह कहता-'जाउ तगादे को', तो यह 'मन्दिर' में जाते थे ।
जितने पैसे मिलते इनको, गौओं को अन्न खिलाते थे ॥

भौजाई ने दुहज को, ताना मारा एक ।
जाग गया उस ठेस से सोता हुआ विवेक ॥
पानी मांगा इन्होंने, बोली वह तत्काल—
"यहां निठल्लों के लिए पानी का है काल ॥"
पानी पानी होगया—नरसी जी का गात ।
आँखों से पानी गिरा, मानो-है बरसात ॥

सोचा-"भावी या भाई हो, सब साथी धन-दौलत के हैं ।
रिश्ते की खस्ता मठरी में होते मोअन दौलत के हैं ॥
नातेदारों की कमी नहीं रहती है दौलतवालों को ।
मक्खियाँ स्वयँ अपनाती हैं-आकर-मीठे के थालों को ॥
भाई-भाई का शुद्ध प्रेम है कहां आजकल दुनिया में ?
अब तो जो बड़ा कमाऊ है-है वही सगा बस दुनिया में ॥

जो मुझको अपना कहते हैं, धन वही माँगते हैं मुझसे ।
मैं जिनको अपना कहता हूँ, जर वही चाहते हैं मुझसे ॥
इससे तो सिद्ध यही होता—है नहीं किसी को तन प्यारा ।
सब प्यार यहाँ पर धन का है, सबको है केवल धन प्यारा ॥
पर मैं क्या करूँ? प्रकृति मेरी—धन नहीं कमाने क़ाबिल है ।
फिर तो इस धन की बस्ती में, मेरा रहना भी मुश्किल है ॥
मैं उसका-रहा उपासक हूँ, जिस प्रभु का नाम दिगम्बर है ।
अब वही शान्ति देगा मुझको,जीवन उसपर ही निर्भर है ॥"

यही सोचकर चलदिए शिव-मन्दिर की ओर ।
शीश नवाया देव को—श्रद्धा से कर जोर ॥
सात रोज़ तक वहीं पर किया घोर उपवास ।
नरसी शिव के पास थे, शिव नरसी के पास ॥

जितने भी 'हरि' के भक्त हुए, सबने 'हर' को आराधा है ।
हर का आराधन ही जन की हर तरह मिटाता बाधा है ॥
इस जगह वैष्णव-शैवों का— रहता है कोई खेद नहीं ।
नारायण स्वयं कहचुके हैं—'मुझमें शङ्कर में भेद नहीं' ॥

उसी अवस्था में हुआ नरसी को यह भान—
महादेव कह रहे हैं—"पुत्र मांग वरदान ॥"
"क्या मांगूँ ?" जनने कहा, होकर पुलकित गात ।
"प्रभु को प्रिय जो वस्तु हो,दें वह ही खैरात ॥"

शिव फिर बोले—"आगया यह गम्भीर सवाल ।
मेरी तो प्रिय वस्तु हैं— ब्रज के श्रीगोपाल ॥
अच्छा, तुमको, उन्हीं के ले चलता हूँ पास ।
नरसी भी देखें वहां योगेश्वर का रास ॥"

सचमुच वह स्वप्नविलक्षण था—जिससे खिल दिलकी कली गई ।
तन शिवमन्दिर में पड़ा रहा आत्मा वृन्दावन चली गई ॥
शिव नरसी दोनों गोपी बन, पहुँचे जब उस निकुञ्जवन में ।
पहचान लिया मनमोहन ने, मुस्काये कुछ मन ही मन में ॥
राधा से कहा "प्रिये देखो, यह नई सखी जो आई है—
हैं अत्युत्तम संस्कार इसके—तब ऐसी पदवी पाई है ॥
लाओ हाथों में दें मशाल, जिससे प्रकाश फैलाये यह ।
इस भांति रास की लीला में सहयोगिनि भी होजाये यह ॥"

यही हुआ, जिसने किया रहा सहा तम-नाश ।
रास विलोका, हृदय का स्वच्छ हुआ आकाश ॥
उसी समय ऐसा हुआ नरसी को आभास—
"हरि हैं मेरे पास अब मैं हूँ हरि के पास ॥"

ब्रज जानेवाली सूक्ष्म शक्ति जब फिर वापिस तन में आई—
तब त्रिभुवन का सुख सम्मुख था;वह महाशान्ति मन में आई ॥
उस निद्रा उस समाधि से जब जागे—तो 'राधेश्याम' कहा ।
बैठे— तो 'राधेश्याम' कहा, उठे— तो 'राधेश्याम' कहा ॥

देखें अब सर्वत्र ही—मनहर 'राधेश्याम' ।
बाहर 'राधेश्याम' थे, भीतर 'राधेश्याम' ॥
हरिकीर्तन की इसी क्षण—इनमें उठी हिलोर ।
नाच-नाच गाने लगा—इस प्रकार मन-मोर ॥

❀ गाना ❀

"रसने, रट तू यह ही नाम—'राधेश्याम, राधेश्याम' ।
यही जाप हो आठो याम—'राधेमोहन, राधेश्याम' ॥
नर तन पाकर पाप कमाया, झूठी माया में भरमाया ।
जिस प्रभु ने है तुझे बनाया, उसको ही तूने बिसराया ॥
अब तो भजले 'भूलाराम'—'राधेमोहन, राधेश्याम' ।
यही जाप हो आठो याम—'राधेमोहन, राधेश्याम' ॥
सँग न जायगा माल खज़ाना, यहीं रहेगा बड़ा घराना ।
तोड़ मोह का बाना ताना, है जो तू सच्चा मर्दाना ॥
तेरे सच्चे सुख का धाम—'राधेमोहन, राधेश्याम' ।
यही जाप हो आठो याम—'राधेमोहन, राधेश्याम' ॥
बार बार जीवन पाता है, बार बार फिर मर जाता है ।
जब शिर पर सङ्कट आता है, 'हरे! हरे!' तब चिल्लाता है ॥
सुख में, भजता क्यों न सुदाम? 'राधेमोहन, राधेश्याम' ।
यही जाप हो आठो याम—'राधेमोहन, राधेश्याम' ॥
अपना प्रभु है अपने मन में, वह ही घर में, वह ही बन में ।
व्यापकहै वह हरि ही तन में, धरनि, गगन, जल, अगन, पवन में ॥
अन्त वही आता है काम—'राधेमोहन, राधेश्याम' ।
यही जाप हो आठो याम—'राधेमोहन, राधेश्याम' ॥

—:०:—

अब नरसी का काम था यह ही सुबहो शाम—
करना श्रीहरिगुण-कथन, भजना श्रीहरिनाम ॥
बस्ती से कुछ दूर पर एक मढ़ैया डाल—
रहता था हरि-आसरे, हरि का प्यारा लाल ॥
प्रभु की इच्छा से हुआ, कुछ दिन बाद विवाह ।
यद्यपि—इनके हृदय में-थी न ज़रा भी चाह ॥
किन्तु प्रेरणा यह हुई—"कर मन पर अभ्यास ।
प्रथम गृहस्थाश्रम बड़ा, पीछे है सन्यास ॥
दारा-सुत होते हुए, व्यापे जिसे न मोह ।
उसी महात्मा के लिए-है पर्वत की खोह ॥
कुछ ही वर्षों में हुईं प्राप्त—तीन सन्तान ।
दो सुपुत्रियाँ गुणवती, एक पुत्र गुणवान ॥

परिवार बढ़ा तो—धन की भी—रहती हर रोज़ ज़ुरूरत थी ।
पर—यह किस तरह करें पैदा, जब इनको उससे नफ़रत थी ?
नौकरी भक्त से किसकी हो ? भिक्षा मे लज्जा आती थी ।
बीवी बच्चे उपवास करें—यह दशा न देखी जाती थी ॥
पुरुषार्थ कहरहा था—उट्ठो, तुम मनुष्य हो, कुछ काम करो ।
विश्वास कहरहा था,—बैठो, हरिकीर्तन आठो याम करो ॥
आखिर कीर्तन करते करते—पद ललित बनाने लगे स्वयम् ।
अभ्यास किया इकतारे पर, रागों को गाने लगे स्वयम् ॥

केदारा ऐसा खाँ हुआ—गोया उसके आचार्य हुए ।
एक ही प्रसाद मिला ऐसा जिससे सब पूरे कार्य हुए ॥
केदारा गा—जो कुछ लाते— उससे ही खर्च चलाते थे ।
परिवार पूर्ण सन्तोषी था—इसलिए न दुःख सताते थे ॥
यद्यपि दैहिक विपदा आतीं, दुख नर-समाज भी देता था ।
पर जिसपर सौंपा था सब कुछ वह खुद संभाल सब लेता था ॥
सुख-दुःख गृहस्थ आश्रम के–मन इनका नहीं डिगाते थे ।
नभ पर काले बादल आते—फिर ख़ुद ग़ायब होजाते थे ॥

पितृ-श्राद्ध पर घट गई घटना अद्भुत एक ।
आए न्योता जीमने घर में विप्र अनेक ॥
घी जब थोड़ा रह गया—घबराया परिवार ।
लेने को ख़ुद चल दिए नरसीजी बाज़ार ॥

रस्ते में मिला सन्तमण्डल, जो हरि का कीर्तन करता था ।
लोहा कैसे रहसकता जब–चुम्बक आकर्षन करता था ?
यह भी शामिल होगए वहाँ, घी का लाना ही भूल गए ।
कीर्तन में ऐसे लीन हुए, आना जाना ही भूल गए ॥

इधर जीम ब्राह्मण गए–सुखपूर्वक अत्यन्त ।
कोई नरसी दूसरा—घी देगया तुरन्त ॥
इस घटना का ख़ूब ही इनपर पड़ा प्रभाव ।
घर के कामों की तरफ़ रहा न अधिक लगाव ॥

बड़ी बालिका का हुआ–ब्याह समय अनुसार ।
इष्टदेव ने कर दिया–इस ऋण से उद्धार ॥
आयु इधर बढ़ रही थी, उधर धर्म-अनुराग ।
मन भौंरा चख रहा था, प्रभु-पद-पद्म-पराग ॥

अब माल जिस क़दर भी मिलता–पहुंचा देते पामालों पर ।
अपनी ज़ुरूरतें बिसर गईं–जब नज़र गई कङ्गालों पर ॥
आजाये कोई साधु-सन्त, तो पहले उसे जिमाते थे ।
ख़ुद भूखे रह जाते लेकिन, उसको भूखा न उठाते थे ॥
अक्सर भण्डारे करते थे, था हृदय दान पर तुला हुआ ।
उस सरिता का जल क्यों सूखे, जिसका कि सोत है खुला हुआ ?
जनता में नरसी दाता का दिन दिन मर्तबा बुलन्द हुआ ।
दुर्जन ईर्षा में भभक उठे, सुजनों को परमानन्द हुआ ॥

मेहताओं में एक था–सारँगधर धनवान ।
ओछे सेठों की तरह–बदमिज़ाज इंसान ॥
उसको ही था अधिकतर–नरसी जी से डाह ।
जातिबन्धु–सबसे बड़ा होता है बदख़्वाह ॥

इनके बेटे के ब्याह समय–डाला उसने ही अड़ंगा ।
कहलाया बेटीवाले को—'नरसी है हेटा, भिखमंगा ॥'
पर इष्टकृपा से सब टेहले सानन्द हुए सोत्साह हुए ।
सारँग का मदमर्दन करने प्रकटित श्रीसाँवलशाह हुए ॥

अवलोक व्याह की धूमधाम, विद्रोही-हृदय मलीन हुआ ।
नरसी दिनकर की भांति खिले सारँग-हिमकर श्रीहीन हुआ ॥
बढ़ा भक्त में और भी उस दिन से हरि-प्रेम ।
नित्य सवेरे साँझ का-लिया कीर्तन-नेम ॥

जैसे विवाह पर बाला में पहले उत्सुकता होती है ।
फिर ज्यों ज्यों पति आदर करता दिन-दूनी प्रियता होती है॥
तैसे ही-पहले तो मनुष्य--भगवत् की टेर लगाता है ।
फिर कृपा देख जब लेता है--तो उनका ही हो जाता है ॥
यह वह सरकारी ड्योढ़ी है-इसमें जो सर रख देते हैं ।
आकर्षण ऐसा होता है--सरकार खींच ही लेते हैं ॥
नरसी का हाल यही अब था सचमुच नरसी अब हरि के थे ।
पत्नी-पुत्रादिक के समेत, मिलजुल हरि-कीर्तन करते थे ॥

※ गाना ※

अब तो हमने शरण आपकी है गही ।
कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी ॥
हम पपीहे पुकारा करेंगे यही—
कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी ॥"

(१)

"'सतयुग-व्रत' 'त्रेता-हवन' 'द्वापर-पूजन-ध्यान' ।
कलि में भव-निस्तार को, केवल कीर्तन गान ।"
बात नारद से यह आपही ने कही—
कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी ॥

(२)

दिल में रहते हैं सदा दिलाराम दिलदार ।
पर मिलते हैं उसे, जो—दिल देता है वार ॥
पहली सीढ़ी नज़र आई है आज ही—
कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी ॥

(३)

बुद्धि मनुज की बहुत कुछ कर सकती है काम ।
किन्तु कृपा-बिन, कब, किसे, मिले कृपा के धाम ?
इसलिए हमने सीखी है यह टेर ही—
कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी ॥

(४)

उर में दाह, प्रवाह-दृग, रह रह निकले आह ।
मर मिटने की चाह हो, यही प्रेम की राह ॥
चल पड़े इसपै हम, जो भी हो अब सही ।
कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी ॥

(५)

एक भरोसा, एक बल, एक आस है पास ।
वे प्यारे हैं दास को, उनको प्यारे दास ॥
बोलना है तो बोलेंगे यह बोल ही ।
कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी ॥

(६)

जिस धुन से गोपियों ने पाए पूरणकाम ।
उसी लगन का लालची नरसी 'राधेश्याम' ॥
ध्वनि लगी है, लगी ही रहे नित्य ही ।
कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी, कृष्णजी ॥

—०:—

आते थे जो नगर में साधु सन्त-विद्वान ।
नरसीचौरा बन गया उनका वासस्थान ॥

दुनिया कहती थी–"मतलब को हरि की सेवा करता है यह ।
ठहराकर साधु ब्राह्मणों को, सट्टा पूछा करता है यह ॥"
पर यह भगवान् जानते थे, या नरसी भक्त समझते थे ।
"व्यापार भजन-पूजन का था, 'कीर्तन' का सट्टा करते थे ॥"

अकस्मात् शिवरात्रि पर यात्री आये चार ।
जिन्हें द्वारकाधाम की, हुण्डी थी दरकार ॥

हुण्डी सेठों की चिट्ठी है–जो यात्री को दे देते हैं ।
यात्री रुपये रख एक जगह, दूसरी जगह ले लेते हैं ॥
यात्रा में चोरों के भय से, जोखिम न ज़ियादा रखते थे ।
इस कारण हुण्डी का प्रबन्ध, अत्यधिक यात्री करते थे ॥

बहुत कहा हरि-भक्त ने–"जाउ दूसरे द्वार ।
कीर्तनिया करता नहीं हुण्डी का व्यापार ॥"
लेकिन वे–सुनते भला, कब इनका व्याख्यान ?
सारँग आदिक ने प्रथम भर रक्खे थे कान ॥

मसखरे कह चुके थे उनसे–"कोशिश तो करनी पड़ती है ।
पर हुण्डी सही द्वारका की, नरसी जी से ही मिलती है ॥"
अफ़सोस ! यही है जन-समाज, जिसका सुख–हँसी पराई है ।
ईश्वर तक के भक्तों की जो–सह सकता नहीं बड़ाई है ॥

'अतिथि-अवज्ञा के लिए था न हृदय तैयार ।
यह 'सवाल' भी होगया नरसी को स्वीकार ॥
लिखी 'सातसौ' की तुरत, 'हुण्डी' हो लाचार ।
"श्रीयुत साँवलशाह जी, देना इसे सकार ॥"
पहुँच द्वारका में, हुए वे यात्री बेहाल ।
मिला न साँवल नाम का कोई कोठीवाल ॥
लगे सोचने-"विश्व में पैसा ही है सार ।
हरि-कीर्तन भी ढोंग है, ढोंग साधु-सत्कार ॥

नरसूया-इन्हीं तरीक़ों से गुपचुप अपना घर भरता है ।
सारँग उसका ही चेला है, चिड़ियों को फाँसा करता है ॥
हम भी तो मूर्ख रहे पूरे, सब जूनागढ़ घर आए हैं ।
अपने चाँदी के रुपए दे, काग़ज़ का टुकड़ा लाए हैं ॥
अच्छे रुपए जोड़े हमने, लेकर द्वारकाधाम आए ॥
घर के भी नहीं काम आए, हरि के भी नहीं काम आए ॥

तीर्थों का यह हाल है, नहीं धन-बिना मान ।
बात-बात पर चाहिए, सोना चाँदी दान ॥

जिसपर रुपया है वही यहाँ हरि-चरणों तक जा सकता है ।
रुपया ही-'यात्रा सफल हुई', पण्डा से कहला सकता है ॥
इसलिए नतीजा यह निकला थोथे सब व्रत-पारायण हैं ।
नारायण ढिग होगी लक्ष्मी ! लक्ष्मी के ढिग नारायण हैं ॥

अब या तो जूनागढ़ जाकर ठगियों के ।
या इसी समुन्दर में सोकर निज करनी का फल

(७)

इस प्रकार होरहे थे-जब चारों लाचार ।
नरसी जी उस द्रव्य से करते थे ज्योनार ॥
सोच रहे थे हृदय में वे सेवक निष्काम ।
"भण्डारा यह दास का है श्रीहरि के नाम ॥

यों तो जग में प्रत्येक दान अच्छा ही माना जाता है ।
पर भोजनदान दान वह है—निश्चय ही श्रेष्ठ कहाता है ॥
जनता- जनार्दन के मुख में आहुति जाये यह यजन बड़ा ।
सन्तों, ब्राह्मणों, भिक्षुकों का भर जाय पेट—यह हवन बड़ा ॥
लंगर, रसोइयाँ, भण्डारे इसलिए कराए जाते हैं ।
घट-घट व्यापक की तृप्ति-हेतु घट-घट का भोग लगाते हैं ॥
सिखला सकता है दुराचार, भिखमँगे अधम को धन देना ।
आत्मा की शान्ति कहाता है, भूखे जन को भोजन देना ॥"

मन ही-मन कुछ और भी सोच रहा था दास ।
"जिन प्रभु की यह चीज़ है जाय उन्हीं के पास ॥

निश्चय ऋक्-यजुस् अथर्व साम, हो चार अतिथिवर आए थे ॥
या चतुर्भुजी श्रीनारायण खुद यात्री बनकर आए थे ॥
दे गए सातसौ मुद्रा वे, निज पास जिन्हें यह दास धरे ।
पर नारायण की लक्ष्मी को किस तरह दास यह पास धरे ?

इस कारण श्रीपति की यह श्री; श्रीपति ही को पहुँचाता हूँ ।
उनके विराट्मुख द्वारा में उनपर यह भेंट चढ़ाता हूँ ॥
वे चार रूप में धन देकर मुझको धनवान् बनाते हैं ।
मैं चार हजारों में बाँटूँ—यह मेरे उनसे नाते हैं ॥
वे यात्री चार धाम के बन, मुझको दर्शन देने आए ।
भिक्षुक को नगर-सेठ कहकर, उससे हुण्डी लेने आए ॥
मैं एक धाम का हूँ गुलाम, जो हरि का धाम कहाता है ।
हरि का सेवक, हरि के धन से हरि ही के लिए जिमाता है ॥
मेरा तो धन खड़तालें हैं, हरि-मन्दिर हैं हरि-कीर्तन है ।
बाक़ी सब द्रव्य प्रकृति का है, क्या उससे मुझे प्रयोजन है ?
है एक ध्यान, है एक ध्यान, जो वचनों में हैं—मन में हों ।
वे जीवन-प्राणों के साथी—अब मेरे आत्मभवन में हों ॥
लक्ष्मी से मुझे न बहकाओ, मैं उसका नहीं भिखारी हूँ ।
नारायण, सिर्फ़, आपका मैं कीर्तनिया और पुजारी हूँ ॥"

इस विचार ने हृदय का छेड़ दिया फिर तार ।
नाच नाच गाने लगा तत्क्षण कीर्तनकार ॥

गाना

"दिखादे, दिखादे, दिखादे साँवरे, तू सोहनी सुरतिया दिखादे साँवरे ।
बतादे, बतादे, बतादे साँवरे, तू अपनी डगरिया बतादे साँवरे ॥
पृथ्वी होकर राधिका ताक रही नभ ओर ।
नील गगन यह है नहीं है अपना चितचोर ॥
हटादे, हटादे, हटादे साँवरे, तू भ्रम की बदरिया हटादे साँवरे ॥

विश्वनियन्ता एक प्रभु हैं हम सबकी टेक ।
प्रकटे नाना रूप में बनकर जीव अनेक ।
उठादे, उठादे, उठादे साँवरे, तू काली कमलिया उठादे साँवरे ॥
श्वांस-श्वांस पर है नहीं, सोऽहं सोऽहं नाद ।
वंशीधर की होरही—वंशीध्वनि साह्लाद ।
जगादे, जगादे, जगादे साँवरे, तू सोई सुरतिया जगादे साँवरे ॥
गर्भकाल में ध्यान था तेरा ही प्रतिपाल ।
जन्म लिया तो फँसगया—लोभ-मोह के जाल ।
बसादे, बसादे, बसादे साँवरे, तू उजड़ी नगरिया बसादे साँवरे ॥
देना 'राधेश्याम' अब, यह अन्तिम वरदान ।
हटजायें इस हृदय से वैर, लड़ाई, मान ।
बजादे, बजादे, बजादे साँवरे, तू विजय-नगड़िया बजादे साँवरे ॥"

—c—

इधर द्वारकाधाम में था भक्तों का शोर ।
कृष्ण-कृष्ण श्रीकृष्ण की ध्वनि थी चारों ओर ॥

यात्री आतुर थे दर्शन को, आंखों के सम्मुख पर्दा था ।
होगया समय घड़ियाल बजा, पट फिर भी आज न खुलता था ॥
कोशिश में बड़ा पुजारी था—वस्त्रालङ्कार पूर्ण करदूँ ।
बाहर है भीड़ महाभारी, झटपट शृंगार पूर्ण कर दूँ ॥
लेकिन, क्या जानें क्या-कुछ था, चीज़ों पर चीज़ें खोती थीं ।
वह जितनी जल्दी करता था उतनी ही भूलें होती थीं ॥

चंदन जिस समय चढ़ाता था, तो ग़लती से पुछ जाता था ।
पहनाता हार मूर्ति को था, पर नहीं हृदय पर आता था ॥
द्वारकाधीश की भव्य मूर्ति, मानो कुछ आज सोचती थी ।
यों तो थी शान्ति अचल उसमें, इस समय गंभीर और भी थी ॥

वहाँ घाट पर विकल थे-लुटे हुए जन चार ।
सागर का हो पार-पर उनका दुःख अपार ॥
नाना बातें सोचकर थकी बुद्धि जिस काल—
तब प्राणों से ध्वनि हुई-'सुधि लो श्रीगोपाल ॥

❀ गाना ❀

वाणी, हर बार पुकार यही—कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः ।
सुख चाहे तो उच्चार यही—कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः ॥
है जोम किसी को दौलत का, अभिमान किसी को फितरत का ।
हारे का है आधार यही—कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः ॥
अपनी-अपनी सब करते हैं, लेकिन आख़िर को थकते हैं—
तब कहते हैं—है सार यही—कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः ।
गजराज थका जब कोशिश कर-जौभर रहगई सूँड जल पर—
तब बोला हो लाचार यही—कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः ॥
रोने का कोई काम नहीं, अतुल श्री 'राधेश्याम' नहीं ।
सङ्कट में है पतवार यही—कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः ॥"

एक एक हो मिलगए जिस क्षण सातों तार ।
तभी यकायक सामने प्रकटा साहूकार ॥

पूछा उससे "कौन हो?" बोला—"साँवलराम" ।
जैसा मेरा रूप है—वैसा ही है नाम ॥

पेढ़ी है मेरी बहुत बड़ी लेकिन मैं नहीं बैठता हूं ।
यों कोठीवाल कहाता हूं—पर रोकड़िया नरसी का हूँ ॥
मुझको जो रक़म सौंपता है—मैं ही सँवारता हूं उसको ।
नरसी की हुण्डी आती है—तो ख़ुद सकारता हूं उसको ॥
कीर्तन का हूं शौक़ीन बहुत, कीर्तनकारों में रहता हूँ ।
करते हैं भक्त जहाँ कीर्तन ज़्यादातर वहीं ठहरता हूँ ॥
तुमने पहले गाया होता—कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः—
तो मैं पहले आया होता—कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः ॥
फिर भी कुछ देर हुई मुझको, इसकी मैं क्षमा चाहता हूं ।
यह ख़ता न नरसी से कहना, बस इतनी कृपा चाहता हूं ॥"

कंगालों के कष्ट का हुआ निमिष में अन्त ।
एक-एक कर सात सौ मुद्रा मिले तुरन्त ॥
शाह सही ले, होगए क्षण में अन्तर्ध्यान ।
ख़ुश हो मन्दिर में गए—वे चारों श्रीमान ॥
है! यह क्या है उसी क्षण खुला अचानक द्वार !
क्या इनके ही वास्ते था अपूर्ण शृङ्गार ?
होता पारस को परस लोहा स्वर्ण समान ।
त्योंही सच्चे भक्त बन, गा उट्ठे यह गान ॥

❀ गाना ❀

"बोल, बोल हरि बोल, मुकुन्द, माधव, गोविन्द बोल ।
लोभ-मोह की गठरी बाँधे फिरता डाँवाडोल ।
त्याग प्रेम से बदल इसे ले,—दिल—काँटे पर तोल ।
बोल, बोल हरि बोल, मुकुन्द, माधव, गोविन्द बोल ॥
'राधेश्याम' खा लिया गोता, अब तो आँखें खोल ।
मोती श्रीहरि—सङ्कीर्तन के जल्दी-जल्दी रोल ।
बोल, बोल हरि बोल, मुकुन्द माधव गोविन्द बोल ॥

—o—

पहुँचे जूनागढ़ जभी सकल यात्री चार ।
नरसीजी से सब कथा कही सहित विस्तार ॥
भक्त-हृदय में और भी बढ़ा भक्ति का भाव ।
"हैं ! क्या हुण्डी पट गई ? आए साँवलराव ?
मुझसे ज़्यादा होगए, तुम मेरे के दास ।
यहीं रहो, समझो मुझे—अब-दासों का दास ॥"
धन्य होगया उस दिवस, सचमुच कीर्तनकार ।
नरसी चौरा से उठी कीर्तन-ध्वनि गुञ्जार ॥

❀ गाना ❀

राधे, श्रीराधे, राधे, श्याम, राधेश्याम ।
प्रकृति-पुरुष का भेद उसी ने पाया आठों याम ।
जिसने एक बार भी दिल में टेर लिया यह नाम ।
राधे, श्रीराधे, राधे, श्याम, राधेश्याम ॥
सकल कामना छोड़ जगत् की, बनता जो निष्काम ।
'राधेश्याम' वही पाता है सच्चे सुख का धाम ।
राधे, श्रीराधे, राधे, श्याम, राधेश्याम ॥

इति

श्रीराधेश्याम-भक्तमाल
संख्या २

लेखक—
साहित्यभूषण श्रीललित गोस्वामी

नरसी का भात

सम्पादक—
नेपाल गवर्नमेण्ट से "कथावाचस्पति" की पदवीप्राप्त—
कीर्तनकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—
प० राधेश्याम कथावाचक

प्रकाशक—

चौथी बार २०००] सन् १९५७ ई० [मूल्य ३२ नए पैसे

मुद्रक—प० रामनारायण पाठक, श्रीराधेश्याम प्रेस, बरेली।

ॐ

प्रार्थना

दयासागर, जाना मत भूल ।
मैं प्रतिकूल हुआ मायावश, तुम रहना अनुकूल ॥

(१)

ऐसा बालक अब बन जावे, हे मेरे कर्तार ।
लाभ-हानि के हर्ष-शोक से, होजाऊँ उस पार ।
डाल मड़ैया पड़ा रहूँ बस कालिन्दी के कूल ।
दयासागर, जाना मत भूल ॥

(२)

जहाँ कदम्ब, रसाल, निम्ब, बट-जहाँ करील, बबूल ।
त्रिविध पवन में बंशी के स्वर रहे जहाँ हैं भूल ।
उस पावन वृन्दावन ही की—बन जाऊँ मैं धूल ।
दयासागर, जाना मत भूल ॥

—०—

नरसी जी का और भी अब बढ़ चला प्रताप ।
पड़ी पूर्ण गुजरात पर कृष्ण-भक्ति की छाप ॥
घर घर में घर कर गया यह कीर्तन, यह नाम—
'जय जय श्रीराधारमण, जय श्रीराधेश्याम' ॥
एक दिवस ज्यों ही बजी मन्दिर में खड़ताल ।
विप्र कहीं से आगया वृद्ध और कंगाल ॥
बोला—"करना है मुझे कल ही कन्यादान ।
दिया किसी धनवान् ने तनिक न-मुझपर ध्यान ॥
द्वारे द्वारे दुत्कारे खा, इस जीवन से अकुलाया हूं ।
हे राधावर के भक्तराज, अब शरण तुम्हारी आया हूं ॥
माया के बन्दे क्या देंगे, धन प्रभु का प्यारा ही देगा ।
मुद्रा शत-पञ्च ब्राह्मण को यह नरसी राजा ही देगा ॥"
नरसी बोले—"पाँच सौ? इतनों की क्यों चाह?
सौ रुपयों से—हो नहीं सकता है क्या व्याह?"
ठेस लगी द्विज हृदय को—सुनते ही यह बात ।
बोला—"सामाजिक दशा नहीं आपको ज्ञात ॥
अपने समाज में—आज तलक-ऐसे कितने ही बन्धन हैं ।
जिनमें जकड़े बन्दी-समान हम कोटि कोटि भारत-जन हैं ॥

कुल यदि अपने अनुरूप नहीं–धन दाइज भले प्रकार नहीं—
तो कन्या गौरा सी भी हो–वर वाले को स्वीकार नहीं ॥
मानो–समाज है एक हाट बेटे वाला व्यापारी है।
वह ही ग्राहक वर पाता है–जो देता क़ीमत भारी है ॥'

नरसी गद्गद् होगए सुन ब्राह्मण के बैन ।
दृष्टि गई प्रभु की तरफ़ भरे अश्रु से नैन ॥
बोले–"रुपया क्या; यहाँ रहती नहीं छदाम ।
अपने तो आधार हैं केवल–'राधेश्याम' ॥
चलो, निकट ही एक है बूढ़ा साहूकार ।
उससे कहता हूं–तुम्हें दे दे द्रव्य उधार ॥"

उस समय रात के दस होंगे, लिखने पर लाला सोते थे ।
सपने में भी तो लेन-देन, दावे–क़ब्ज़े ही होते थे ॥
सम्मुख आसामी बैठे थे फैला था बड़ा बही-खाता ।
मालूम न हो ऐसे ढँग से–दुखियों का मांस वहीं खाता ।

दृग् मलते मलते वचन—बोला साहूकार ।
"मैं तो गिरवी माल पर देता द्रव्य उधार ॥"
नरसी बोले–"आपका है यदि यही विचार—
तो 'केदारा' राग मैं रखने को तैयार ॥"
हँसे ठहाका मारकर लाला सीताराम—
"केदारा भी क्या किसी गहने का है नाम ?"
उत्तर में नरसी तुरत बोल उठे बेलाग—
"मेरी तो है जीविका–केदारा ही राग ॥

केदारा प्रभु का है प्रसाद–जिसको मैं प्रतिदिन गाता हूँ
जिस दिन से सिद्ध हुआ है यह, भोजन का कष्ट न पाता हूँ ।

धनवाले का जीवन है तो–गुणवाले का भी जीवन है ।
चाँदी सोना यदि धन है–तो गुणियों का गुण भी तो धन है—
जबतक करदूँगा नहीं ऋण का मैं भुगतान ।
तबतक गाऊँगा नहीं–केदारे का गान ॥"
नरसी की इस बात का–ऐसा पड़ा प्रभाव ।
लाला ने रुपये दिए छोड़ उतार चढ़ाव ॥
सौंपी थैली जिस समय उस ब्राह्मण के हाथ ।
लज्जा, श्रद्धा से झुका तत्क्षण उसका माथ ॥
उधर हुआ द्विजराज की कन्या का शुभ व्याह ।
इधर छिड़ा कीर्तन तभी मन्दिर में सोत्साह ॥

❀ गाना ❀

"नँदलाल प्रभो, व्रजलाल प्रभो, जय-जय-जय गिरिधरलाल प्रभो ।
दीनों के एक तुम्हीं तुम हो–इस जग में दीनदयाल प्रभो ॥
उसकी नौका क्यों रहे–उथल-पुथल मँझधार ।
गिरिधारी का हाथ है जिसका खेवनहार ॥
जय रक्षपाल, जय विश्वपाल, जय-जय व्रज के गोपाल प्रभो ॥"

—:०:—

दिन पर दिन बढ़ता हुआ देख भक्त का रँग ।
जला जलन की ज्वाल में और दुष्ट सारंग ॥
राजा जी के अब भरे उसने जाकर कान ।
माण्डलीक महिपाल का जगा दिया अभिमान ॥
व्यापार-कुशल जो रहा–वही–अब हड़तालों का नगर हुआ ।
घर-घर सम्मिलित पुकारों का— कोलाहल अष्टप्रहर हुआ ॥
यदि दण्ड न दिया नरसिया को तो घोर अराजकता होगी ।
फिर किस पर राज्य कीजिएगा–जब सन्यासी जनता होगी ?

तलब किया भूपाल ने नरसी को तत्काल ।
बजी राज-दर्बार में प्रेमी की खड़ताल ॥

❀ गाना ❀

'आँखों पे रहते आजाना, ओ मुरलीवाले श्याम !
यह दिल ब्रजधाम बना जाना, ओ मुरलीवाले श्याम !
सागर में है तूफान, मेरी नाव है मँझधार ।
लहरें डुबाना चाहती हैं—इसको बार बार ॥
बैठा हूँ भरोसे पै तुम्हारे हो तो करतार ।
तुम ही लगाओगे मुझे इस पार से उस पार ॥
सीधा मारग दिखला जाना, ओ मुरलीवाले श्याम ॥ १ ॥
गाते हैं जिन्हें वेद वह ओंकार तुम्हीं हो ।
संसार जिन्हें खोजता-वह सार तुम्हीं हो ॥
नरसी के ही आठों प्रहर आधार तुम्हीं हो ।
पितु,मातु बन्धु हो तुम्हीं,परिवार तुम्हीं हो ॥
उलझन सारी सुलभा जाना ओ मुरलीवाले श्याम ॥ २ ॥'

—०—

किया अन्त में भक्त ने अपना मत अभिव्यक्त—
निर्भय होते हैं सदा नारायण के भक्त ॥
'मैंने न किसी को कभी-कहीं, वैराग्य-मार्ग दिखलाया है ।
मैंने न किसी को भरमाकर-चेला या साधु बनाया है ॥
नर वह ही है—जो जग में रह—जगपति की पूजा करता है ।
संघर्षों से डर, घर तजना, मेरे मत से कायरता है ॥
मैं तो कहता हूँ करो दिनभर घर के काम ।
सुबह शाम लेकिन भजो अपने प्रभु का नाम ॥
जीवन उसका धन्य है जिसको है यह ज्ञान—
तन से पर-उपकार हो-मन से हरि का ध्यान ॥''

नृपति निरुत्तर होगए–सुन यह उच्च विचार ।
हुई अन्त में बात यह बहुमत से स्वीकार—
"नरसी हरि-मन्दिर चलें–सभा-सहित तत्काल ।
पहनायें हरि-मूर्ति को, यह फूलों की माल ॥
जो यह हरि के भक्त हैं–तो वे किसी प्रकार ।
दे दें इनको प्रात तक वही हार उपहार ॥"
नरसी को करना पड़ा यह निश्चय स्वीकार ।
माल पिन्हा हरि-मूर्ति को करने लगे पुकार—

※ गाना ※

"आँखों के रस्ते आजाना, श्री मुरलीवाले श्याम !
यह दिल ब्रजधाम बना जाना, श्री मुरलीवाले श्याम !
गज को तुम्हीं ने ग्राह के फन्दे से छुड़ाया ।
तुमने ही दुखी द्रौपदी का चीर बढ़ाया ।
मुनिराज का जब क्रोध प्रलय मेघ-सा छाया ।
तुमने ही अम्बरीष के हित चक्र पठाया ।
मेरी भी लाज बचा जाना, श्री मुरलीवाले श्याम ॥ ३ ॥
ब्रज-ग्वालिनों को पहले रुलाते रहे हो तुम ।
राधा को भी घनश्याम, रुलाते रहे हो तुम ।
खुद ही भँवर में नाव फँसाते रहे हो तुम ।
फिर खुद ही आके पार लगाते रहे हो तुम ।
वह अपनी टेक निभा जाना, श्री मुरलीवाले श्याम ॥ ४ ॥"

—: ० :—

बजा एक स्वर में जभी इकतारे का तार ।
नरसी बन, प्रभु खुद गये लाला जी के द्वार ॥
निमिषमात्र में कर दिया रुपयों का भुगतान ।
फिर उस साहूकार से बोले श्रीभगवान—

राजाज्ञा के कारण मुझको, तत्क्षण हरि-मन्दिर जाना है ।
सम्पूर्ण रात्रि का समय वहीं—भक्तों के साथ बिताना है ॥
इसलिए आप भी कष्ट करें—उस कीर्तन ही में आजायें ।
भरपाई की चिट्ठी अपनी—बस उसी जगह लेते आयें ॥"
लाला से इक़रार ले विदा हुए भगवान ।
इधर चल रहा था वहीं—नरसी जी का गान ॥

※ गाना ※

आँखों के रस्ते आजाना, ओ मुरलीवाले श्याम !
यह दिल ब्रजधाम बना जाना, ओ मुरलीवाले श्याम !
जल-जल के भी यह प्रेम का उद्यान हरा हो ।
तप तप के भी आत्मा मेरा कञ्चन सा खरा हो ॥
यह घाव, यह छाला हो—बड़ा हो या ज़रा हो ।
जिसकी कि जलन में भी—मिलन स्वाद भरा हो ।
ऐसी ही आग लगा जाना ओ, मुरलीवाले श्याम ॥
कबतक पुकार सुनके न आओगे कन्हैया !
क्या जग में हँसी अपनी कराओगे कन्हैया !
हुँडी जो सकारी है तो आओगे कन्हैया—
माला भी अपने जन को पिन्हाओगे कन्हैया !
फिर चमत्कार दिखला जाना, ओ मुरलीवाले श्याम ॥"

इसी भाँति जब वहाँ पर बीती आधी रात ।
तब लाला ने आ कही—भरपाई की बात ॥
नरसी जी यह बात सुन, चौंक पड़े, तत्काल ।
बोले—"क्या कह रहे हो; हे लक्ष्मी के लाल ?
कब गया तुम्हारी कोठी में ? कब मैंने द्रव्य चुकाया है ?
तुम झूठ बोलते हो मुझसे या तुमने धोखा खाया है ।

मैं तो सन्ध्या से इसी ठर्रो—ठाकुर के आगे बैठा हूँ।
अपने गिरिधर साँवरिया का—कीर्तन, आराधन करता हूँ॥"
वह बोला—'तुमने किया अभी अभी भुगतान।
अपने यह हस्ताक्षर लो देखो पहचान॥"
नरसी रोमाञ्चित हुए अपने अक्षर देख।
अङ्कित थी प्रत्येक में श्याम-मूर्ति की रेख॥
आगे बढ़-तत्काल ही—पाँव सेठ के थाम—
बोले—"लाला जी, तुम्हें बारम्बार प्रणाम॥
निश्चय ही धन्य हो होगए तुम, तुमने हरि-दर्शन पाये हैं।
आते जो नहीं ध्यान में भी—वह धाम तुम्हारे आये हैं॥"
"नटवर, तुम सचमुच नटवर हो—क्या अद्भुत नाट्य दिखाया है।
सारा ऋण चुकता कर मेरा—केदारा राग छुड़ाया है॥
नाचो, मेरे तन मन, नाचो, इच्छाओ, आशाओ, नाचो।
भू नाच रही, नभ नाच रहा—तो तुम भी खड़ताला, नाचो॥

❀ गाना ❀

आँखों के रस्ते आजाना, ओ मुरलीवाले श्याम ?
यह दिल ब्रजधाम बना जाना, ओ मुरलीवाले श्याम ?
बैकुण्ठनाथ, कण्ठ से—तेरा ही नाद हो।
रसना में यही रस रहे नित यह ही स्वाद हो।
भूलूँ समस्त विश्व को तेरी ही याद हो।
उन्माद हो तो ऐसा ही—प्रेमोन्माद हो।
प्राणों में आकर छाजाना—ओ मुरलीवाले श्याम॥

—:o:—

टन, टन, टन, घड़ियाल ने—बजादिये अब तीन।
भक्तराज नरसी हुए और भक्ति में लीन॥

उस समय अलौकिक दिव्य तेज उनके मुख-मध्य झलकता था
मानो-जो भरा प्रेम-प्याला-वह अब इस भाँति छलकता था ॥
भगवान् भक्त का यह मिलान दिव्यात्माओं ही ने देखा ।
आत्मा में परमात्मिक प्रकाश-पुण्यात्माओं ही ने देखा ॥

बजा दिये घड़ियाल ने इसी बीच में चार ।
नृप-आज्ञा से तब कहा-सारंग ने ललकार—

"होनेवाला है प्रातकाल-जीवन का भी है भोर यहीं ।
माला यदि मिली नहीं तुमको-टूटेगी श्वासा डोर यहीं ॥
फिर सूरज ही देखेंगे तुम द्रष्टव्य न कल चन्दा होगा ।
यह ही फूलों का हार तुम्हें-फांसीवाला फन्दा होगा ॥"

सारँग ने जब यों किया नरसी को लाचार ।
वाणी बन, झंकृत हुई तब आत्मिक झन्कार—
"दिल में बढ़ती जारही-प्रतिपल दर्शन प्यास—
आओ मेरे सांवरे अब तो मेरे पास ॥"
केदारा आया इन्हें ठीक इसी क्षण याद ।
रक्खा प्रभु के सामने-प्रभु का महाप्रसाद ॥
जाती थी जब गगन तक केदारे की तान ।
आते थे तब भूमि पर भक्ति-विवश भगवान ॥

पट से हटगए द्वार के पट, सारा आंगन जगमगा उठा ।
न्यायी का ऊँचा हाथ हुआ, अन्यायी डग-डगमगा उठा ॥

❀ गाना (केदारा) ❀

अब तो राखो गिरिधारी ।
नरसिंह बन प्रह्लाद उबारा, अब नरसी की बारी ॥ १ ॥
धन का है आसरा किसी को-कोई जन अधिकारी ।
नरसी के तो एक तुम्हीं हो-अशरण-शरण मुरारी ॥

कोई भी जान नहीं पाया—क्या था ! कैसा दर्शन था वह !
नरसी जी भी निस्तब्ध हुए, अद्भुत ऐसा दर्शन था वह ॥

हरि-प्रतिमा में से हुए प्रकट कन्हैयालाल ।
पहनादी निज हाथ से—नरसी जी को माल ॥
पग छूने को बढ़ा जब कीर्तनकार महान ।
निमिषमात्र में होगई छवि वह अन्तर्ध्यान ॥
'जय-जय' की ध्वनि से तुरत गूँज उठा दर्बार ।
राजा ने भी भक्त को पहनाया जयहार ॥
सारँग को खुद ही मिला आत्म-ग्लानि का दण्ड ।
हुआ सभी के सामने चकनाचूर घमण्ड ॥

माण्डलिक बोल उठे—"मेहता, इस कलि में गंगाजल हो तुम ।
सारा समाज अब जान गया—कीचड़ के मध्य कमल हो तुम ॥
जग में रहकर परिवार-सहित जो जगदीश्वर को भजता है ।
सन्तों में है वह श्रेष्ठ सन्त, राजाओं में अधिराजा है ॥"

नरसी-जीवन के हुए फिर कुछ वर्ष व्यतीत ।
भारतव्यापी हुए अब उनके गीत सँगीत ॥
अबतक तो हमने कहा—और कथा का अंग—
अब कहते हैं भात का अपना प्रमुख प्रसंग ॥

भक्त-सुता व्याही जहाँ—था वह प्रिय परिवार ।
किन्तु सास करती न थी—उससे सद्व्यवहार ॥
उस अवसर तो और भी—लगी भींकने सास—
कन्या के शुभ व्याह का दिन जब आया पास ॥
कर कटाक्ष व्यङ्गोक्ति कुछ, बोली तिर्छी बात—
"जाकर अपने बाप से क्यों न माँगती भात ?"

चुप रही बहू, कहती भी क्या ? आज्ञापालन करती कैसे ?
नरसी की दशा जानती थी–फिर यह हामी भरती कैसे ?
वह पिता कि जिसने निज जीवन श्रीकृष्णार्पण कर डाला है।
वह बाप–कि जिसने तन-मन-धन श्रीकृष्णार्पण कर डाला है॥
वह आत्मा–जो जाग्रत होकर-परमात्मा के गुण गाता है।
राजाओं में जो राजा है–रङ्कों में रङ्क कहाता है॥

उसके सम्मुख क्या भला–धन दौलत की बात ?
यही सोच, वह माँगते शरमाती थी भात॥

कहता था उसका पितृ-प्रेम यह–बात पिता को ज्ञात न हो।
तुझपर होता हो तो हो ले उनके उर पर आघात न हो॥
उनसे यदि भात माँगने का लौकिक व्यवहार करेगी तू।
तो भक्त–सुमन पर–निश्चय ही पाषाण-प्रहार करेगी तू॥

अतःउचित तुझको यही–धार हृदय में धीर।
सहती रह चुपचाप ही घरवालों के तीर॥"
भक्तसुता के यहाँ पर थे इस भाँति विचार।
वहाँ भक्त से किसी ने कहे सब समाचार॥
दौहित्री का ब्याह है–उन्हें होगया ज्ञात।
रिश्तेदारी में भला कब छुपती यह बात ?
नरसी जी ने लिखदिया–"आऊँगा साह्लाद।
धन न सही मैं भात में दूँगा आशीर्वाद॥"
कहा बहू ने–सास से तब सादर, सोल्लास—
"भेजो कुँकुमपत्र माँ, अब उनके भी पास॥"
लालताल हो सास वह–बक उट्ठी तत्काल—
"उसको कुँकुमपत्र क्या ? वह तो है कंगाल।

यदि उसे बुला भी लें—तो क्या—आकर जीतेगा लंका वह ?
उलटा चारों दिश अपयश का खुलकर पीटेगा डंका वह ॥
है तेरा पिता किन्तु क्या है यह तूने नहीं बिचारा है—
वह प्यारा होगा तो तुझको निज मान हमें तो प्यारा है ॥
जब दौहित्री के दाइज का नाना के पास प्रबन्ध नहीं—
तो समधी है तो हुआ करे अपना उससे सम्बन्ध नहीं ॥
होगा न यही—वह बिगड़ेगा—खट्टा या कड़ुआ मन होगा ?
बन्दरिया एक रूठने से क्या सूना वृन्दावन होगा ?
तू बुरा मान या भला बहू, यह तो जगविदित कहानी है ।
फक्कड़ को अपने घर बुलवा अपनी ही नाक कटानी है ॥"

लगी मारने सास जब यों तानों की मार—
व्यथित बहू के नयन से बरस उठी जलधार ॥
दया ससुर को आगई, जब देखा यह हाल ।
कुंकुमपत्री भेज दी नरसी पर तत्काल ॥
साधु-मण्डली के सहित भजते श्रीहरिनाम ।
पहुँचे नरसी भक्त अब समधी जी के ग्राम ॥

❀ गाना ❀

यह जीवन है गाड़ी, साधो, यह जीवन है गाड़ी ।
मन हँकवैया हाँक रहा है—रहता सदा अगाड़ी ॥
हैं सङ्कल्प-विकल्प बैल दो, कर्म-धर्म दो पहिए ।
कन्धे पर पुरुषार्थ जुआ है, बढ़े चलो हो भइए—
किए जाउ पथ अपना पूरा; लखो न झाँकड़ झाड़ी ॥ १ ॥
दुनिया का मग ऊबड़ खाबड़, यात्रा लम्बी भाई ।
पग-पग पर हैं काँटे रोड़े, इधर उधर है खाई ।
बुद्धिरूप गुरुदेव कह रहे-ज्ञान न छोड़ अनाड़ी ॥ २ ॥

—:o:—

खेत लहलहाने लगे विटप उठे सब झूम ।
इस स्वर्गीय सँगीत से मची गाँव में धूम ॥
लोगों ने ताना वहीं-एक विशाल वितान ।
हरिभक्तों का बन गया वही निवासस्थान ॥
खुला भजन के साथ ही भोजन का भण्डार ।
भक्त और भगवान् की गूँज उठी जयकार ॥
पुत्री ने आकर तभी पितु को किया प्रणाम ।
कही सभी मार्मिक कथा आज हृदय को थाम ॥

फिर कहा-"आपको अष्ट प्रहर धुन श्रीहरिकीर्तन ही की है ।
हे पिता, भात का दिन कल है-कुछ बँदोबस्त उसका भी है ?
चौपाल, पड़ोस, समाज, गाँव सब जगह यही बस चर्चा है ।
क्या भात देयगे नरसी जी ? उन पर देने ही को क्या है ?
घरवालों द्वारा घर में जब-अपमान आपका होता है ।
इस जीवन को अभिशाप समझ तब आत्मा मेरा रोता है ॥
छलनी यह हृदय होगया है ताने सुनते सुनते अब तो ।
होठों पर प्राण आगया है माथा धुनते धुनते अब तो ॥
आप ही बतायें, बापू जी, यह अत्याचार सहूँ कैसे ?
दुर्वचन आपके प्रति सुनकर, बनकर पाषाण रहूँ कैसे ?
पितु पूज्य इधर, पतिदेव उधर, दोनों का मान बराबर है ।
मस्तक पर आप हृदय में वे, दोनों का ध्यान बराबर है ॥
यदि उनके सम्मुख मुँह खोलूँ-तो शील टोकता है मुझको ।
रोती हूँ इन श्रीचरणों में-तो ज्ञान रोकता है मुझको ॥
दो नावों के है बीच पाँव अब किसको अलग हटाऊँ मैं ?
ऐसे जीवन से यह अच्छा-आजाय मौत, मरजाऊँ मैं ॥

लज्जा के आँसू डुबा रहे, हे पिता, कहीं दो त्राण मुझे ।
घर में, समाज में मान न जब–तो नहीं चाहिये प्राण मुझे ॥"

ज्वालामुखी पहाड़-सा–फूटा उर इस काल ।
सरिता बनकर बह चली नयन-मार्ग से ज्वाल ॥
डोल उठी उसमें तुरत पितृ-धैर्य की नाव ।
लगा डूबने सोच में, अचल शान्ति का भाव ॥
आकुलजन ने उसी क्षण किया इष्ट का ध्यान ।
दृढ़ता के स्वर में तभी बोला भक्त सुजान—
"सब प्रबन्ध होजायगा, इतनी न हो अधीर ।
वही हरेंगे – हर समय हरी जिन्होंने पीर ॥

हरि इसीलिए कहलाते हरि, दुख दीनजनों का हरते हैं ।
है उनका नाम भक्तवत्सल, भक्तों की लज्जा रखते हैं ॥
चिन्ता से मुरझाए मन को हरिनाम हरा कर देता है ।
आशा की टूटी डालों को इच्छित-फल से भर देता है ॥
हरिनाम हीन गृह को हीरा मरु में मधुरस को धारा है ।
जीते के सब हैं, हारे का केवल हरिनाम सहारा है ॥

सुते, स्वयं को सौंप दे तू भी हरि के हाथ ।
कष्ट निवारेंगे सभी वे त्रिभुवन के नाथ ॥"
विकल सुता ने फिर कहा–"है अनहोनी बात !
आकर त्रिभुवननाथ क्या स्वयं भरेंगे भात ?"
"पुत्री, संशय त्याग दे"–जन बोला तत्काल ।
"क्यों न आयेंगे ? नाम जब उनका दीनदयाल ?

वे निर्बल जीवों के बल हैं, निर्धन के धन कहलाते हैं ।
क्यों नहीं हमें आनँद देंगे, जब आनँदघन कहलाते हैं ?

प्रत्येक माङ्गलिक अवसर पर, बस मङ्गलकरण वही तो हैं ।
हैं वही अनाथों के रक्षक, अशरण के शरण वही तो हैं ॥
आधार निराधारों के है, आश्रय हैं, आश्रय दीनों के ।
असहायों के सहाय-कर्ता, आशङ्काहर्ता दीनों के ॥
वे–जो तजकर राजसी भोग, जा शाक विदुर-घर खाते है ।
वे–जो शबरी के बेरों का रुचिपूर्वक भोग लगाते हैं ॥
जो अजामील से पापी का क्षण में भव-फन्द छुड़ाते हैं ।
जो गणिका, व्याध, गीध जैसे अधमों तक को अपनाते हैं ॥

जो अर्जुन के प्रेमवश बनते हैं रथवान् ।
नरसी का भी भरेंगे–भात वही भगवान् ॥"
यह कहते कहते हुए विह्वल वे तत्काल ।
शुरू हुआ कीर्तन भजन, खड़क उठी खड़ताल—

❀ गाना ❀

"नरसी रो रो तुम्हें पुकारे आकर भात भरो गोपाल ।
मेरे तो बस तुम्हीं सहारे, आकर भात भरो गोपाल ॥
चिन्ता न यह है-प्राण का बलिदान न होजाय ।
यह सोच है कि प्रेम का अपमान न होजाय ।
श्रद्धा की नगरिया कहीं सुनसान न होजाय ।
विश्वास का मन्दिर कहीं शमशान न होजाय ।
भिक्षुक खड़े तुम्हारे द्वारे, आकर भात भरो गोपाल ॥"

—०—

प्रिय पुत्री से फिर कहा–"कर निज घर प्रस्थान ।
ला लिखवाकर, भात का जो कुछ हो सामान ॥"
चलदी वह भी तुरत ही–धारण कर विश्वास ।
लिखवाने को कहा तो फिर झल्लाई सास ॥

"सन्ध्या-कालिक सूखा बादल, सावन कैसे बन जायेगा ?
जिसके न 'भात' तक थाली में-वह 'भात' कहाँ से लायेगा ?
करता है नाम डुबाने की-छोटे मुँह बड़ी बात नरसी ।
लिखकर क्या अपना सिर दूँ! जब भर सकता नहीं भात नरसी?"

बोल उठी फिर भी बहू-बड़ी शान्ति के साथ ।
"भात भरेंगे आनकर-उनके साँवलनाथ !"
"साँवल ?-पागल होगई, तू भी क्या इस काल ?"
कड़े शब्द में सास फिर बोल उठी तत्काल ॥
"अच्छा, लिखो मुनीम जी पर्चे पर सामान ।"
कड़की वह बरसात की काली घटा-समान ॥

जितने पदार्थ भी जग में थे बूढ़ी ने सभी बता डाले ।
गहने, कपड़े, जोड़े, घोड़े, जो आए याद लिखा डाले ॥
जब पर्चा खतम होगया तो-आखिर में लिखवाया ताना—
"यदि और वस्तु ला सको नहीं-तो दो पत्थर ही ले आना ॥"

भक्तराज ने पत्र पढ़ भक्ति-भाव के साथ—
हरि-चरणों में रखदिया-तुरत नवाकर माथ ॥
केदारे के स्वरों में फिर की एक पुकार ।
उस पुकार से भक्त की गूँज गया संसार ॥

सागर में उठती थीं लहरें-लहरों में कम्पन होता था ।
प्रतिकम्पन में केदारे का-करुणामय क्रन्दन होता था ॥
"नभ-पथ पर भी विहँग अब तो-केदारा राग सुनाते थे ।
झोंके समीर के भी अब तो-यह केदारा ही गाते थे ॥
वन-उपवन, सर, सरिता निर्झर, शैलों में छाया केदारा ।
मानो सम्पूर्ण प्रकृति ही ने-उस अवसर गाया केदारा ॥

❀ गाना ❀

भरने नरसी का भात—हे नँदलाल, आजा आजा ।
रखने निज जन की बात—ब्रजगोपाल आजा, आजा ॥
ब्रजबन में दावानल को तुम्हीं ने पिया था श्याम ।
काली का गर्व खर्व तुम्हीं ने किया था श्याम ॥
सुरराज के जब कोप से सब डूब रहे थे—
गिरिराज उठा नख पै तुम्हीं ने लिया था श्याम ॥
मुझपर भी दुख है आज—हे ब्रजराज आजा आजा ।
जाये न दास की लाज—हे यदुराज आजा, आजा ॥ १ ॥

करुणाध्वनि जब छागई, कण-कण में सर्वत्र ।
करुणानिधि के सामने पहुंचा कुंकुमपत्र ॥
आया सम्मुख दास का करुण चित्र साकार ।
विह्वल व्याकुल हो उठे—जिससे करुणागार ॥
उन अधरों पर रहनेवाली मुस्कान न जाने किधर गई ।
मुरली सम्मुख थी पर उसकी—मृदु तान न जाने किधर गई ॥
जन की पुकार ने—तन-मन की—सब सुध बुध बिसरादी पल में ।
उस जलधि समान शान्त-उर में बडवानल भड़कादी पल में ॥
दबी दबाये से—नहीं आकुलता उस काल ।
वैसे ही चलने लगे—होकर हरि बेहाल ॥
दौड़ी कमला—"आज क्यों शान्ताकर अशान्त ?"
"भीर पड़ी है भक्त पै" बोले कमलाकान्त ॥
"सुनो, सुनो, क्या कहरहा—नरसी बारम्बार—
गूँज रही सब ओर है—उसकी आर्त पुकार ॥"
"हे मराल के मानसर, अलि के नलिन ललाम ।
हे चकोर के चन्द्रमा, चातक के घनश्याम ।

महा-तिमिर के सूर्य हे, व्याकुल के विश्राम ।
हे नरसी के प्राणपति, जीवनधन, सुखधाम ।
आओ, आओ, दास पर विपति पड़ी है आज ।
कौरव-दल में जारही—फिर द्रौपदि की लाज ॥

❀ गाना ❀

भरने नरसी का भात—हे नँदलाल, आजा, आजा ।
रखने निज जन की बात—व्रजगोपाल, आजा ॥
क्या चाहते हो तुम यही—आँसू बहाऊँ मैं ?
सेवक हो-रमानाथ का कँगला कहाऊँ मैं ?
बोलो, बताओ साँवरे, क्या तुमको प्रिय यही—
अपमान की ज्वाला में तन अपना जलाऊँ मैं ॥
करने को मुझे सनाथ—हे व्रजनाथ, आजा, आजा ।
पुनि पुनि नाता हूँ, माथ—दीनानाथ, आजा, आजा ॥ २ ॥"

—:०:—

कुछ क्षण को रह मौन फिर—श्रीपति हुए अधीर ।
लगा वहाँ, निकला यहाँ—था ऐसा ही तीर ॥
बोले—"यह आर्तनाद—कमले, मुझसे तो नहीं सुना जाता ।
मैं अपना दुख सह लेता हूं- अपने का दुख न सहा जाता ॥
इस समय एक ही बात नहीं—उट्ठे दो दो तूफ़ान, प्रिये !
है एक उधर उर-अन्तर में—तो एक इधर गतिमान, प्रिये !
उस हृदय-सिन्धु पर—लगातार लहरें हैं उमड़ रही, देवी !
इस क्षीरसिन्धुवाले की भी—आँखें हैं उमड़ रही, देवी !
जाऊँगा जाना ही होगा—सन्तप्त-हृदय ने टेरा है ।
नरसी साँवल अब एक हुए, मैं उसका हूँ—वह मेरा है ॥"
चलने को सर्वेश जब इधर हुए तैयार ।
उधर प्राण के तार से निकली फिर झनकार—

गाना

"भरने नरसी का भात—हे नँदलाल, आजा, आजा ।
रखने निज जन की बात—व्रजगोपाल, आजा, आजा ॥
अपने को अपना दुख न सुनाऊँ तो क्या करूँ !
सङ्कट में भी तुम्हें न बुलाऊँ तो क्या करूँ !
सोए हो क्षीरसिन्धु में जब सुख की नींद तुम—
निज टेर से तुम्हें न जगाऊँ तो क्या करूँ !
करुणानिधि, करुणाधाम, हे अभिराम आजा, आजा ।
करने को पूरण काम, 'राधेश्याम' आजा, आजा ॥ ३ ॥

इधर सास ने बहू का फिर ठनकाया माथ—
"लेकर आए भात क्या उनके साँवलनाथ ?
जायें-चूल्हे भाड़ में ऐसे रिश्तेदार ।
सबकी पाग उतार लें-अपनी पाग उतार ॥"
भक्त-सुता आवेश में सोच उठी यह बात—
"इससे तो अच्छा यही-कर डालूँ अपघात ॥"
सम्मुख उसके खड़ी थी-पत्थर की दीवार ।
उससे ही सर फोड़ने-हुई बहू तैयार ॥
तभी वहाँ-गोलोक से-वाहन तलक बिसार ।
धाये विद्युत्-वेग से कमला के भर्तार ॥
पड़ा बहू के कान में यह सँदेश तत्काल ।
आता है इस गाँव में कोई बड़ा नृपाल ॥
गज, अश्वों, ऊँटों, बैलों की कोसों तक कई क़तारें हैं ।
सामानों से भरपूर भरे जिनमें सन्दूक़ पिटारें हैं ॥
पीछे से एक, दिव्य रथ में राजा रानी भी आते हैं ।
जिनकी शोभा को देख देख दर्शक बलिहारी जाते हैं ॥

कहा पड़ोसी-जनों ने अब--अचरज के साथ ।
"लेकर आये भात हैं-राजा साँवलनाथ ॥
है बरात से प्रथम ही यह सौगुनी बरात !
समा सकेगी गाँव में इतनी बड़ी जमात ?
घोड़े, बैलों तक को दाना-जब नहीं जुटा सकते हैं हम—
तो कोचवान, रथवानों को-किस भाँति खिला सकते हैं हम ?
ठहराने को-कोठे तो क्या पेड़ों की छाया तक कम हैं ।
भातई वास्तविक राजा हैं-भृत्यों से भी घटकर हम हैं ॥"

नाई ने आकर कही इतने में यह बात—
"हाँ-सँभालिये,लीजिये,-नरसी जी का भात ॥"
सामान उतरते ही-आँखें चौंधाईं रिश्तेदारों की ।
बस्ती में एक नई बस्ती दीखी उस समय पिटारों की ॥
चाँदी सोने के थालों में-भूषण थे मुक्ता-मणियों के ।
वे भी सब सुघड़ जड़ाऊ थे नीलम पन्ना पुखराजों के ॥
चूड़ा, चूड़ामणि, चन्द्रहार, पहुंची, पायल, नूपुर, झाँझन ।
कर्धनी, कड़ूले, कर्णफूल, कंठी, कंठा, कठला, कंगन ॥
झूमर,झुमके,जुगनू, जोशन,पहुँची, तोड़े अनवट, बिछिया ।
बेसर, अलेबड़ा, बाजूबँद, बाली, बुलाक, बुन्दे, बिंदिया ॥
छच्छे, छल्ले मुँदरी, नथनी, मणिमाला, गुलूबन्द, हसली ।
लौंगें, बिजायठे, पायजेब, पचलड़ी, सतलड़ी, चम्पकली ॥
चलरहा रिवाज, इसी कारण-थोड़े से नाम बताते हैं ।
अन्यथा, बात सच्ची यह है-लिखने में हम शर्माते हैं ॥

सूती, ऊनी, मखमली बढ़िया बढ़िया थान ।
शाल-दुशाले जरी के, रेशम के परिधान ॥

पगड़ी, पटके, जामे, साफ़े, लहँगे, चादर, साड़ी, चोली ।
मेंहदी, वेंदी, सिंदूर, सुर्मा, दर्पण, कंघी, रोली, मोली ॥
कस्तूरी, अगर, तगर, गुग्गुल, केशर, गुलाबजल, गोरोचन ।
कर्पूर, महावर, अगराग, पूगीफल, ताम्बूल, चन्दन ॥
गायें, गज, अश्व, उष्ट्र, बकड़े, धन-धान्य प्रपूरित शिविकायें ।
मिष्टान्न सलोने, मधुर सभी, सब ऋतु के फल सब मेवायें ॥
सारांश यही है प्रकृतिदेवि जितने पदार्थ दे सकती थी ।
नरसी का भात, भात वह था जिसमें वह सब सामग्री थी ॥
वह इन्द्रलोक का सा वैभव, उस पृथ्वी पर न समाता था ।
दिनकर की किरणों के समान विस्तृत हो फैला जाता था ॥
छाई वह चमक-दमक जिससे छिपगई गाँव की हरियाली ।
पग पग पर लगी नृत्य करने बस दीवाली ही दीवाली ॥

समधिन की पलकें झपीं—लगा ग्लानि का बाण ।
देखे उसने जिस समय सम्मुख—'दो पाषाण' ॥
इतने ही में सामने आये साँवलनाथ ।
समधी से कहने लगे सादर नाकर माथ—

"कुछ देर होगई; क्षमा करें, फिर भी सब चीजें लाया हूं ।
नरसी का मैं गुमाश्ता हूं द्वारकापुरी से आया हूं ॥
उनकी पेढ़ी है बड़ी वहाँ—जिसको मैं स्वयं देखता हूं ।
लेखा, जोखा, हिसाब उनका सब मैं ही रक्खा करता हूं ॥"

समधी कुछ कहने बढ़े किन्तु न खुली जुबान ।
इतने ही में होगई छवि वह अन्तर्ध्यान ॥

कह उठी सास की सखी एक "साँवल है सेठ द्वारका का ।
करता सहायता यही सदा—चेला है नरसी मेहता का ॥"

कह उठे ससुर जी—"सेठ सही फिर भी प्रेरणा किसी की है ।
मैं तो कहता हूं सब माया द्वारकानाथ जी ही की है ॥
घट घटवासी परमेश्वर ही घट-घट में भाव जगाता है ।
वैसा ही नाच नाचते सब, वह प्रभु जिस भाँति नचाता है ॥
अतएव आज से हम तुम सब अपना अभिमान छोड़ते हैं ।
उन प्रभु के प्यारे बनने को—नरसी के चेले बनते हैं ॥"

समधीगृह में जिस समय था इस भाँति विचार ।
भक्त-मण्डली में उधर गूँजा जय-जयकार ॥
लौटे ज्योंही कृपानिधि देकर जन का भात ।
उस अवसर पर होगई—एक अलौकिक बात ॥
प्रसरित था जिस दृष्टि का बड़ी देर से जाल ।
बच न सके; फँस ही गए उस में दीनदयाल ॥

पकड़ा नरसी भक्त ने पीताम्बर का छोर—
"अब न भागने पाउगे, पकड़ लिया, चितचोर ॥

गुरु शंकर ने—वृन्दाबन में जिस प्रभु का रास दिखाया है ।
जिन हरि ने हुण्डी चुकताकर—निज जन का मान बढ़ाया है ॥
है धन्य 'भात की' लीला यह—जिससे सब पूरा काम हुआ
छुपता फिरता था दिल में जो—सम्मुख वह 'राधेश्याम' हुआ ॥
होगया दूर विभ्रम का तम सत्सूरज का दर्शन पाकर ।
लोहा पारस को जान गया—उसका पावन दर्शन पाकर ॥
अब नाटक छोड़ो नटनागर, जब पर्दा उट्ठा सारा है ।
वास्तव में तुम सर्वेश्वर हो, साँवल का बाना धारा है ॥
अब तो नरसी है चरणों में, ठुकराओ चाहे प्यार करो ।
यदि अपना मुझे समझते हो तो कर पसार स्वीकार करो ॥'

इससे अधिक न सुन सके, और शब्द गोपाल ।
लगा लिया निज हृदय से नरसी को तत्काल ॥
दोनों आपस में हुए—ऐसे प्रेमासक्त ।
दोनों ही भगवान् थे दोनों ही थे भक्त ॥
'नरसी-साँवलनाथ का' यह सम्मिलन निहार ।
भक्तों में क्या; विश्व में गूँजा उठा जयकार ॥

※ गाना ※

"जय जय साँवल के नरसी जी जय नरसी के साँवलनाथ ।
भक्त और भगवान् एक हैं—रहते हैं दोनों ही साथ ।"
तुम भी 'ललित' बनाओ अब तो—अपने सांवरा गुरु को नाथ ।
'राधेश्याम' सदा ही सिर पर, रहे वरद श्रीहरि का हाथ ॥"

— ० —

जीवनभर प्रभु ही रहे—नरसी के आधार ।
मिला इसी से एक दिन उन्हें मोक्ष अधिकार ॥
श्रोतागण कलिकाल में हरि-कीर्तन ही सार ।
नाम प्रेम से जो जपे उसका बेड़ा पार ॥

※ गाना ※

"जय यदुनन्दन, जय नँद-नन्दन, जय सामलिया, जय घनश्याम ।
जय मनमोहन जय ब्रजमोहन जय सामलिया जय घनश्याम ॥
पुरुषोत्तम, पूरण पुरुष प्रभुवर, पूरणकाम ।
जय जनपति जय जगतपति, श्रीपति 'राधेश्याम' ॥
जय भय भञ्जन जय भव रञ्जन, जय सामलिया, जय घनश्याम ॥

— —

॥ इति ॥

लेखक—

प० रामनारायण पाठक।

प्रह्लाद-चरित्र

सम्पादक और प्रकाशक—

नेपाल गवर्नमेण्ट से "कथावाचस्पति" की पदवीप्राप्त—
कीर्तनकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—

प० राधेश्याम कथावाचक

अध्यक्ष—

सातवीं बार २०००] सन् १९५८ ई० [मूल्य ४४ नये पैसे

मुद्रक—प० रामनारायण पाठक, श्रीराधेश्याम प्रेस, बरेली।

निवेदन

"परम भक्त प्रह्लाद" नाम का नाटक पण्डित राधेश्याम जी ने लिखा है। किन्तु नाटक देखने की चीज़ है। अपने कुछ प्रेमी मित्र उस नाटक का कथा के रूप में भी आनन्द लेना चाहते थे। अतएव नाटक को कथा का रूप देने का साहस मैंने किया है। मैंने चेष्टा तो की है कि "कथा" नाटक की प्रतिध्वनि हो, पर सफलता कहाँ तक हुई है, यह पाठकों के ही निर्णय करने का विषय है। यदि "प्रह्लाद-चरित्र' को सुनकर पाठकगण "परम भक्त प्रह्लाद' नाटक के आनन्द का कुछ भी अनुभव करेंगे तो परिश्रम सफल है।

होली
सम्वत् १९८३ विक्रमी

निवेदक—
रामनारायण पाठक

❀ प्रह्लाद-चरित्र ❀

प्रार्थना

हृदय से मेरे भीरुता-भय मगादो, प्रभो, मेरे जीवन को जीवन बनादो।
निराशा-निशा ने किया है अँधेरा, दया करके आशा का दीपक दिखादो।
बहुत पीचुका वासना-विष की प्याली, बस, अब ज्ञान-अमृत का प्याला पिलादो।
कहाँ तुमको ढूँढूँ ? कहाँ तुमको पाऊँ ? बतादो बतादो बतादो बतादो।
न हूँ भक्त ध्रुव सा न प्रह्लाद सा हूँ, मुझे तो अजामिल के ढँग पर उठादो।
अगर कष्ट होते हैं-हों, ग़म नहीं कुछ, फ़क़त यह करो मेरी हिम्मत बढ़ादो।
तुम्हारा बनूँ तुमको अपना बनालूँ, बने जिस तरह ऐसा बालक बनादो।

—:o:—

गणपति गिरा गिरीश का लेकर नाम पवित्र।
रचता हूं आह्लाद से मैं प्रह्लाद-चरित्र॥
वर्तमान था भूमि पर जब सतयुग-साम्राज्य।
तब भारत में कुछ दिनों रहा आसुरी राज्य॥
असुरों का भूप हिरण्यकशिपु भारत का भाग्य-विधाता था।
मनमाना शासन करने में संकोच न वह कुछ लाता था॥
तप द्वारा ब्रह्मा से उसको वरदान मिला था मनचीता।
वह यह कि किसी योद्धा से वह रण बीच न जायेगा जीता॥

वह असुर-प्रकृति का तो था ही वर पाकर दूना बौराया ।
है मसल कि कड़वे नीव चढ़ा तब और करेला कड़वाया ॥
करता था वह नित्य ही नाना अत्याचार ।
पाती थी इससे प्रजा दुस्सह दुःख अपार ॥
आए दिन ऋषियों के आश्रम विध्वंस किया करता था वह ।
सब देते जिनको मान, उन्हें अपमान दिया करता था वह ॥
जिनको जग शीश झुकाता था, उनके वह शीश उड़ाता था ।
जिनके पद लोग पूजते थे, उनको पद से ठुकराता था ॥
सुख मिलता था उसको प्रतिदिन इन्द्रिय सुख के सामानों में ।
रहता था आठों प्रहर मग्न वह भोग-विलास-विधानों में ॥
मन्त्री उसके थे सभी स्वार्थी मतलबदार ।
करते थे जो और भी उसके भ्रष्ट विचार ॥
दर्बारी भी थे चाटुकार 'हाँ' में 'हाँ' सदा मिलाते थे ।
राजा यदि दिन को रात कहे, तो खुद भी रात बताते थे ॥
इन ठकुरसुहाती वालों ने इस हद तक उसको बहकाया ।
'मैं ईश्वर हूँ, जगदीश्वर हूँ'-खुद उसके मुँह से कहलाया ॥
आज्ञा निकली कि-चराचर की बस टेक हिरण्यकशिपु ही है ।
है अगर हिरण्यगर्भ कोई-तो एक हिरण्यकशिपु ही है ॥
इस आज्ञा से देश में क्रान्ति हुई एक बार ।
नारायण के नाम से नर का हुआ प्रचार ॥
धीरे-धीरे होगया सूर्य-ज्ञान का अस्त ।
रजनी ने आज्ञा की किया देश को ग्रस्त ॥
अज्ञान-निशा का अँधियारा जब व्याप्त होगया भारत में ।
तब धर्म सनातन का सुखकर शुभ चन्द्र खोगया भारत में ॥

साधुता मिटी, दुष्टता बढ़ी, सुविचार मिटे, कुविचार बढ़ा ।
चोरियाँ बढ़ीं, छल-छिद्र बढ़े, दुर्नीति बढ़ी व्यभिचार बढ़ा ॥
अब किसी जीव का भी जीवन मर्यादा का जीवन न रहा ।
बहु संख्यक नर पशु-तुल्य हुए, पशुपन व्यापा नरपन न रहा ॥
हिंसा-दूषण-मिथ्या-भाषण—परनिन्दा—निरत समाज हुआ ।
उठगया धर्म का सुखद राज, चहुँ था अधर्म का राज हुआ ॥

सतयुग में इस भाँति जब कलियुग हुआ प्रधान ।
नश्वर नर अभिमान से जब कि बना भगवान ॥
सुर-मण्डल में हो उठा, तब अति हाहाकार ।
सूक्ष्म शक्तियाँ धर्म की दहल उठीं एक बार ॥

स्रष्टा के सृष्टि-नियम में भी अन्धेर कहीं चल सकता है ?
परमेश्वर बनकर भला कोई परमेश्वर को छल सकता है ?
जो टेक धर्म की रखता है, उसको ही धर्म बचाता है ।
लेकिन, जो उसे मिटाता है, वह खुद मिटने लग जाता है ॥
जब चारों ओर अधर्म अधिक फैला असुरेश्वर के बल पर ।
तब उससे लड़ने को चेता—धरणीधर धर्म धरातल पर ॥
संग्राम अधर्म-धर्म का यह—आरम्भ हुआ जैसे रँग से ।
रहगया सभी संसार दंग, उस अघटित घटना के ढँग से ॥

यद्यपि लड़ा अधर्म से शुद्ध धर्म हो क्रुद्ध ।
लेकिन, वह जाहिर हुआ—पिता-पुत्र का युद्ध ॥

थे पुत्र हिरण्यकशिपु के एक प्रह्लाद नाम के शुभकारी ।
जो कोमल मति के बालक थे, निज मात पिता के प्रियकारी ॥
वे कभी पिता की आज्ञा के विपरीत न कुछ आचरते थे ।
जो पिता सिखाते समझाते, वैसा कहते और करते थे ॥

औरों की तरह आप भी वे कहते थे ईश्वर राजा को ।
सचमुच ही उनकी बाल बुद्धि समझी जगदीश्वर राजा को ॥
वे नित्य नियम से सुबह शाम विचरण को जाया करते थे ।
जा बजा प्रजा पुरवाओं में बातें कर आया करते थे ॥
इस तरह भ्रमण करते एक दिन पहुँचे वे एक जगह सत्वर ।
या उन्हें लिवा लेगया वहाँ उन सूक्ष्म शक्तियों का चक्कर ॥
वह जगह नगर से बाहर थी, साधारण सी दिखलाती थी ।
आबादी छोटे लोगों की प्रत्यक्ष समझ में आती थी ॥

चलते चलते चौंक कर ठिठके राजकुमार ।
सुना पास ही से कहीं आई आर्त पुकार ॥
उस पुकार के शब्द थे-मानो एक प्रवाह ।
जिसमें यों बह रही थी मनकी व्यथा अथाह ॥

—:o:—

* गाना *

भगवन, रक्षा करिये अनन की ।
तुम बिन को समर्थ जग-स्वामी पीर हरे जो मनकी । भगवन० ॥

स्वर लहरी की सीध पर आगे चल कुछ और ।
राजकुँवर द्रुत वेग से जा पहुंचे उस ठौर ॥
देखा कि आन पहुंचे हैं वे एक छोटे घर के आँगन में ।
फिर वह देखा जिसको कि देख बेहद विस्मय व्यापा मन में ॥
देखा कि कुम्हारों का घर है, आँगन में आवा जलता है ।
आवे के सम्मुख खड़ा हुआ, एक नारी-रूप मचलता है ॥

अर्थात् कुम्हारी खड़ी हुई–एकटक हो तकती जाती है ।
आपे की सुध बुध बिसरा कर आवे से कहती जाती है ॥

❋ गाना ❋

भगवन्, रक्षा करिये जनन की ।
दयानिधान, वृष्टि कर दीजै आशु दया के घन की ।
ललित लता जरि जाय न प्रभुवर, जीवन के उपवन की ॥ भगवन् ॥

अधिक नहीं, बस चाहिए-तनिक कृपा की कोर ।
नाथ, आपके हाथ है–अब जीवन की डोर ॥
आवे में बन्द होगए हैं धोखे से बिल्ली के बच्चे ।
भगवन्, यदि वे जीते निकलें, हैं तभी आप सचमुच सच्चे ॥
मैं तो भूली सो भूली पर, यदि आप भूलियेगा स्वामी !
तो आवा ठण्डा पड़ने पर यह हृदय जल उठेगा स्वामी !"
देखा यह व्यापार तब बोले राजकुमार ।
"अरी कुम्हारी, बन्द कर, अपनी टेर पुकार ॥
ईश्वर बैठे हैं महलों में, तू यहाँ उन्हें गुहराती है ।
इतनी दूरी से भला कहीं आवाज़ सुनी भी जाती है ॥
यदि उनसे कहना हो तो कह उनके न्यायालय में जाकर ।
प्रत्यक्ष निवेदन कर अपना सुख दुःख सुना और समझाकर ॥
लेकिन, जो अभी बक रही थी बातें बिल्ली के बच्चों की ।
वे अटर सटर बातें उनसे कहने मत जाना मूर्खों की ॥
इन प्रचुर प्रलापकलापों से कुछ काम नहीं सर सकता है ।
आवे की आगी के आगे ईश्वर न मदद कर सकता है ॥"

"कर सकता है वह मदद यदि कृपालु होजाय ।"
कहे कुम्हारी ने वचन दृढ़ता से शिर नाय ॥
माया की महिमा से मानों महिमामय की महिमा बोली ।
पार्थिव ईश्वर के प्रतिनिधि से परमेश्वर की प्रतिभा बोली ॥
बोली कि—"अगर ईश्वर चाहे तो सब संकट हर सकता है ।
ऐसे ऐसे वह कितने ही हर रोज कार्य कर सकता है ॥
वह कृपा करे तो गूंगों की जिह्वा कविता पढ़ सकती है ।
वह कृपा करे तो लँगड़ों की टोली गिरि पर चढ़ सकती है ॥
आवे की अग्नि में ताव कहाँ जो हानि किसी को पहुँचाये ।
सूरज ठण्डा पड़ सकता है; सङ्केत जो उसका हो जाये ॥
और यह तुमने क्या कहा कि वह है दूर यहाँ से महलों में ।
यह किसकी बात कह रहे हो ? वह यों रहता कब भवनों में ॥
वे भ्रम में हैं जो कहते हैं, वह यहाँ नहीं वह वहाँ नहीं ।
सच तो यह है सब जगह हैं वह, वह जगह कहाँ वह जहाँ नहीं ॥
तुम कौन कहाँ से आये हो ? किसलिए मुझे बहकाते हो ?
वह ईश्वर कभी नहीं होगा; तुम ईश्वर जिसे बताते हो ॥"
बुरे कुम्हारी के लगे यह कुमार को वैन ।
क्रोध भर गया चित्त में, लाल हो उठे नैन ॥
लेकिन, धीरज धर कर बोले "क्यों उल्टे पथ पर जाती है ?
पगली, तू पागलपन करके, शिर पर आपत्ति बुलाती है ॥
हम कहते हैं इस नगरी के राजा ही तो बस ईश्वर हैं ।
जगपति, जगनायक, जगन्नाथ, जगदुद्धारक, जगदीश्वर हैं ॥
तूने जिस अद्भुत ईश्वर का वर्णन कर हमें सुनाया है ।
वह ईश्वर हमें किसी ने भी अबतक न कहीं दिखलाया है ॥

अब वह उपाय कर जिसमें उस तेरे ईश्वर को मानें हम ।
आवे से बिल्ली के बच्चे ज़िन्दा निकलें तब जानें हम ॥
मैं प्रण करता हूँ यदि तेरा ईश्वर साबित होजायेगा—
तो यह शरीर भी आगे को उस ईश्वर का गुण गायेगा ॥
अन्यथा, देख प्रह्लाद हूं मैं—अपराध न तेरा बख़्शूँगा ।
ईश्वर तेरा साबित न हुआ तो खाल तेरी खिंचवालूँगा ॥

चकित कुम्हारी हो उठी सुना नाम प्रह्लाद ।
बोल उठी यों—लोचनों में भरकर आह्लाद ॥

"यह देह धन्य, यह जन्म धन्य, होगया पवित्र आज यह घर ।
हे राजकुमार, तुम्हारा मैं—स्वागत करती हूं आँखों पर ॥
मेरी उजड्डता पर अपने मन में कुछ रोष न ले आना ।
मेरे छोटे राजा मैंने—अबतक न तुम्हें था पहचाना ॥
स्वीकार तुम्हारी शर्त मुझे, यदि सिद्ध न हो मेरा ईश्वर—
तो जितना कठिन दण्ड होगा, सादर मैं सहलूँगी तन पर ॥
पर, ईश्वर मेरा सिद्ध हो तो, निज प्रण पूरा कर दिखलाना ।
उस ईश्वर को अपना लेना, उस ईश्वर के तुम हो जाना ॥
मैं आवा अभी खोलती हूँ, होता विवाद का निर्णय है ।
क्षण में मालूम हुआ जाता, दोनों में से किसकी जय है ॥"

चली कुम्हारी चाव से अब आवे की ओर ।
फिर सहसा रुककर लगी यों कहने कर जोर ॥

"हे मेरे ईश्वर, सुन लीं क्या, यह सारी बातें कानों से ?
तुम पर विश्वास जमा करके बाज़ी बदली है प्राणों से ॥
यदि मैं हारी तो मेरे—तो प्राणों ही पर बस आयेगी ।
पर, प्रभो, तुम्हारे भक्तों की टोली लज्जित हो जायेगी ॥

है आज तुम्हारे हाथ लाज, जैसे हो नाथ, बचा देना ।
जल चुके हों बिल्ली के बच्चे तो फिर एक बार जिला देना ॥"

उधर कृपालु दयालु के भनक पड़ी यह कान ।
इधर उतरने लग गया आवे का सामान ॥

"क्रम-क्रम से हाथ कुम्हारी के आवा उतारने लगे जभी ।
प्रह्लाद की उत्कंठित आँखें एकटक निहारने लगीं तभी ॥
उस समय बन्द होगई हवा, निस्तब्ध हुए सचराचर भी ।
मानो उस घटना का महत्त्व अंकित हो उठा प्रकृति पर भी ॥
अद्भुत थी दशा कुम्हारी की उन्माद सा चढ़ता आता था ।
आशा में और निराशा में-संघर्ष जो बढ़ता जाता था ॥
सहसा आवे में शब्द हुआ-और अङ्ग कुम्हारी का डोला ।
मालूम हुआ बस एक बार धीमे स्वर से कोई बोला ॥
कुछ देर बाद स्वर तेज हुआ, सारा आवा झनकार उठा ।
'म्याऊँ' 'म्याऊँ' की बोली से-वह घर-आँगन गुञ्जार उठा ॥
प्रह्लाद देखने चमत्कार—जब आगे के तट जा पहुँचे ।
तब उछल के बिल्ली के बच्चे भीतर से बाहर आपहुँचे ॥
कह उठी कुम्हारी गद्‌गद् हो-"निकले मेरे ईश्वर सच्चे ।
हे राजकुमार, देख लीजे, जी रहे हैं बिल्ली के बच्चे ॥"

विह्वल हो आनन्द से-उठी कुम्हारी नाच ।
सत्य होगया कथन यह, 'नहीं साँच को आँच ॥
दूर हुआ अज्ञान का जब सब भ्रान्ति-विकार ।
तब देखा प्रह्लाद ने—और नया व्यापार ॥

मालूम हुआ उस आवे पर गहरा कुहरा सा छाया है ।
और उस कुहरे में चतुर्भुजी एक रूप प्रकट हो आया है ॥

साँवली सलोनी छविवाला, वह रूप भुवन-मन-हारी है ।
शिर मुकुट, कर्ण कुण्डल, तन पर पीताम्बर की छवि न्यारी है ॥
शुचि शंख चक्र और गदा पद्म, चारों कर बीच विराजे हैं ।
उस रूप अनूप की उपमा में—उपमान जगत् के लाजे हैं ॥
देखा उस रूप ने हाथों में—कुछ कुसुम ग्रहण कर रक्खे हैं ।
फिर क्या देखा—वे कुसम नहीं, वे तो बिल्ली के बच्चे हैं ॥

निमिषमात्र के बाद वह चित्र हो उठा क्षीन ।
उसी रूप में दृष्टि ने—देखा दृश्य नवीन ॥

देखा—कि रूप वह क्रम क्रम से बढ़गया विशालाकार हुआ ।
पाताल से लेकर स्वर्ग तलक, उसका विराट् विस्तार हुआ ॥
उस भीमरूप की काया में—जड़ चेतन सभी समाये हैं ।
पशु पच्छि देव दिक्पाल दनुज, नर किन्नर सब सरसाये हैं ॥
वन-उपवन गिरि-गह्वर जल-थल, उस विकट रूप में राज रहे ।
पृथ्वी पावक-जल गगन पवन, उस रूप की छवि हो छाज रहे ॥

इन दृश्यों के साथ ही गूँजी गिरा अनूप ।
साफ़ सुना प्रह्लाद ने—कहता है वह रूप ॥

❀ गाना ❀

"मैं हूँ इस जग का सार ।
निराकार हूँ निर्विकार हूँ, हूँ मैं ही साकार ।
मैं व्यापक होरहा हूँ नित्य सर में और सागर में ।
पुआ है तार मेरे प्राण का ही सब चराचर में ॥
अँधेरा और उजाला मैं ही हूँ मिहि और निशाकर में ।
चमकता है मेरा ही तेज पावक और प्रभाकर में ॥

नचा सकते हैं मेरे भक्त ही मुझको इशारों पर ।
कि खिंच आता हूँ परवश प्रेम की पावन पुकारों पर ॥
सृष्टि रचाता हूँ, संकट मिटाता हूँ, पाप नसाता हूँ, प्रेम बढ़ाता हूँ ।
करता हूँ भक्तों का भव से उद्धार ॥"

मधुर तान के गान में-गाकर तत्त्वज्ञान ।
हुआ स्वरूप विराट् वह-तत्त्वण अन्तर्ध्यान ॥
रुकी वायु बहने लगी, सृष्टि हुई चैतन्य ।
विस्मित राजकुमार का हृदय कह उठा-'धन्य' ॥

बोले शिर नवा कुम्हारी को-"माता, असीम उपकार किया ।
एक बहके हुए बटोही का, मारग बताय उद्धार किया ॥
प्रह्लाद तुम्हारे इस ऋण का बदला इस भाँति चुकायेगा ।
यश को और नाम तुम्हारे को अवनी पर अमर बनायेगा ॥
और जिसको आज दिखाया है तुमने आवे के मन्दिर में ।
वह अबसे सदा विराजेगा-अपने आपे के मन्दिर में ॥
आशीर्वाद यह दो मैया, यह जीव उसी का बना रहे ।
घर-द्वार छुटे, संसार छुटे, पर, उससे नाता जुड़ा रहे ॥"

मुदित कुम्हारी रो उठी, रो उट्ठे प्रह्लाद ।
नयन-नीर-द्वारा हुआ—यह समाप्त सम्वाद ॥

इस घटना के उपरान्त हुआ-परिवर्तन बालक का जीवन ।
बालक का सा जीवन न रहा, बनगया वृद्ध का सा जीवन ॥
चंचलता के बदले व्यापी-चंचल स्वभाव में निश्चलता ।
मृदुता के साथ साथ झलकी आत्मा में निर्मल निर्मलता ॥
यतियों का सा आचरण हुआ, सांसारिक ढँग सब छूट गए ।
मन हुआ विरागी विषयों का, रागों के रँग सब छूट गए ॥

सब समय जगत् में रहकर भी वे नहीं जगत् से मिलते थे ।
जल पूर्ण जलाशय में, जल से हो पृथक् कमल से खिलते थे ॥
जहाँ तहाँ कहने लगे-आपुस में यों लोग ।
"राजकुँवर प्रह्लाद कुछ साध रहे हैं योग ॥"
राजा को भी होगयी खबर, सुनकर वह मन में चकराया ।
वृत्तान्त जानने को झटपट प्रह्लाद को उसने बुलवाया ॥
बुलवाकर पूछा-"क्यों बेटा, तुम कैसे होते जाते हो ।
मुद्दत हो जाती है फिर भी सूरत अपनी न दिखाते हो ॥
सुनने में आया है तुमने-ढँग बिल्कुल नया बनाया है ।
आमोद-प्रमोद से चित हटा एकान्त वास अपनाया है ॥
बतलाओ, कहो, बात क्या है, यह नया निराला रँग क्यों है ?
इस बाल्यावस्था में तुममें, वृद्धावस्था का ढँग क्यों है ?"
आवे वाले रूप का ध्यान हृदय में लाय ।
उत्तर में प्रह्लाद यों बोले शीस नवाय ॥
"हे पिता, आपकी बातों का उत्तर कुछ मेरे पास नहीं ।
क्या कहूं कि क्यों मुझ बच्चे में बच्चों का सा उल्लास नहीं ॥
ज्यों यन्त्र स्वतन्त्र नहीं चलता, संचालक उसे चलाता है ।
त्यों ही प्राणी को भी ईश्वर, पुतले की तरह नचाता है ॥
तो बस जब मैं एक पुतला हूं तब रही मेरी औक़ात कहाँ ?
मेरी मति-गति, मेरी धृति-कृति, है मेरे बस की बात कहाँ ?
क्या करना, और न करना क्या, मेरी न समझ में आता है ।
क्या जानें क्या करता हूं मैं, क्या जानें कौन कराता है ॥
लेकिन,इससे कुछ खेद नहीं, बिल्कुल ही विगत विषाद हूं मैं ।
पहले प्रह्लाद था कहने को, अब वास्तव में प्रह्लाद हूँ मैं ॥

तेज भरे-दृढ़ता भरे सुन बेटे के बैन ।
हुआ हठीला बाप वह, मन में कुछ बेचैन ॥
बोला "ईश्वर तो मैं ही हूं, सो मैं नित खाड़ खवाता हूं ।
मैं कब पुतले की तरह तुम्हें, बरजोरी नाच नचाता हूं ॥
मैं तो कहता हूँ मौज करो, निर्द्वन्द्व पियो, खाओ, बेटा ।
यह नहीं कि निरे बढ़े-बूढ़े, बचपन से बन जाओ, बेटा ॥
तुम मेरे जीवन के धन हो, जीवन के आशिर्वाद बनो ।
मेरे चित के आह्लाद बनो, मेरे मन के प्रह्लाद बनो ॥
बात यहीं पर काट कर, बोले राजकुमार ।
"ईश्वर होना आपका मुझे नहीं स्वीकार ॥
ईश्वर कैसा है और क्या है, सो देख चुकी हैं यह आँखें ।
उस ईश्वर पर सौ आँखों से-बलिहार हुई हैं यह आँखें ॥
सुन्दर शोभामय चित्र खींच प्रतिमा न दिखा सकती उसका ।
जिह्वा हजार जिह्वाओं से वर्णन न बता सकती उसका ॥
जड़-जङ्गममय जितना जग है, उस सब जग की है टेक वही ।
माया से एक अनेक है वह, फिर उन अनेक में एक वही ॥
अच्युत अनन्त भगवन्त है वह जगतीतल का जगदीश्वर है ।
बस, वही एक विश्वम्भर है, बस वही अकेला ईश्वर है ॥"
हो सकता था और भी यह सम्वाद विशाल ।
किन्तु, राजगुरु बीच में बोल उठे तत्काल ॥
"श्रीमान्, आप चिन्ता न करें, प्रह्लाद आपके बच्चे हैं ।
अच्छा भोंदा यह क्या समझें, यह अभी समझ के कच्चे हैं ॥
या तो देखा है स्वप्न कोई जिसने इनको चकराया है ।
या कहीं किसी पाखण्डी ने-इनको पाखण्ड पढ़ाया है ॥

बस, इतना आप करें इनको चटसाल में मेरी जाने दें।
मेरी शिक्षा और दीक्षा के पाने में चित्त लगाने दें॥
मैं इन्हें स्वधर्म सिखा करके मति इनकी सुमति बना दूँगा।
आदर्श आपका है जो कुछ, बस सब इनको समझा दूँगा॥
आशा है और विश्वास भी है, जब वह पढ़कर के आयेंगे।
तब इनमें विद्या-बुद्धि आप मुझसे भी बढ़कर पायेंगे॥"

शीघ्र राजगुरु के यहाँ जा पहुंचे प्रह्लाद।
अब सुनिये जो कुछ हुआ गुरु से वाद-विवाद॥

गुरु के घर के विद्यालय में-लड़के कुछ और भी आते थे।
जिनको कि काव्य-साहित्य आदि गुरु रुचि से नित्य पढ़ाते थे॥
इन विषयों ही के साथ साथ यह भी बतलाते थे गुरुवर।
महाराज हिरण्यकशिपु ही हैं-धरणी के सच्चे धरणीधर॥
यह घटना यह बतलाती है, शासन-सत्ता में क्या बल है।
इसका बल निर्बल को बल दे, बलवान् को करता निर्बल है॥
इतना ही नहीं, प्रकृति अपनी जिसको करते सकुचाती है।
शासन-सत्ता यदि चाहे तो, वह भी इमसे करवाती है॥
कुछ इसी तरह पर परवश हो गुरु अपना समय बिताते थे।
जिस रुख से बहती थी बयार, खुद भी उस रुख को जाते थे॥
राक्षस का अन्न ग्रहण करके आत्मा निस्तेज होगया था।
अनुचित को अनुचित कहने का साहस सर्वस्व खोगया था॥
आसुरी चक्र के अब वे भी एक पुर्जे समझे जाते थे।
चाहे जो करे हिरण्यकशिपु पर वे न बुरा बतलाते थे॥
सारांश यही है कहने का ब्राह्मण का पतन होगया था।
जिससे कि धर्म का सतयुग में ऊजड़ वह चमन होगया था॥

हाँ तो अब प्रह्लाद को चटशाला में जाय ।
बोले-उनसे प्रेम से-गुरु पुस्तक दिखलाय ॥
बेटा, देखो यह पुस्तक है, जो तुम्हें पढ़ाई जायेगी ।
यह तुम्हें भली विधि भाषा के पढ़ लेने योग्य बनायेगी ॥
देखो इसमें पहला अच्चर-छोटा 'अ' माना जाता है ।
और अच्चर उसके आगे का 'आ' दीर्घ बखाना जाता है ॥
इन युगल अच्चरों को चटपट कण्ठाग्र उपस्थित कर डालो ।
निज उर की पटली पर उनकी शक्लें भी अङ्कित कर डालो ॥
बोल उठे प्रह्लाद यों,-"अच्चर तो है एक ।
गुरुवर, दिखला रहे हैं-अच्चर यहाँ अनेक ॥
यद्यपि होजाता 'वही अच्चर' एक अनेक ।
लेकिन, अच्चर-नाम से-है प्रसिद्ध वह एक ॥
मैंने उस सुन्दर स्वच्छ शुभ्र अच्छे अच्चर को देखा है ।
झूठा अच्चर क्या देखूँ जब सच्चे अच्चर को देखा है ॥
वह अच्चर है कण्ठाग्र मुझे, दिल की पटली अङ्कित है ।
मन में जो मन है उस मन के मन्दिर के बीच प्रतिष्ठित है ॥
यदि मुझे पढ़ाना चाहें तो गुरुवर, पढ़ाइए उसको ही ।
यदि मुझे दिखाना चाहें तो गुरुवर, दिखाइए उसको ही ॥
यह तो सारे अच्चर चर हैं, बस, वह अच्चर ही अच्चर है ।
इस दुनिया का उस दुनिया का, दोनों दुनिया का ईश्वर है ॥"
गुरु बोले-"मुँह बन्द कर छोड़ वृथा बकवाद ।
वर्ना, कर दी जायगी-यह हस्ती बर्बाद ॥
जिस तेजस्वी से सब जग के तेजस्वी दबकर रहते हैं ।
ओ पागल लड़के, आँख खोल, ईश्वर उसको ही कहते हैं ॥

महाराज बड़े बिगड़े दिल हैं, बिगड़े तो खड्ग उठा लेंगे ।
यह ध्यान न करना बेटा हूँ, टुकड़े टुकड़े कर डालेंगे ॥

गुरुमुख से इस भाँति जब—बोला वचन अधर्म ।
तब मुख से प्रह्लाद के बोल उठा यों धर्म ॥

"आप जिसे कहते ईश्वर, उसको मैं मान नहीं सकता ।
पीतल का गहना सोने का कहकर पहचान नहीं सकता ।
यह सनक नहीं है साधारण—जो सहज उड़ंछू होजाये ।
गुरुदेव, दर्द सर यह वह है—जो सर ही जाये तो जाये ॥
महाराज की खड्गों से आप मुझे—किस लिए वृथा दहलाते हैं ?
जिनको लगती है भला कहीं वह इन लागों में आते हैं ?
जो पागल पूरे होते हैं, पागलपन ही में मरते हैं ।
मरने के डर से कहीं कभी पागल भी जी में डरते हैं ?

❀ गाना ❀

ग़म नहीं कुछ भी बला से जो बला आयेगी ।
राहे हक़ पे हूँ तो लग़ज़िश न ज़रा आयेगी ॥
मरना जीना तो है क़ुदरत का करिश्मा हर रोज़ ।
आज आई है फ़ना कल को बक़ा आयेगी ॥
मैं मिटूँगा नहीं मिट जायगा ख़ाकी पुतला ।
क्या करेगी मेरा मुझ तक जो क़ज़ा आयेगी ।
कर दिये जाँय जो इस जिस्म के टुकड़े टुकड़े ।
फिर भी हर टुकड़े से बस यह ही सदा आयेगी ॥"

सुनकर यह प्रह्लाद का साहस-पूर्ण जवाब ।
बेताबी से राजगुरु हो उट्ठे बेताब ॥

बोले—"क़िस्मत का टेढ़ापन टेढ़ी बातें कहलाता है ।
जिसके शिर मौत खेलती है वह योंही बाद बढ़ाता है ॥
मालूम होगया मूर्ख तुझे बातों से होश न आयेगा ।
जल्लाद की शक्ल देखते ही सब नशा हिरन हो जायेगा ॥

इतना कहकर राजगुरु चले गये झल्लाय ।
पहुंचे राजा के निकट दी सब बात सुनाय ॥
राजा ने सुनकर किया-मन में क्रोध अपार ।
आज्ञा दी-"प्रह्लाद को देदो कारागार ॥"

यह अहङ्कार वह है विकार, बढ़िया इसकी जब आती है ।
तब पुत्र कलत्र मित्रगण की ममता मन से बह जाती है ॥
इस अहङ्कार ही के कारण यह दारुण अत्याचार हुआ ।
जो बाप के द्वारा नन्हे से-बेटे को कारागार हुआ ॥
लेकिन, बेटे की आत्मा में-अब भी आया कुछ खेद नहीं ।
कारालय और सुखालय में-माना उसने कुछ भेद नहीं ॥
जो साधु प्रकृति के होते हैं, उनका जी व्यथित नहीं होता ।
दुख पर दुख टूटें, पर उनका उर अन्तर दुखित नहीं होता ॥
ऐसी आत्माओं-द्वारा ही आदर्श दिखाया जाता है ।
जग के जीवों को जीवन का उद्देश बताया जाता है ॥
प्रह्लाद को कारावास न था, यह सन्त-पन्थ की दीक्षा थी ।
या प्रेम-पन्थ के पन्थी की पहली ही प्रेम-परीक्षा थी ॥
बालक के बन्दी होने से सब जगत जब कि तिलमिला उठा ।
तब बालक बन्दीघर में भी सीधे स्वभाव खिलखिला उठा ॥

जग का संकट जीवों को दुख, सन्तों को सुख पहुंचाता है ।
जिस झोंके से गुल हो चिराग, उससे ही गुल खिल जाता है ॥

बन्दी करके ही नहीं मिली पिता को शान्ति ।
अब भी उसके चित्त को होतीं नाना भ्रान्ति ॥
आखिर यह निर्णय किया—उसने क्रूर उपाय ।
विष-द्वारा प्रह्लाद का प्राण लेलिया जाय ॥

एक दिन कारागृह में बैठे प्रह्लाद हृदय हुलसाते थे ।
आने वाली छवि आंखों में लाकर पुलकाते जाते थे ॥
ऐसे ही समय एक सेवक आया नीचा शिर किए हुए ।
दोनों हाथों में सोने का स्वच्छ कटोरा लिए हुए ॥
आकर बोला—"लीजिए कुंवर, पीजिए दास ले आया है ।
यह दूध आपकी माता ने आप के लिए भिजवाया है ॥"
प्रह्लाद चकित हो बोल उठे—"ऐं ! भेजा है क्या जननी ने ?
यह दूध सुधा संजीवन-सा उन माता मंगलकरनी ने ?
लाओ यदि माता ही ने यह मेरे निमित्त भिजवाया है ।
सेवक ! इससे बढ़कर क्या है, मैया ने दूध पठाया है ॥"

जहर मिला वह दूध था जो सेवक के हाथ ।
पहुंचा यों प्रह्लाद पर कपट नीति के साथ ॥

सेवक से दूध कटोरा ले प्रह्लाद मुग्ध होजाते हैं ।
माता की ममतामयी मूर्ति अपनी स्मृति में ले आते हैं ॥
कहते हैं—"विधि की रचना में सार्थक कुछ है तो माता है ।
कितना निर्मल कितना उज्ज्वल जग में माता का नाता है ॥
अन्यान्य सकल सम्बन्ध यहाँ—मतलब से होते जाते हैं ।
पर, माता के निस्स्वार्थ प्राण—बेमतलब भी अकुलाते हैं ॥

बलिहार मातृ के नाते पर जगती का नाता सारा है ।
इस जीवन के मरु जंगल में माता गंगा की धारा है ॥"
यह कहकर दूध कटोरे का प्रह्लाद पी गए सुख पाकर ।
वह सेवक चला गया वापिस अपनी सेवा को पूरा कर ॥
प्रह्लाद को अब कुछ नशा हुआ सर घूमा और चक्कर आया ।
बेहोश हुए तब दृश्य एक सपने की भाँति नज़र आया ॥
देखा कि हुआ कारागृह के कमरे में उज्ज्वल उजियाला ।
उस उजियाले में प्रकटा है-फिर रूप वही आनेवाला ॥
वह ही आभा वह ही शोभा, वह ही आकृति वह आनन है ।
वह ही चितवन मनहरन फबन, वह ही मनमोहन दर्शन है ॥
शिर पर है सुन्दर मुकुट वही, वे ही कुण्डल हैं कानों में ।
हाँ, अबकी बार सुशोभित है-एक सुघर पात्र दो हाथों में ॥
फिर देखा—रूप ने मुसका कर हाथों को ज़रा बढ़ाया है ।
प्रह्लाद के ओठों तक अपना वह सुघर पात्र पहुँचाया है ॥

था पदार्थ जो पात्र में-उसको प्रेम समेत ।
पिया मुदित प्रह्लाद ने-पा करके संकेत ॥

शीतल निर्मल वह प्रिय पदार्थ सुखकर भी था स्वादिष्ट भी था ।
वह सुधासलिल सा नहीं, किन्तु सचमुच में सुधासलिलही था ॥
बस, उस पदार्थ के पीते ही प्रह्लाद जागकर उठ बैठे ।
ज्यों घोर नींद में से सोता- कोई नींद त्यागकर उठ बैठे ॥
अब न तो नशा था आंखों में जी भी न तनिक घबराता था ।
मन नई उमंग तरंगों के आन्दोलन में उमँगाता था ॥
कारागृह के दर्वाजे पर जो दूत खड़ा था छिपा हुआ ।
वह पहुँच नरेश्वर के समीप बोला विस्मय में भरा हुआ ॥

"महाराज, बात है अचरज की, पानी फिर गया इरादे पर ।
प्रह्लाद अमर होगए और उस विष के प्याले को पीकर ॥
मैं अभी देखकर आया हूं, वे हृष्ट पुष्ट दिखलाते हैं ।
पहले से भी ज्यादा मुझको अब सुखी समझ में आते हैं ॥

सुनकर इस सम्वाद को हुआ असुर हैरान ।
लेकिन, तत्क्षण ही किया-उसने अन्य विधान ॥
कहा कि "करना चाहिये अब यह सुगम उपाय ।
सर्प एक प्रह्लाद के तन पर छोड़ा जाय ॥"

बस, फिर क्या था इस आज्ञा से-पशुता ने प्रभुता दिखलाई ।
अब मौत साँप की सूरत में बालक के प्राणों पर धाई ॥
लेकिन, बालक की आँखों में-अब नूतन दृष्टि होगयी थी ।
जब से वह नूतन दृष्टि हुई-सब नूतन सृष्टि होगयी थी ॥
ईश्वर का रूप समझ उसको बालक बोला-"बलिहारी है ।
भगवान्, आपकी उस छवि से-यह छवि बिल्कुल ही न्यारी है ॥
लेकिन, मुझको तो प्यारा है-बस, रूप वही आनेवाला ।
इसलिए दिखाकर वही रूप-कर दीजे उर में उजियाला ॥

भक्ति भरे प्रह्लाद के सुन यह वचन अनूप ।
हुआ सर्प वह सर्प से-आवेवाला रूप ॥
इधर किया प्रह्लाद ने-उस छवि को प्रणिपात ।
उधर निशाचरराज को विदित होगयी बात ॥

सेवक ने जो सम्वाद दिया-"महाराज, अतीव अनर्थ हुआ ।
प्रह्लाद पै सर्प छोड़ने का उद्यम भी सारा व्यर्थ हुआ ॥
मैं छिपकर देख रहा था सब, पर, कुछ न समझ में आता था ।
मुझको तो वह सारा कौतुक एक इन्द्रजाल दिखलाता था ॥

मैंने देखा—वह सर्प देख प्रह्लाद वचन कुछ बोल उठे।
वे वचन नहीं बोले मानो जादू का पर्दा खोल उठे॥
यह असर हुआ उन वचनों का—गायब होगया सर्प काला।
बदले में उसके प्रकट हुआ—एक प्राणी चार भुजावाला॥
इस अद्भुत घटना से मेरी अब तलक धड़कती छाती है।
निश्चय कोई एक गुप्त शक्ति प्रह्लाद के प्राण बचाती है॥"

पहले तो इस बात से असुर गया घबराय।
वीर-हृदय पहली दफ़ा—काँप उठा भय पाय॥
फिर मन को मजबूत कर बोला निश्चय ठान।
"योद्धा यों रखते नहीं डरकर तीर कमान॥

क्या ताक़त है उस बालक की, जो रहे विरुद्ध मेरे चलकर।
देखूँ वह ज़िन्दा रहता है कबतक किस शक्ति के बल पर॥
मैं अब एक ऊँचे पर्वत से—नीचे उसको फिकवाता हूं।
उसकी हड्डियों तलक का बस, चूरा-चूरा करवाता हूं॥"

गूँज उठा सर्वत्र ही यह दारुण सम्वाद।
नीचे फेंके जायेंगे—पर्वत से प्रह्लाद॥

राजाज्ञा से कुछ राजदूत प्रह्लाद को पहरे में लेकर।
जा पहुंचे निर्जन विपिन बीच एक ऊँचे पर्वत के ऊपर॥
त्रिभुवन में हाहाकार हुआ—दिक्पालों के जी दहल उठे।
बालक पर अत्याचार देख पत्थर के दिल भी पिघल उठे॥
जितना कि अधर्म अधिकता से-यों दुष्टाचार दिखाता था।
उतना ही धर्म प्रबल होकर बालक को सुदृढ़ बनाता था॥
प्रह्लाद जब कि निर्भय चित से—पर्वत पर परवश खड़े हुए।
तब राजभृत्य एक बोल उठा—यों वचन दर्द से भरे हुए॥

"हे राजकुमार, व्यर्थ ही में—यह घोर अनर्थ हो रहा है ।
प्रत्येक हृदय रखनेवाले—प्राणी का हृदय रो रहा है ॥
रह जाय टेक राजा ही की, यदि आप ज़रा नम्र आजायें ।
क्या हर्ज है आप जो छोटे हैं तो सचमुच छोटे कहलायें ?
जो पिता आपके बात कहें बेटे की तरह मान लीजे ।
औरों की तरह आप भी खुद—अब उनको ईश्वर कह दीजे॥"

शान्तियुक्त प्रह्लाद यों—बोले वचन प्रवीन ।
"दयापरायण भृत्य, तुम—मन मत करो मलीन ॥

मैं छोटा हूँ, महाराज बड़े, इसका कुछ भी न विचार यहाँ ॥
है प्रश्न असत्य सत्य का यह, उसकी ही है तकरार यहाँ ॥
अपने को केवल यह ज़िद है—सच ही जग में सच कहलाये ।
यह नहीं कि दिन की हो रजनी, और रजनी का दिन होजाये ॥
हैं पिता बड़े और मैं छोटा, छोटा ही सदा कहाऊँगा ।
लेकिन असत्य को सत्य समझ सर अपना नहीं झुकाऊँगा ॥
यदि इससे दुख होता है—हो, संकट आता है आजाये ।
दुख या संकट में शक्ति नहीं जो प्रण से मुझे डिगाजाये ॥
सुख-दुख और आनन्द शोक—काया के धर्म कहाते हैं ।
वास्तव में यह सब मिथ्या हैं—भ्रम से अनुभव में आते हैं ॥
जो सुख दुख में रहकर समान—आत्मा को उच्च बनाता है ।
उसको इस झूठी दुनिया का उत्पात न कभी सताता है ॥
तुम अपना चित्त शान्त रखना प्रह्लाद पै आँच न आयेगी ।
ज़्यादा से ज़्यादा यह होगा यह देह नष्ट होजायेगी ॥"

मन ही मन में भृत्य वह बोला हो हैरान ।
"इस थोड़ी सी उम्र में ऐसा अद्भुत ज्ञान ॥"

इसी समय कुछ और भी मन्त्री पहुँचे आय ।
उनकी आज्ञा से लगा-चलने क्रूर उपाय ॥
पर्वत के ऊपर एक जगह एक ओर तो खूब ऊँचाई थी ।
दूसरी ओर कोसों गहरी एक घाटी की गहराई थी ॥
दूतों को जभी मंत्रियों ने-आँखों-द्वारा संकेत किया ।
बस, तभी उन्होंने घाटी में-प्रह्लाद को चटपट फेंक दिया ॥
चीत्कार हवा में गूँज उठा, हा हा हो उट्ठी घाटी में ।
मानो दृढ़ हाथों का मुक्का एक लगा प्रकृति की छाती में ॥
अत्याचारी तो यह समझे बीती प्रह्लाद के प्राणों पर ।
लेकिन, प्रह्लाद को ज्ञात हुआ-लेलिया किसी ने हाथों पर ॥
वे हाथ बड़े ही सुन्दर हैं, छवि उनकी अतुलित उज्जवल है ।
कोमल होने पर भी उनमें-अद्भुत दृढ़ता अद्भुत बल है ॥
वे सहज सावधानी समेत सुखपूर्वक सधे आरहे हैं ।
प्रह्लाद की रक्षा किए हुए-पृथ्वी पर लिए आरहे हैं ॥
प्रह्लाद ने सोचा-देखें तो आश्रय किसने दे रक्खा है ।
देखा तो आनेवाले ने—निज हाथों पर ले रक्खा है ॥

धीरे धीरे आगये—पृथ्वी पर प्रह्लाद ।
बाल न बाँका कर सकी-उनका वह बेदाद ॥

राजा को जब यह खबर मिली प्रह्लाद न अब भी नष्ट हुआ ।
तब कुछ न पूछिए किस दर्जे-प्राणों को उसके कष्ट हुआ ॥
खिजलाहट से बड़बड़ा उठा—औरों पर बात न टालूंगा ।
अब अपने हाथों ही से मैं इस बालक का शिर काटूंगा ॥"

करने को निश्चय उठा-इस विचार की पूर्ति ।
इतने ही में सामने-आ पहुँची एक मूर्ति ॥

निश्चर उसको आश्चर्य-सहित—एकटक निहारने लगा जभी ।
वह मूर्ति और आगे आकर—धीरे से कहने लगी तभी ॥
"उर-अन्तर के दुस्सह दुख से—जब दुखित होरहा भाई है ।
तब उसके सारे कष्टों को भगिनी निबेड़ने आई है ॥
यदि नाम मेरा ढुण्ढा है तो निश्चय सब ताप मिटादूँगी ।
उस छेटे बेटे को जिन्दा—ज्वाला के बीच जलादूँगी ॥"

भगिनी की यह बात सुन निश्चर उट्ठा फूल ।
सारी चिन्ता चित्त की गया हृदय से भूल ॥

बोला—"उपाय तो चोखा है, ढुण्ढा, अच्छी सूझी तुझको ।
मैं सदा तेरा गुण गाऊँगा, यदि सुखी करेगी तू मुझको ॥
वरदान भी तूने पाया है, ज्वाला तुझको न जलायेगी ।
प्रह्लाद को लेजा अग्नि बीच, काया उसकी जल जायेगी ॥"

इस निश्चय पर एक जगह—चिता हुई तैयार ।
जग में फिर चलने लगा—पैशाचिक व्यापार ॥
हाथ पकड़ प्रह्लाद का त्याग मोह का लेश ।
ढुण्ढा ने उस चिता में—सत्वर किया प्रवेश ॥

ज्यों ही अनर्थ के हाथ से—वह चिता समूची दहक उठी ।
त्यों ही बस धर्म-शक्ति के भी उर में एक ज्वाला भभक उठी ॥
प्रत्यक्ष जगत् में जब इस विधि वह कोमल अंग जल रहा था ॥
तब सूक्ष्म जगत् में सच्चे की रक्षा का यत्न चल रहा था ॥
प्रह्लाद ने देखा ज्वाला की वह लपट गगन तक जाती है ।
लेकिन,उसका तन रक्षित है, उस पर कुछ आँच न आती है ॥

बालक को विस्मय हुआ यह आश्चर्य निहार ।
तभी याद चट आगया—आवे का व्यापार ॥

सोचा उसने कि–"बचाया था–जिसने बिल्ली के बच्चों को ।
बस, वही नहीं आने देता तन तक ज्वाला की लपटों को ॥"
यह बात सोचने ही के सँग हो उठा चित्र में परिवर्तन ।
लपटों में चट होगया प्रकट श्यानेवाली छवि का दर्शन ॥
प्रह्लाद ने देखा उस छवि ने–हाथों को अपने बढ़ा दिया ।
दुण्ढा की गोदी से उनको–अपनी गोदी में उठा लिया ॥
प्रह्लाद हटे ज्यों गोदी से–त्यों ही दुण्ढा वह विचल उठी ।
ज्वाला की लपट-लपेटों से काया चट उसकी पजल उठी
सच तो यह है जो शक्ति पाय पापों में उसे लगाता है ।
तो वह उन पापों के फल से–आप ही नष्ट होजाता है ॥

चिता शान्त जब होगयी–तब धाये नर नार ।
दृश्य विचित्र विलोक के–विस्मित हुए अपार ॥
देखा दुण्ढा तो हुई–जल फुक कर बर्बाद ।
लेकिन, जीते–जागते–शोभित हैं प्रह्लाद ॥

प्रह्लाद के प्रमी मित्रों ने यह दृश्य देख कर सुख पाया ।
सबने गद्‌गद् होकर उनको छाती से अपनी लिपटाया ॥
अबतक यह घटना ज्यों की त्यों सर्वत्र देश में चलती है ।
दुण्ढा के जलने के ढँग पर भारत में होली जलती है ॥
प्रह्लाद के मित्र मिले थे सब प्रह्लाद से जैसे खुल खुल कर ।
वह प्रथा निभाती है जनता अब भी आपुस में मिलजुलकर ॥
बस, दुःख हृदय में इतना है, कुछ लोग भूल कर जाते हैं ।
वस्तुएं नशे की खा पीकर–बकते–उत्पात मचाते हैं ॥
हा ! इस नादानी के कारण–उल्टा परिणाम होरहा है ।
सारी दुनिया की आँखों में भारत बदनाम होरहा है ॥

चेतो हे भारत सन्तानों, तुम क्या थे सबको समझादो ।
जग को अपने त्यहारों का असली स्वरूप फिर दिखलादो ॥
और ख़ास तौर पर यत्न करो–यह होली उज्ज्वल होजाए ।
निर्मल है ज्यों प्रह्लाद चरित त्यों यह भी निर्मल दिखलाए ॥

इस घटना का भूप को पहुंचा जब सम्वाद ।
तब फिर उसके हृदय में उमड़ा घोर विषाद ॥
भूत क्रोध का फिर वही–सर पर हुआ सवार ।
बोला निज मन्त्रियों से–वाणी यों ललकार ॥

"जाओ, ले आओ इसी जगह, पल में परलोक पठाऊँगा ।
उस कुटिल कुचाली बालक को अब ज्यादा नहीं खिलाऊँगा ॥
मैं स्वयं करूँगा वध उसका, यद्यपि यह कार्य न सुख का है ।
अपने ही हाथों से–अपने बेटे का मरना लिक्खा है ॥"

आज्ञा सुन, प्रह्लाद को लेने चले वज़ीर ।
तभी निशाचर के उठी–मन में थोड़ी पीर ॥

कैसे भी पोढ़े जी का हो, मुश्किल से दृढ़ रह पाता है ।
बेटे पर शस्त्र उठाने में–ज़ालिम दिल भी हिल जाता है ॥
प्रह्लाद पै खड्ग चलाने का अवसर जब निश्चय नियराया ।
तब निश्चर के नयनों में भी ममता का नीर झलक आया ॥

किन्तु आसुरी शक्ति ने–किया तुरत अधिकार ।
इतने में मन्त्री सहित आये राजकुमार ॥
सम्मुख पाकर पुत्र को ममता हृदय दबाय ।
कर्कश स्वर में असुर वह बोला बैन सुनाय ॥

'प्रह्लाद, यहाँ मैंने तुझको यह कहने को बुलवाया है ।
अब मेरे मन के धीरज का प्याला बिल्कुल भर आया है ॥

मैं ईश्वर हूँ, सब जग मुझको ईश्वर कह शीस झुकाता है ।
लेकिन, तू किसी और को ही हठवश ईश्वर बतलाता है ॥
नादान,छोड़ दे इस हठ को, अब अन्तिमबार चिताता हूं ।
मेरा तेरा जो नाता है, उस नाते से समझाता हूँ ॥
अन्यथा, देख पछताएगा, जब आँधी एक उठ आयेगी ।
तब उस आँधी में तिनके सी-हस्ती तेरी उड़ जायेगी ॥"

रख कर अपने ध्यान में-पितु-पद की मर्याद ।
सहज शीलसाने वचन-यों बोल प्रह्लाद ॥

"हे पिता । पिता के नाते को मैं सादर शीस झुकाता हूँ ।
फिर सत्य बात एक कहता हूँ, अभिमान नहीं दिखलाता हूं ॥
ईश्वर वह है जिसका यह सब ब्रह्माण्ड विश्व चाकर सा है ।
हम हैं सब जल के विन्दु सरिस, वह एक महासागर सा है ॥
उसकी आत्मा का अंशमात्र-जग-जीवन में जीवात्मा है ।
हम सब उसकी आत्माएं हैं, वह हम सबका परमात्मा है ॥
वह वह है जिसने बिना कहे निज जनपर प्रेम दिखाया था ।
विष मिला दूध पीलेने पर अमृत रस पिला जिलाया था ॥
फिर भीम भुजंगम के तन में झांकी जिसने दिखलायी थी ।
और गिरि से फेंके जाने पर यह काया अधर उठायी थी ॥
आखिरी बार आकर जिसने अद्भुत कौशल दिखलाया था ।
चेतन्य-चिता की ज्वाला में-जीवन बेलाग बचाया था ॥
वह ही ईश्वर है, उसको ही मैं मनोयोग से ध्याऊँगा ।
यह शीस पिता के चरणों में-ईश्वर कहकर न झुकाऊँगा ॥"

सुनकर यों प्रह्लाद के दृढ़ निश्चय की बात ।
क्रोधानल से असुर का पजल उठा सब गात ॥

बोला-सेवक-वृन्द से—रस्सी एक मँगाय।
"खम्भे से प्रह्लाद को कसकर बाँधो जाय॥"
फिर खड्ग तोलकर हाथों में, भीषण निनाद से गर्जन कर।
धाया प्रह्लाद पे आँधी सा—उस सकल भवन में कम्पन कर॥
बोला—"तू नहीं बोलता है, यह मृत्यु तेरी बुलवाती है।
ओ कुल-कलङ्क,होजा तयार,अब खड्ग शीश पर आती है॥
बतला मुझको मैं भी समझूँ, तू ईश्वर किसको कहता है?
वह कब किस कुल में जन्मा है, और किस नगरी में रहता है?
यदि उसने तुझे बचाया है तो अब क्यों देर लगाता है?
इस समय बचाने को तेरे क्यों नहीं झपट कर आता है?"
बँधा हुआ था खम्भ से यद्यपि कोमल अंग।
फिर भी कुछ प्रह्लाद का साहस हुआ न भंग॥
कहे पिता ने जिस समय वचन घोर रिसियाय।
सहज भाव के साथ वे पड़े जरा मुसकाय॥
मुसका कर बोले—"ईश्वर के आने का कोई अर्थ नहीं।
साधारण जीवों के समान, वह आता जाता कहीं नहीं॥
चिल्ला कर उसे बुलाऊँ मैं, यह मुझे पसन्द न आयेगा।
आवश्यक यदि वह समझेगा तो स्वयं प्रकट होजायेगा॥
यह काया उसकी है—इसके बंधने से मुझे नहीं दुख है।
यदि दुख है तो उसको दुख है, यदि सुख है तो उसको सुख है॥

* गाना *

वही इस जग का पिता है तुम्हें मालूम नहीं।
सब जगह उसका पता है तुम्हें मालूम नहीं॥
चन्द्र में तारों में पावक में प्रभाकर में सदा।
पूर्ण उसकी ही प्रभा है तुम्हें मालूम नहीं॥

ढूंढती आंख तुम्हारी है निरन्तर जिसको ।
मेरी आंखों में रमा है तुम्हें मालूम नहीं ॥
मन के आकाश में छाई है घटा माया की ।
चांद बदली में छुपा है तुम्हें मालूम नहीं ।
जिसके होने का है विश्वास न अबतक जी को ।
यह ही तो बोल रहा है तुम्हें मालूम नहीं ॥
खड्ग जो हाथ में है उसमें पिता जी वह है ।
खम्भ में वह ही बसा है तुम्हें मालूम नहीं ॥"

नाम खड्ग और खम्भ का सुनते ही यक बार ।
किया असुर ने खम्भ पर भीषण खड्ग प्रहार ॥
झन्नाटे का एक शब्द हुआ, वह खड्ग हाथ से छूट गई ।
पृथ्वी पर गिर कर उसी समय दो टुकड़े होकर टूट गई ॥
फिर एक भयङ्कर ध्वनि गूंजी ज्यों अगणित घन घहराये हों ।
या जैसे भूतल के पर्वत सब आपुस में टकराये हों ॥
जड़ चेतन जगती डोल उठी भय से भूमण्डल हिल उट्ठा ।
यक घोर कठोर धड़ाके से-वह खम्भ बीच से खिल उट्ठा ॥
प्रकट हुआ उस खम्भ में-अद्भुत और अनूप ।
कुछ नर सा कुछ सिंह सा यक नरसिंह स्वरूप ॥
था तीव्र तेज का वह स्वरूप-ज्यों कोटि सूर्य तन धारे हों ।
तीखी दाढ़ें, पैने पञ्जे, लोचन मानों अंगारे हों ॥
उस उग्र रूप ने निश्चर को ताका त्योरियाँ चढ़ा करके ।
फिर सहसा उसको पकड़ लिया चटपट निज हाथ बढ़ा करके ॥
ज्यों ही पकड़ा, त्यों ही पल में वीभत्स कृत्य कर दिखलाया ।
पैने पञ्जों से कर डाली-जर्जर सब निश्चर की काया ॥
ईश्वर बनने को सदा रहता जो कि अधीर ।
दमभर में बेदम हुआ-वह बलवान् शरीर ॥

नभ-मण्डल में कर उठा सुर-मण्डल जयकार ।
तब जग ने समझा हुआ—ईश्वर का अवतार ॥
ब्रह्मादिक-इन्द्रादिक मन में—आनन्द मग्न हो हुलसाए ।
नरसिंह का दर्शन करने को मिलजुल कर भूतल पर आए ॥
लेकिन, कराल नरसिंह मूर्ति—देखे से भय उपजाती थी ।
अबतक वह कोप भरी चितवन भीषण ज्वाला बरसाती थी ॥
ब्रह्मादिक सम्मुख जाने में—मन ही मन में भय खाते थे ।
लक्ष्मी के भी उस दर्शन से—छक्के से छूटे जाते थे ॥
आखिर ब्रह्मा बोले विचार—"प्रह्लाद प्रथम सम्मुख जायें ।
और विनय विनम्र वचन कहकर भगवान् का क्रोधमिटाआयें॥"
निकट गये प्रह्लाद जब हाथ जोड़ शिर नाय ।
तभी मूर्ति नरसिंह की उठी मन्द मुसकाय ॥
प्रह्लाद ने कहा—"कृपा कीजे यह विकट स्वरूप दुरा लीजे ।
भगवन्, अपना भावे वाला- बस, वही रूप दिखलादीजे ॥"
प्रह्लाद के इतना कहते ही होगया रूप का परिवर्तन ।
नरसिंह रूप में प्रकट हुआ—वह रूप चतुर्भुज मनमोहन ॥
चतुर्भुजी भगवान् ने—विमल प्रेम के साथ ।
पास बुला प्रह्लाद के शिर—पर रक्खा हाथ ॥
फिर बोले—"मेरे बाल भक्त, सब सफल तुम्हारा साधन है ।
जो व्रत तुमने ले रक्खा था, उसका ही यह उद्यापन है ॥
बस, अब मेरी यह इच्छा है तुम सुख-सम्पन्न समाज करो ।
धारण कर शिर पर राजमुकुट आरम्भ धर्म का राज करो ॥"
प्रभु-वचनों के साथ ही शीघ्र सज गया साज ।
शीश नवा प्रह्लाद ने- रक्खा शिर पर ताज ॥

ब्रह्मा ने स्वय तिलक काढा, शङ्कर सुमंत्र उचार उठे।
अन्याय देव आनन्दपूर्ण-जी से जयकार पुकार उठे॥
यों राजतिलक होजाने पर युग चरणों में शिर ना करके।
प्रभु से यों कहने लगे वचन-प्रह्लाद विनय दिखला करके॥
"हे नाथ, आपकी आज्ञा से-शिर पर यह भार उठाया है।
प्रभु कहते हैं बस इसीलिए-यह राज काज अपनाया है॥
लेकिन, जो बन्धन बाँधा है, उसकी भी डोरी कसी रहे।
जिस मूरति ने मन मोहा है, वह मूरति मन में बसी रहे॥
जीवन के मग में पग पग पर उजियाली छिटकाते रहना।
अबतक जैसे अपनाया है, आगे भी अपनाते रहना॥

* गाना *

अपना समझ के अपने, सब काम बना देना।
अबतक तो निभाया है आगे भी निभा देना॥
भवसिन्धु के भवर में नैया जो फँस रही है।
बस इतनी कृपा करना, उस पार लगा देना॥
दलबल के साथ आकर माया जो मुझे घेरे।
तो देखते न रहना झट आके बचा देना॥
सम्भव है झञ्झटों में मैं तुमको भूल जाऊँ।
पर, नाथ, कहीं तुम भी मुझको न भुला देना॥
जो तुम हो वही मैं हूँ जो मैं हूँ वही तुम हो।
यह बात सच है तो फिर सच करके दिखा देना॥"

— ० —

'एवमस्तु' प्रभु ने कहा हुई जयध्वनि व्याप्त।
इस प्रकार होगयी यह पावन कथा समाप्त॥

— ० —

॥ इति ॥

सम्पादक—
नेपाल गवर्नमेन्ट से कथावाचस्पति कि पदवी प्राप्त—
कीर्तनकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—
श्रीराधेश्याम कथावाचक

प्रकाशक—श्रीराधेश्याम पुस्तकालय, बरेली।
४४ नये पैसे।

लेखक—
श्रीयुत रामसहाय "तमन्ना"

सम्पादक—
नेपाल गवर्नमेण्ट से "कथावाचस्पति" की पदवीप्राप्त—
कीर्तनकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—
पं० राधेश्याम कथावाचक

प्रकाशक—

[आठवीं बार २०००] सन् १९५९ ई० [मूल्य ४४ नये पैसे

मुद्रक—पं० रामनारायण पाठक, श्रीराधेश्याम प्रेस, बरेली।

❀ ॐ ❀

प्रार्थना

तुम कृष्ण करुणाधाम हो, प्रणमाम्यहम् प्रणमाम्यहम् ।
विश्रान्त के विश्राम हो, प्रणमाम्यहम् प्रणमाम्यहम् ॥
प्रियजन के तुम प्रतिपाल हो, गौओं के तुम गोपाल हो ।
ब्रज के कन्हैयालाल हो, प्रणमाम्यहम् प्रणमाम्यहम् ॥
स्रष्टा हो सारी सृष्टि के द्रष्टा हो व्यष्टि समष्टि के ।
घन हो दया की वृष्टि के, प्रणमाम्यहम् प्रणमाम्यहम् ॥
ध्यानी के तुम ही ध्यान हो, भावुक के तुम भगवान हो ।
राधा के जीवनप्रान हो, प्रणमाम्यहम प्रणमाम्यहम् ॥
हो आप 'रामसहाय' के, रक्खो उसे अपनाय के ।
यह है विनय शिर नायके, प्रणमाम्यहम् प्रणमाम्यहम् ॥

—:o:—

ॐ

कथा प्रारम्भ

गणपति गौरी शारदा, शेष-महेश मनाय ।
चारु चरित ध्रुव का लिखूं गुरुजन को शिर नाय ॥
सतयुग में एक समय पर सुन्दर सुकृत स्वरूप ।
स्वायम्भुव मनु के तनय--थे भारत के भूप ॥
उत्तानपाद इन भूपति का विख्यात नाम था त्रिभुवन में ।
वे न्याय-नीति की मर्यादा रखते थे अपने शासन में ॥
उनके सुराज्य में दुर्बल को बलवान् सताते डरता था ।
निर्धन को धन का मतवाला धनवान् दबाते डरता था ॥
सज्जन-समाज को खल-समाज--सन्ताप नहीं दे पाता था ।
शिर बड़े-बड़े उद्दण्डों का उनके आगे झुक जाता था ॥
सम्पूर्ण राज्य का सुप्रबन्ध--था कुशल कार्य-कर्ताओं पर ।
रखते थे भूपति देख-भाल खुद भी सब राज्य--विभागों पर ॥
उनके अति उत्तम शासन से सुख में सम्पूर्ण प्रजाजन थे ।
धन-धान्य-धाम और काम-पूर्ण--घर-घर लोगों के जीवन थे ॥
रैयत में ऐसे राजा का होता आदर दिन-दूना था ।
राजा-रैयत का वह नाता दुनिया के लिए नमूना था ॥
बाहर का ज्यों राज्य था सब प्रकार सुखमूल ।
त्योंही घर भी भूप का था मन के अनुकूल ॥

रानी सुनीति सुन्दर सुमुखी, वह रमा-उमा सी गुणवाली ।
राजा के हृदयसिन्धु की थी—शुचि शरच्चन्द्र की उजियाली ॥
सर्वोच्च कोटि की पतिव्रता- उस युग में वही सुहाती थी ।
सतयुग के सती-समाज बीच—सर्वोत्तम आसन पाती थी ।
उसके पातिव्रत का ही यह—फैला सर्वत्र उजाला था ।
जिसने राजा के जीवन को सुख के साँचे में ढाला था ॥

राजसभा से एक दिन हो निवृत्त नरनाथ ।
मुदित पधारे महल में उत्कण्ठा के साथ ॥

देखा एक सुन्दर आसन पर महलों की महिमा बैठी है ।
जीवन की सञ्जीवनदात्री, प्राणों की प्रतिमा बैठी है ॥
फिर यह भी देखा राजा ने एक पुस्तक शोभा पाती है ।
रानी उसको तन्मय होकर मन ही मन पढ़ती जाती है ॥
उस पुस्तक-मग्न प्रियतमा की लोचन-ललाम सुन्दरता पर ।
जम गए विलोचन भूपति के कुछ क्षण के लिए थकित होकर ॥
फिर मन ही मन आनन्द मना—धीरे-धीरे आगे जाकर ।
चाहा कि प्रिया को चकित करें—औचक सम्मुख हो चौंकाकर ॥
पर स्वयं चकित हो ठिठक रहे, देखा कि कुसुम कुम्हलाया है ।
रानी के नीरज नयनों में कुछ नीर छल-छला आया है ॥

'विस्मित होकर भूप यों—बोल उठे तत्काल ।
हे! रानी, क्या बात है? क्यों है तुम्हें मलाल ।

कारण क्या आज चाँदनी में इस भाँति मलिनता मिलती है ?
आश्चर्य दिवाकर प्रस्तुत है, फिर भी न कमलिनी खिलती है ॥
आँखों को सुख देनेवाली—आँखें क्यों विकल होरही हैं ?
काजल से कजराली काली—क्यों जल से सजल होरही हैं ।'

उठी भामिनी चौंककर पति को किया प्रणाम ।
बोली—'हे मेरे हृदय, हे मेरे सुखधाम !
क्या बतलाऊँ किस धुन में थी ? क्या पढ़ती थी क्यों रोती थी ?
हो नई पुरानी बात आज, फिर मेरा धीरज खोती थी ॥
इस धर्मशास्त्र की पुस्तक ने फिर वह ज्वाला जाग्रत करदी ।
एक भूली हुई भावना की बरियायी बेचैनी भरदी ॥
हृदयनाथ, हे हृदयधन, हृदयाधिक, हृदयेश ।
प्राण प्रिया की प्रार्थना पूर्ण करें प्राणेश !
वचन दीजिये तो कहूँ हृदय रहा सकुचाय ।
याचकिनी की याचना—खाली कहीं न जाय ॥
मैं जान रही, जग जान रहा—दृढ़व्रतवाले की दृढता को ।
इसलिए ठिठकती है वाणी—अनुभव कर कठिन कठिनता को ॥
लेकिन माँगा है नहीं कभी—कुछ भी अबतक इस जीवन में ।
बस, इसी बात से होता है—थोड़ा-थोड़ा साहस मन में ॥
मैं समझ रही हूँ भली भाँति—कितनी वह जटिल समस्या है ।
पूरा करने की शपथ करें—तब बतलाऊँ क्या इच्छा है ॥
और हाँ, अपनी सौगन्द नहीं, सौगन्द मेरी खाना होगी ।
पूरी करते हो प्रीति अगर तो पूरी दिखलाना होगी ॥"
मुस्काकर नृप ने कहा—"इस ढंग पर बलिहार ।
करडाला बस, भूमिका ही में उपसंहार ॥
अच्छा यदि शर्त शपथ की है तो यह भी शर्त निभाता हूँ ।
पहले अपनी, पीछे तेरी सौगन्द प्रियतमे खाता हूँ ॥
अब भेद छोड़कर भेद बता—क्यों मुर्झाया यह मुखड़ा था ?
किसलिए हृदय में दुखड़ा था, किसलिए कलेजा उमड़ा था ?

मेरी दृढ़ दृढ़ता को तेरा यह भाव व्यथित करदेता है ।
है अचल हिमाचल, पर उसको भूचाल चलित करदेता है ॥"

रानी बोली-"चित्त में हुई आज है चाह ।
करें नाथ, अब दूसरा अपना आप विवाह ॥

इस धर्मशास्त्र में इसी समय इस भाँति पढ़ चुकी हूँ स्वामी ।
जिसके सन्तान नहीं होती, वह होता पुरुष नरकगामी ॥
इतना ही नहीं पितर उसके कल्पान्तर तक दुख पाते हैं ।
तर्पण और श्राद्ध न मिलने से भूखे-प्यासे अकुलाते हैं ॥
उन भूखे-प्यासे पितरों के जी से तब शाप निकलता है ।
वह शाप विषैला फल बनकर नर के जीवन में फलता है ॥
इसलिए नाथ, सन्तान हेतु एक और विवाह कीजिएगा ।
शिर पर जो पितरों का ऋण है उस ऋण से मुक्ति लीजिएगा ॥
मुर्झाई हुई कली मन की शायद इस ढंग से खिलजाये ।
पितरों को जल देनेवाला—सम्भव है बेटा मिलजाये ॥
यदि अपने हेटे लहने में योंही एक बेटा लिक्खा है—
तो योंही लेलीजिए नाथ, बस, यही मुझे अब इच्छा है ॥"

भाव-भरे आग्रह-भरे—सुन रानी के बैन ।
उत्तर में कहने लगे—भूपति हो बेचैन ॥

"है ! रानी, यह क्या कहडाला ? यह कैसा भाव तुम्हारा है ?
मेरे दूजे विवाह का क्या—सचमुच प्रस्ताव तुम्हारा है ?
अबतक यह ध्वनि औरों की थी, इससे कुछ ध्यान न देता था ॥
मित्रों के और मन्त्रियों के कहने पर कान न देता था ॥
कारण यह था—उनकी सम्मति इस लिये न मुझे सुहाती थी ।
मेरे पत्नीव्रत और तेरे—अधिकारों से टकराती थी ॥

पर आज स्वयं अधिकारी ही अपने अधिकार खोरहा है ।
कुछ समझ नहीं पड़ता कैसे—अनहोना आज होरहा है ॥
रानी, रानी, सोचो तो सही, किस धुन बहकी जाती है ।
अपने जीते जी अपने ही महलों में सौत बुलाती हो ।
गृहलक्ष्मी, गृहमन्दिर में जब—देवी दूसरी विराजेगी—
उस समय पुजारी की पूजा—दो भागों में बँट जायेगी ॥
बेटे की महिमा शास्त्रों में यद्यपि अनेक विधि गाई है ।
लेकिन औरस यदि न हो तो फिर—दत्तक की रीति बताई है ॥
इस रीति से बेटे का अपना मंशा पूरा होजायेगा—
और पितरों का पिण्डोदक भी फिर बन्द नहीं होपायेगा ॥
हो और दूसरा ब्याह न अब, है इतनी मेरी मनचाही ।
अबतक ज्यों रहा तुम्हारा हूँ, आगे भी रहूँ तुम्हारा ही ॥

सौ कष्टों का कष्ट है—एक सौत का कष्ट ।
दम्पति-जीवन का करे—सौत सभी सुख नष्ट ॥

विद्रोह, विषाद, विवाद, व्यथा, क्रम-क्रम से आय दबाते हैं ।
सौतें जिस घर में होती हैं, वे घर खंडहर होजाते हैं ॥
हे प्रिये, सौत घर में आई तो यह रचना रचजायेगी ।
अबतक जो रानी कहलाई, वह फिर बाँदी कहलायेगी ॥"

"कहलाने दो वह अगर—बाँदी ही कहलाय ।"
रानी ने फिर भी यही—वचन कहे अकुलाय ॥

"धोतियाँ निचोड़ूँगी उसकी जूठी थालियाँ उठाऊँगी ।
स्वामिनी बनाकरके उसको सेविका स्वयं बनजाऊँगी ॥
झिड़कियाँ गालियाँ सुनलूँगी, मुँह से उफ़ तक न निकालूँगी ।
उसका सुख अपना सुख, उसका दुख अपना दुखकर डालूँगी ॥

छोटी को बड़ा बनाकरके ख़ुद छोटी होजाऊँगी मैं ।
जैसा उसका जी देखूँगी, वैसा कर दिखलाऊँगी मैं ॥
जब दोनों पक्ष चाहते हैं, बस तभी रार ठनजाती है ।
एक ही हाथ से भला कहीं ताली जग में बज पाती है ॥
और दत्तक बेटा तो वह है—जो हो औरों का दिया हुआ ।
गोदी फैलाकर ग़ैरों से भिक्षा की नाईं लिया हुआ ॥
दत्तक-दत्तक ही होता है, अपना अपना ही होता है ।
जागृति जागृति ही होती है, सपना सपना ही होता है ॥
मैं बेटा एक चाहती हूँ, जो ख़ालिस अपना ही धन हो ।
अपना तन हो, अपना मन हो, अपनी आत्मा का दर्पन हो ॥
अपने ही से पूरी होती—अभिलाषा बल-बल जाने की ।
जी भरकर लाड़ लड़ाने की, मन भरकर गोद खिलाने की ॥
ऐसे बन जाने को क्या है, बन सकते सब सम्बंधी हैं ।
बेटा यदि नहीं पेट का है, तो फिर यह आँखें अन्धी हैं ॥

❀ गाना ❀

"बे पुत्र के हैं अन्धी माता-पिता की आँखें ।
यह हाल देखती हैं—परमात्मा की आँखें ॥
जो पुत्र एक न हो तो जीवन वृथा है जन का ।
दासी पै कीजिए अब, स्वामिन् दया की आँखें ॥
रोयें जो यह तो दरिया भी शर्म से हों पानी ।
ईश्वर ने हैं बनाई यह किस बला की आँखें ॥
मुरझाई बेकली से कोमल कली यह दिल की ।
क्या बन्द होगई हैं, बिलकुल हवा की आँखें ॥"

—:o:—

रानी की हठ देखकर नृपति हुए लाचार ।
बात दूसरे ब्याह की करली अङ्गीकार ॥

अब सुनिए आगे जिस प्रकार विधि-निश्चित घटनावली चली।
जिस तरह दुःख सुख के फल से नृप के जीवन की लता फली ॥
दूजी रानी सुन्दरता में रति-सी सुन्दरी सुहाती थी।
जिसके मुख की छवि के आगे-शशिकला मलिन हो जाती थी ॥
रानी सुनीति ने भी उसका मनभर कर मान बढ़ाया था।
पहले सर आँखों पर बिठला, फिर निज पद पर बिठलाया था ॥
वे पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से पुलकित हो समय बिताती थीं।
सर्वदा सौत को बहन समझ अपना संसार चलाती थीं ॥

यद्यपि रानि सुनीति का निर्मल था आचार।
छोटी रानी के मगर थे कुछ और विचार ॥

छोटी रानी का दोष नहीं, संगति ने बहका रक्खा था।
एक क्षुद्र हृदय की दासी ने कुछ का कुछ समझा रक्खा था ॥
यह दासी छोटी रानी के सँग में नैहर से आयी थी।
मति-गति उसकी सब विधना ने, खोटी और कुटिल बनायी थी ॥
उसको यह इच्छा रहती थी—छोटी रानी सरताज रहे।
रनिवास में किसी दूसरे का कहने के लिए न राज रहे ॥
इसलिए बड़ी रानी उसको फूटी आँखों न सुहाती थी।
छोटी रानी को अक्सर वह उसके विरुद्ध भर आती थी ॥
उस दासीरूप राक्षसी ने जहरीला पेड़ लगाया था।
आचरण बड़ी महारानी का व्यभिचार-पूर्ण बतलाया था ॥
मंशा यह था उस दासी का—जब व्यभिचारिणि कहलायेगी—
तब राजा के रनिवास-बीच—वह कभी न रहने पायेगी ॥

छोटी रानी ने किया—दासी का विश्वास।
दूध-सरिस मन फट गया—पाकर कपट खटास ॥

कही उन्होंने एक दिन—नृप से सारी बात ।
सुनते ही उर में हुआ—भूपति के आघात ॥
पत्नी की पाप-कथा सुनकर विश्वास किया कुछ कानों ने ।
लेकिन फिर भी अर्द्धाङ्गिनि को पापिनी न माना आँखों ने ॥
यह कानों आँखों का झगड़ा-कुटिला दासी ने निपटाया ।
अपने छल-बल से रानी का अपराध सिद्ध कर दिखलाया ॥
दासी की दुष्ट साधना ने उत्पन्न यातनाएँ करदीं ।
राजा के मन में बल-पूर्वक विपरीत भावनाएँ भरदीं ॥
दुखी हो उठा एक दिन-सुनकर प्रजा-समाज ।
साध्वी सती सुनीति को त्याग रहे महाराज ॥
नर, नारि, युवक, बालक, बूढ़े सब विकल व्यथित हो उठ धाए ।
करने को हार्दिक शोक प्रकट मिल-जुलकर महलों तक आए ॥
उस राज-महल की ड्योढ़ी पर क्षण में होगयी भीड़ भारी ।
चुपचाप बहाने लगी नीर-नयनों से जनता दुखियारी ॥
मानो उन जंगम जीवों में जगज्जननी भाव भररही थी ।
'साध्वी सुनीति पर है अनीति', ऐसा प्रतिवाद कररही थी ॥
वह करुणोत्पादक दृश्य देख-राजा भी विचलित हो उट्ठे ।
'अनुचित तो नहीं कररहा हूँ !' इस भय से शङ्कित ह उट्ठे ॥
लेकिन उनको दृढ़ करने का मौजूद महल में साधन था ।
कुटिला दासी की माया थी, छोटी रानी का शासन था ॥
यद्यपि इन युगल शक्तियों ने अपना प्रभाव डाला भारी ।
नृप के उर-अन्तर में लेकिन-धड़कन हो उट्ठी थी न्यारी ॥
आखिर द्विविधा के दल-दल से सोची यों बात निकलने की ।
भूपति ने राह ठीक करली-एक कूट चाल से चलने की ।

अपने एक मन्त्री को चटपट-अपने समीप में बुलवाया ।
चुपके से उसके कानों में अपना आशय कुछ समझाया ॥
इतना करके ढँग बदल लिया, निष्ठुर हो रिसियाये राजा ।
वह प्रजाजनों की भीड़ देख झल्लाये-चिल्लाये राजा ॥
आज्ञा दी तुरत सेवकों को-सब भीड़ दूर करदी जाये ।
उस राज-महल की सीमा में कोई भी खड़ा न रह पाये ॥

राजाज्ञा सुनकर हुआ विवश प्रजा समुदाय ।
लौटे निज-निज गृहों को लोग महादुख पाय ॥

जब भीड़ प्रजा की दूर हुई-तब राजमहल में से सत्वर ।
अनुचर लोगों के कन्धों पर पालकी एक आयी बाहर ॥
चहुँओर पालकी को घेरे-कुछ सेवक थे कुछ मन्त्री थे ।
करने को उनकी देख-रेख-अश्वारोही कुछ मन्त्री थे ॥
मुख मलिन होरहे थे सबके, सब चिन्ताकुल दिखलाते थे ।
चुपचाप मौन व्रत लिए हुए आगे को बढ़ते जाते थे ॥
उनके मन का वह मलिन भाव पुर में उनसे भी दूना था ।
प्रत्येक गली ऊजड़ सी थी, प्रत्येक रास्ता सूना था ॥
मानो सुख-शोभा की देवी पुर से प्रस्थान कर गई हो ।
जड़-चेतन को छवि-शून्य बना, चिन्तित और म्लान कर गई हो ॥

शून्य नगर को पार कर-शीघ्र बिना विश्राम ।
जा पहुंची वह पालकी पुर बाहर एक ठाम ॥

जिस जगह पालकी पहुंची थी, वह ठाम पूर्णतः निर्जन था ।
लेकिन निर्जन होने पर भी सुन्दर शोभावाला वन था ॥
ज्योंही पहुँची पालकी वहाँ, त्यों पवन विचञ्चल हो उट्ठी ।
गम्भीर प्रकृति के अन्तर में मानो एक हलचल हो उट्ठी ॥

जल पास के एक जलाशय का-सहसा उस समय हिलोर उठा ।
मानो करुणा का विमल भाव-उस जल में भी कर जोर उठा ॥
अश्वारोही मन्त्रियों की इच्छा-अनुसार ।
अनुचर लोगों ने वहीं-दी पालकी उतार ॥
तभी पालकी के निकट-मन्त्रीजन एक आय ।
उतर अश्व से नम्र हो-यों बोला अकुलाय ॥
"हे महिमामयी महारानी, सेवक को क्षमा कीजिएगा ।
मैं-आज्ञा-पालक हूं, मेरी परवशता समझ लीजिएगा ॥
यद्यपि मैंने अबतक अपना सेवा में जन्म बिताया है ।
पर 'सेवा है अति नीच कर्म'-यह आज समझ में आया है ॥
महाराज ने मुझको सौंपा है, जो कार्य वह बड़ा दुस्तर है ।
उस कार्य को वह करसकता है, जिसका अन्तस्थल पत्थर है ॥ '
अधिक नहीं, सुनते बना, हुई हृदय में भीति ।
चटपट बाहर पालकी से-आगयीं सुनीति ॥
बोलीं-"मन्त्री, जल्दी बोलो, भय से यह चित्त डर रहा है ।
वह दुस्तर कार्य कौन सा है, जो विचलित तुम्हें कर रहा है ?
भेजा है नृप ने मुझे यहाँ कहकर कि विपिन दिखलाऊँगा ।
तुम आगे-आगे चलो प्रिये, पीछे-पीछे मैं आऊँगा ॥
क्या स्वामी की इस आज्ञा में, कुछ और अर्थ है मिला हुआ ?
सङ्कोच छोड़ कहदो मन्त्री, जो गुप्त भेद है छुपा हुआ ॥ '
जल-वर्षा के साथ हो-उपल-वृष्टि ज्यों घोर ।
सजल नयन से मन्त्रि त्यों-बोला वचन कठोर ॥
"भूपति ने चलते समय मुझे-आदेश किया था समझाकर ।
'एकाकी छोड़ चले आना', बन में रानी को लेजाकर ॥

मैं चकित हो उठा पहले तो, समझा कि कदाचित् सपना है ।
पर दूर होगया भ्रम तुरन्त, मालूम हुआ सच घटना है ॥
सन्देह हुआ है भूपति को निन्दित आचरण आपका है ।
भूपति का यह सन्देहमात्र—कारण सारे सन्ताप का है ॥
है मुझे किन्तु निश्चय कि आप सर्वथा विशुद्ध-चरित्रा हैं ।
गंगा की धारा की नाईं—पावन और पुण्यपवित्रा हैं ॥
मैं अच्छी तरह समझता हूं, हो रहा है अत्याचार निरा ।
पर सेवा परवश होने से—है यह शरीर लाचार निरा ॥
दुर्बल न कीजिएगा मन को, साहस न कदापि हारियेगा ।
एक आर्य नारि की भाँति देवि संकट में धैर्य धारियेगा ॥
विश्वास हृदय में है मुझको, यह दुख न सदा रह पायेगा ।
दुर्दिन यह थोड़े दिन का है, फिर सुख का दिन आजायेगा ॥"

कठिन क्रूर आदेशमय—सुन मंत्री की बात ।
रानी पर सहसा हुआ—मानो वज्राघात ॥
यद्यपि रोका उन्होंने आपा धैर्य-समेत ।
किन्तु किया सन्ताप ने एकदम उन्हें अचेत ॥
दुःख भरे उस दृश्य से हृदय-बीच दुख पाय ।
लौटे मन्त्री आदि सब—मलिन वदन अकुलाय ॥
छिपा हुआ था झाड़ में वहीं व्यक्ति एक ओर ।
दबे पाँव होकर प्रकट—अब आया उस ठौर ॥

आकर बोला —"निष्ठुरता ने अनुशासन पूरा पाला है ।
रनिवास निवासिनि को एकदम बन की वासिनि कर डाला है ॥
अच्छा जो कुछ है अच्छा है, अपनी बस एक प्रार्थना है ।
भगवान् आपके चरणों में भिक्षुक की एक याचना है ॥

वह यह कि अन्त में पूर्णतया—यह दुख की रैन मिटा देना ।
पहले जैसा ही भरा-पुरा—फिर सुख का सूर्य उगा देना ॥
महाराज की आज्ञा से मैंने जो अपना रूप छिपाया है ।
मन्त्री का वेश हटाकरके यह जो ऋषिरूप बनाया है—
सो मेरा गुप्त परिश्रम यह आखिर में सार्थक होजाये ।
आचरण रानि का निष्कलङ्क, उज्ज्वल और निर्मल दिखलाये ॥"

इतना कह एक ओर को मन्त्री गया प्रवीन ।
पड़ी रहीं रानी वहीं, मूर्च्छित चेत-विहीन ॥

दुख की दुनिया में दुखिया को मूर्च्छा भी एक सहारा है ।
मानों दुखरूप मरुस्थल में मूर्च्छा शीतल जलधारा है ॥
मूर्च्छावस्था में रानी ने देखा एक दृश्य मनोहर है ।
वह दृश्य स्वप्न का है लेकिन, वह स्वप्न बड़ा ही सुन्दर है ॥
उस स्वप्न में मुख्य बात यह है—एक दिव्य मूर्ति दिखलाती है ।
कल्याणसुन्दरी-सी सुन्दर—वह मञ्जुल मूर्ति सुहाती है ॥
लोचन उस सुन्दरदर्शन पर ज्योंही तन मन सब वार उठे—
त्योंही एक स्वर-लहरी के स्वर—जल थल भर में गुञ्जार उठे ॥

प्राणों में भरती हुई—सुख-सान्त्वना पुनीत ।
मृदु वाणी में मूर्ति वह—गा उठी यह गीत ॥

❊ गाना ❊

अरे, यह सुख दुख का संसार ।
जीव भोगते भोग यहाँ निज कर्मों के अनुसार ॥ अरे० ॥
सुख या दुख की दशा न रहती तीसों दिन यकसार ।
सुख पीछे दुख, दुख पीछे सुख यों चलता व्यवहार ॥ अरे० ॥

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह हैं माया-जनित विकार ।
यही दुःख उपजाते जग में होता हाहाकार ॥ अरे० ॥
अपने आपे पर जो रखता अपना ही अधिकार ।
उसे न यह विह्वल कर पाते क्षणिक चढ़ाव-उतार ॥ अरे० ॥"

—:०:—

मूर्च्छा छूटी जग पड़ीं—सुन रानी यह गीत ।
देखा है जिस धाम में, है वह धाम पुनीत ॥
तृण से आच्छादित छोटी-सी कुटिया है बनी हुई सुन्दर ।
लेटी हैं वहाँ महारानी पत्रों की कोमल शय्या पर ॥
बैठी समीप कुछ कन्यायें-परिचर्या करती जाती हैं ।
जो बल्कल वस्त्रों को पहने मुनि कन्या-सी दिखलाती हैं ॥
कुटिया के बाहर तापसजन—तप में तल्लीन दिखाते हैं ।
सिंहों के सँग क्रीड़ा करते-मृग छौने शोभा पाते हैं ॥
प्रत्येक वस्तु में व्याप्त वहाँ यम, नियम, शौच और संयम है ।
सर्वथा शान्ति से भरा पुरा—ऋषि मुनियों का वह आश्रम है ॥
मुनि—आश्रम वह सब तरह-हुआ परम अनुकूल ।
रानी का जाता रहा—मन का दुख और शूल ॥
मुनि-कन्याएँ जब दुखी हुईं—मन में महारानी के दुख से—
तब सरल स्वभाव महारानी उनसे यों बोल उठीं सुख से ॥
"बहनो, तुमने साधारणतः, समझा प्रत्यक्ष जिसे दुख है ।
यदि देखा जाय विचार-सहित तो वह भी इस जग का सुख है ॥
रजनी के घोर अँधेरे में, जो प्राणी कष्ट उठाता है ।
वह ही दिन के उजियाले का कुछ मूल्य समझने पाता है ॥
सर्वदा सुखों में रहने से सुविचार मन्द होजाते हैं ।
मन में निर्मलता आने के सब मार्ग बन्द होजाते हैं ॥

दुख-सम्पत् नर को नरपन से जब पशुपन में पहुँचाती है—
तो दुख की दशा विकार मिटा; नर का देवता बनाती है ॥
इसलिए धन्य है वह, जिसका जीवन नित दुख में पागा है ।
जो सुख ही सुख भोगता सदा, वह प्राणी निरा अभागा है ॥"

मुनि-कन्याओं को सुघर इस प्रकार समझाय ।
तपसिन का सा रानि ने लिया स्वरूप बनाय ॥
धैर्य धारणा रानि की लखि इस भाँति अनन्य ।
मुनि कन्याएँ कह उठीं, "देवि-आपको धन्य ॥"

सर्वथा तपोवन के क्रम से निज समय बिताती थीं रानी ।
तपसी ही की नाईं अपना आचार निभाती थीं रानी ॥
सूर्योदय से पहले उठकर स्नानादिक को वे जाती थीं ।
उन कर्मों से होकर निवृत्त-जप-तप में ध्यान लगाती थीं ॥
निज हाथ उन्होंने स्वामी की एक सुन्दर मूर्ति बना ली थी ।
वह मूर्ति हृदय में आँखों में, प्राणों में ख़ूब रमाली थी ॥
बस, इसी मूर्ति के सम्मुख वे करती थीं यह साधन अपना ।
पति-चरणों का पूजन करना, पति-चरणों की माला जपना ॥
यह आर्य नारि का है चरित्र, जिसको जग शीश झुकाता है ।
बस, इन्हीं चरित्रों से तो यह भारत भारत कहलाता है ॥
हे भारत की कुल-कन्याओ, उत्तर दो, प्रश्न हमारा है ।
रानीसुनीति का सा ही अब-क्या उज्ज्वल चरित तुम्हारा है ?
तुमने हे भारत-ललनाओ, तत्परता दिखलायी होती—
तो अखिल देश के जीवन में यह जड़ता क्यों आयी होती ?
निश्चय यह काम तुम्हारा था, निर्मलता आचरती रहतीं ।
प्रह्लाद,भीष्म, ध्रुव से सुपुत्र-उत्पन्न सदा करती रहतीं ॥

जबसे बस कलह-कामना का तुमने जीवन करडाला है ।
तबसे ही यह सुख सम्पत् का घर-घर पिटरहा दिवाला है ॥

छिपे-छिपे जो देखता-था सारा व्यापार ।
उस मन्त्री को भी हुआ हृदयानन्द अपार ॥

वह बोला यों मन ही मन में-"जो इन्हें कलङ्क लगाती है ।
वह दोषमयी अन्धी दुनिया; क्यों नहीं नष्ट होजाती है ?"
तत्क्षण राजा के निकट पहुँच; संवाद दिया उसने सत्वर ।
"हे प्रजानाथ, कर बैठे हैं अन्याय आप भ्रम में पड़कर ॥
मैंने सब छिपकर देखा है, यह आँखें युगल साक्षिणी हैं ।
तन से-मन से और वचनों से महारानी निष्कलङ्किनी हैं ॥
वाणी से वर्णन सुगम नहीं, क्या कहूँ इसलिये है कैसा ।
राजन् महारानी का चरित्र-है उज्ज्वल सूर्यकिरण-जैसा ॥
मैं भुजा उठाकर कहता हूँ रानी यदि निर्मल चरित नहीं--
तो निर्मल-विमल चरितवाला दुनिया में कोई नहीं कहीं ॥"

ओज-भरे आग्रह-भरे-सुन मन्त्री के वैन ।
हर्षभाव से भूप के सजल हो उठे नैन ॥

यह सत्य है, संशय में नृप ने त्यागा था पत्नी को घर से ।
लेकिन, त्यागा था नहीं कभी अर्द्धाङ्गिनि को उर-अन्तर से—
सो आज मिट गया संशय जब तब सुख का सिन्धु उमँड आया ।
मानो भूपति ने गया हुआ-फिर से जीवन का धन पाया ॥

एक दिवस सन्ध्या-समय पतिपद में कर प्रीति ।
बैठी थीं निज कुटी में ध्यान-निमग्न सुनीति ॥

उसी समय सहसा वहाँ–आपहुँचा एक व्यक्ति ।
देखी जिसने आँखें से रानी की वह भक्ति ॥

वह भक्ति देखकर रानी की, वह व्यक्ति चमत्कृत हो उट्ठा ।
फिर क्या जानें क्या बात हुई–आँखें भरलाया रो उट्ठा ॥
रानी बैठी थीं–ध्यानमग्न, मन एक ओर था लगा हुआ ।
सहसा चौंकीं, छुटगया ध्या न, देखा है कोई खड़ा हुआ ॥
जबतक पहचानें रानि उसे तबतक वह वाणी बोल उठा ।
अपने ही कातर शब्दों में अपना परिचय यों खोल उठा ॥
बोला–"हे प्रिये, प्राणप्रतिमे, अपराध किया मैंने भारी ।
मुझसा न कहीं होगा कोई–इस पृथ्वी पर अत्याचारी ॥
मैंने, हाँ सचमुच मैंने ही, अति घोर पाप करडाला है ।
अपनी आश्रिता भामिनी को निर्दयता-सहित निकाला है ॥
मेरी दुर्मति से क्षण में जो पथ की होरही भिखारिन है ।
मैं अपनी आँखों देखरहा–अब भी वह मेरी पुजारिन है ॥
हा ! उज्ज्वल-धवल चाँदनी को मैं काली अँधियारी समझा ।
साध्वी पतिव्रता पत्नी को कुलटा दुष्टा नारी समझा ॥
इस क्रूर कर्म से आत्मा में एक आत्म-ग्लानि जगरही है ।
ओ देवी, मुझे क्षमा करदे तन-मन में आग लगरही है ॥"

दुःख और अनुताप के इन वचनों के साथ ।
रानी के पद ग्रहण को बढ़ा भूप का हाथ ॥
तभी झपटकर रानि ने लिया हाथ में हाथ ।
विह्वल हो पुनि कहउठीं–"करो न लज्जित नाथ !

अनुताप हृदय से दूर करो, तुमने कुछ नहीं सताया है ।
मैंने ही अपने पहले के कर्मों का यह फल पाया है ॥

अथवा यों समझो ईश्वर ने—यह माया एक रचाई थी ।
सोना और काँच जाँचने को कुछ दुख की आँच दिखाई थी ॥
नाता जो है मेरा तुमसे, वह जन्म-जन्म का नाता है ।
इन छोटी-मोटी बातों से वह नाता टूट न पाता है ॥
जो प्रीति तुम्हारी थी पहले, अब भी वह प्रीति तुम्हारी है ।
महलों में हो, या वन में हो-सब जगह सुनीति तुम्हारी है ॥"

उभय ओर से बहचली - नयन-अश्रु-जल धार ।
इस प्रकार से फिर मिले - पति-पत्नी एक बार ॥
किया भूप ने फिर वहीं कुटिया में विश्राम ।
दम्पति ने सुख मिलन में काटी रात तमाम ॥

होते प्रभात रजधानी को चलने की तैयारी करके ।
रानी से कहने लगे भूप वचनों में प्रेमाग्रह भरके ॥
"हे प्रिये, चलो फिर महलों में-घर में उजियाला करने को ।
प्रेमामृत से अपने मेरा जीवन-प्याला फिर भरने को ॥"

भूपति ने आग्रह किया—जब यूँ बारम्बार ।
रानी मृदु वाणी-सहित बोली वचन विचार ॥

"स्वामी, धारण कीजिये धैर्य, अवसर है नहीं मचलने का ।
यह समय अभी उपयुक्त नहीं-मेरे महलों में चलने का ॥
उत्पात उठानेवाले फिर—मिलकर उत्पात उठायेंगे ।
जिससे कि हमारे दोनों के जीवन विषमय होजायेंगे ॥
इसलिए न आग्रह करो नाथ, यूँ ही कुछ समय निकलने दो ।
पत्थर जो हृदय होरहे हैं उनको एक बार पिघलने दो ॥
विश्वास मुझे यह पूरा है, निर्दयी कभी पछतायेंगे ।
हम दोनों को कलपायेंगे तो स्वयं नहीं कल पायेंगे ॥

आपत्ति उठी है आँधी सी, यह निकलजाय तो अच्छा है ।
जो कल कि आजकल बिगड़ी है, वह सँभल जाय तो अच्छा है ॥

※ गाना ※

"बिगड़ी हुई जो कल है सँभलजाय तो अच्छा ।
जो आग जलरही है, वह जलजाय तो अच्छा ॥
मन जिसका भी मलीन हमारी तरफ से हो ।
इन आँसुओं से धुलके उजलजाय तो अच्छा ॥
ईर्षा भरी हो जो न किसी के तो वह ईर्षा—
योंही सजा सताके निकलजाय तो अच्छा ॥
पत्थर जो होरहा था हृदय सुख में हमारे ।
अब दुख मे, हमें पाके पिघलजाय तो अच्छा ॥"

—:०:—

सोच-समझकर अन्त में हुए भूप भी मौन ।
अनुचित कह सकता भला उचित बात को कौन ?
उधर राजमहलों गये-नृप मन में धर प्रीत ।
इधर तपोबन में रहीं-हो सन्तुष्ट सुनीति ॥

अच्छे प्राणी यदि कर्मों-वश संकट में भी पड़जाते हैं—
तो उनके सङ्कटवाले दिन थोड़े ही दिन रहपाते हैं ॥
यद्यपि सुनीति-सी विदुषी ने उस दुःख-मध्य भी सुख पाया ।
पर विश्वभरण विश्वम्भर का अन्तर भीतर से भर आया ॥
जो सकल चराचर-मण्डल को माया से नाच नचाते हैं ।
वे रोता देखें भक्तों को तो खुद रोने लगजाते हैं ॥
भगवान् स्वयं रोउठे जभी रानी सुनीति के कष्टों पर ।
तब प्रकृति-चक्र भी कर उट्ठा पश्चाताप निज कृत्यों पर ॥
उस सबका यह परिणाम हुआ, सौभाग्य सितारा चमक उठा ।
एक नई निराली आशा से रानी का चेहरा दमक उठा ॥

क्रमशः उस तप-वन में सबके उर-अन्तर हर्षित हो उट्ठे ।
"है गर्भवती रानी सुनीति," यह सुनकर पुलकित हो उट्ठे ॥
यथा सुअवसर और भी छाया मोद अपार ।
जाया रानि सुनीति ने सुन्दर एक कुमार ॥
कुछ मन में ही यह हर्ष न था रजधानी में भी छाया था ।
इसलिए कि छोटी रानी ने ख़ुद भी कुमार एक जाया था ॥
यह छोटी-बड़ी रानियों ने एक साथ ख़ुशी जो पाई थी ।
सो सच पूछो तो ईश्वर ने माया अपनी दिखलाई थी ॥
छोटी रानी को पुत्र दिया-यदि पिछले कर्मों के बल से—
तो बड़ी रानि को किया सुखी दुस्सह दुख सहने के फल से ॥
सारांश प्रसन्न हुईं दोनों-नारी जीवन का फल पाकर ।
मन में एक हर्ष-हिलोर उठी-जननी और माता कहलाकर ॥
यद्यपि दो जगह उठी बढ़कर-बढ़िया आनन्द-तरंगों की ।
पर दोनों जगह दिखाई दी वह जुदी-जुदी दो ढङ्गों की ॥
थी एक ओर तापस-कुटिया, दूसरी ओर था राजमहल ।
निर्धन जीवन था एक ओर, दूसरी ओर अतुलित धन-बल ॥
सो राजमहल की आज्ञा पर तोपें जब कर जयकार उठीं ।
तब कुटिया में ऋषि वृन्दों की शङ्ख-ध्वनियाँ गुञ्जार उठीं ॥
महलों में हर्ष मनाने को जब नानाविध रस रङ्ग हुए ।
तापस-कुटिया में-तब अनेक स्वाध्याय हुए सत्सङ्ग हुए ॥
यज्ञों में राजमहल के तो थी धूम दक्षिणा-दानों की ।
लेकिन, कुटिया के यज्ञों में शोभा थी शास्त्र-विधानों की ॥
यथासमय दोनों जगह-हुए नाम-संस्कार ।
विदित हुए दो नाम से-दोनों राजकुमार ॥

जो राजमहल में जन्मा था, वह बालक 'उत्तम' कहलाया ।
'ध्रुव' नाम कुँवर ने कुटिया के ऋषि-मुनियों के द्वारा पाया ॥
'उत्तम' और 'ध्रुव' दोनों बालक लोगों को लगे सुखी करने ।
दोनों के मन में जुदे-जुदे संस्कार विचार लगे भरने ॥
'उत्तम' की तो वृत्तियाँ सकल होवलीं राजपुत्रों की सी ।
लेकिन, ध्रुव में उत्पन्न हुई बातें ऋषि के बच्चों की सी ॥
'उत्तम' ने तो आग्रही, हठी चञ्चल होकर रहना सीखा ।
लेकिन 'ध्रुव' ने सब लोगों का प्रिय करना, प्रिय कहना सीखा ॥
'उत्तम' बस केवल राजकुँवर होने से आदर पाते थे ।
पर 'ध्रुव' अपनी अच्छाई से हर एक के मन चढ़ जाते थे ॥
आखिर, जिस बालक की पालक साध्वी सुनीति-सी माता हो ।
उस बालक का आचरण-शील किसलिए न यों सुखदाता हो ?

भेज दिया था रानि ने नृप तक सब संवाद ।
इस कारण से भूप को था अतीव आह्लाद ॥

सहसा ऐसे भाग्योदय पर वे फूले नहीं समाते थे ।
ध्रुव का मुख-चन्द्र निरखने को लोचन उनके ललचाते थे ॥
यों ही कुछ समय और बीता, 'ध्रुव' चलने फिरने लगे जभी ।
उनके लाने को भूपति ने भेजे वाहन और दूत तभी ॥
वे दूत आन ध्रुव-जननी से बोले—"यह रथ भिजवाया है ।
रानी, कुमार 'ध्रुव' को नृप ने रजधानी में बुलवाया है ॥
लालायित लोचन भूपति के मनवाञ्छित पा सुख पायेंगे ।
हम फिर कुमार को इसी जगह वापिस भी पहुँचा जायेंगे ॥"

ध्रुव-जननी कुछ समय तक करती रहीं विचार ।
फिर उठकर करने लगीं ध्रुव को तुरत तयार ॥

कुल-ऊँच-नीच को सोच-समझ सब भेद छिपाया रानी ने ।
'महाराज पिता हैं' यह ध्रुव को बिल्कुल न बताया रानी ने ॥
केवल बस इतना बतलाया—"बेटा, नृप ने बुलवाया है ।
कर कृपा उन्होंने बनवासी ऋषियों का मान बढ़ाया है ॥
जाओ निश्शङ्क चित्त होकर अपना ही वहाँ ठिकाना है ।
हम तपस्वियों के लिये पुत्र, जग में कुछ नहीं बिराना है ॥
बेपूछे बात न कहना कुछ जो कहना, समझाकर कहना ।
काटना न बात किसी की भी, पूरी होजाने पर कहना ॥
जो भेंट करें सो लेलेना, नम्रता सहित शिर नाकरके ।
करना न याचना कोई भी अपने जी से ललचाकरके ॥
देखना भूल मत करजाना, मृदु रहना भीतर-बाहर से ।
व्यवहार-वार्तालाप आदि—करना नृपति से आदर से ॥"

कर प्रणाम आशीस ले. मुनिजन को शिर नाय ।
भृत्यों के सँग चलदिए-ध्रुवकुमार हर्षाय ॥
मर्त्यलोक में चलरहा था—जब यों व्यवहार ।
होता था बैकुण्ठ में एक बड़ा व्यापार ॥

बैकुण्ठनाथ की सेवा में—सेवक आते और जाते थे ।
जिनको कि कुछ न कुछ करने को वे कार्य तुरन्त बताते थे ॥
था समारोह और धूम-धाम होती विशाल थी तैयारी ।
लक्ष्मी ने वह उद्योग देख-माना मन में विस्मय भारी ॥
आखिर पूछा नारायण से—"भगवन्, कैसा यह उद्यम है ?
किसलिए आपका सेवकदल इतना कररहा परिश्रम है ?
है निश्चय कोई बड़ा कार्य, आयोजन किया जारहा है ।
हो न हो आज तो लोक कोई, नूतन ही रचा जारहा है ॥"

मुसकाये यह बात सुन—नारायण भगवान ।
बोले—"तुमने ठीक ही किया प्रिये, अनुमान ॥
जो सदा निभाया करता हूँ, वैसी ही टेक निभाना है ।
इस बार निभाने को उसके—एक नूतन लोक बनाना है ॥
होनेवाला है भक्त एक, जैसा न हुआ है कभी कहीं ।
इस समय योग्य उसके कोई, महापद सृष्टि में लोक नहीं ॥
बहु भाँति सेवकों का मण्डल तत्पर जो यह दिखलाता है—
सो उसी भक्त के लिए मेरे एक नूतन लोक बनाता है ॥
यह होनेवाला भक्त मेरा पुरुषों में पुरुषोत्तम होगा ।
अबतक हैं जितने भक्त हुए उन सबमें सर्वोत्तम होगा ॥
इस हेतु लोक उसका यह, मैं सबसे ऊँचा बनवाऊँगा ।
अपने वैकुण्ठधाम से भी ऊँचा उसको पहुँचाऊँगा ॥
यह भेद तुम्हीं से कहता हूँ वह यहाँ तलक बढ़जायेगा ।
मैंने सबपर जय पाई है, पर वह मुझपर जय पायेगा ॥
उपयुक्त समय के आने पर सब भेद विदित होजायेगा ।
उर-अन्तर प्रिये, तुम्हारा भी पूरित पुलकित होजायेगा ॥"
विस्मय करने लग गईं लक्ष्मी होकर मौन ।
नारायण भगवान् की लीला समझे कौन ?
ध्रुवकुमार को भेजकर नृप समीप-सप्रीति ।
नित्य कर्म करने लगीं—अपना रानि सुनीति ॥
कल्पना-राज्य में कितने ही वे चित्र बनाती जाती थीं ।
कुछ गुन गुनकर मन ही मन में आनन्द मनाती जाती थीं ॥
प्राणों में उनके रह-रहकर एक सिन्धु मचलता आता था ।
नारी का हृदय उमङ्गों से अविराम उछलता जाता था ॥

माता की सन्तति प्रथम बार-जब पास पिता के जाती है ।
तब माता ही कह सकती है, माता कितना सुख पाती है ॥
हम तो बस यह कह सकते हैं—जीवनभर में इससे बढ़कर—
माता के लिए नहीं होता—दूसरा और कोई अवसर ॥
लेकिन, यह हर्ष न अधिक रहा, एकाएक चित्त मलीन हुआ ।
वह पुलकावलि लानेवाला सुखरूपी चन्द्र विलीन हुआ ॥
उर-अन्तर के गगनस्थल पर सहसा विषाद की घटा उठी ।
रानी की कोमल सरल प्रकृति—उत्पात देख छटपटा उठी ॥
तत्क्षण फिर बिजली-सी चमकी, मन में कुछ शंका कड़क उठी ।
बेटे की चिन्ता से माँ की ममता की ज्वाला भड़क उठी ॥
भीतर से कोई बोलउठा—'हे रानी, ध्रुव अकुलाया है ।
प्रतिकूल बात होजाने से चित ने उसके दुख पाया है ॥"
रानी इस आकस्मिक दुख से रहगई दुखी चित किए हुए ।
इतने में ध्रुव भी आपहुँचे—मुरझाया-सा मुख लिए हुए ॥

माता की मृदु मूर्ति के सम्मुख पहुँच कुमार ।
विकल बहाने लगगये—नयनों से जल धार ॥
माता भी वात्सल्य से—होउठीं बेचैन ।
ढल-ढल ढलकानेलगे—जल उनके भी नैन ॥

फिर सावधान होकर माता बोलीं—"क्यों अकुलाया बेटा
भरकर तो गया उमंगों में, जी भरेहुए आया बेटा ॥
क्या बात हुई? क्या क्लेश हुआ? बतलादे प्राणों के प्यारे ।
आँखों से नीर बहाने का कारण क्या आँखों के तारे?
इस धर्मराज्य में भी तुमको क्या किसी ने दुख पहुँचाया है?
धमकाया है, डरपाया है, या अनुचित वचन सुनाया है?'

अधिक नहीं रोका गया—भीतर का उद्गार ।
तीखे स्वर में रोष से कहनेलगे कुमार ॥
"क्या स्वाक्ष धर्म का राज्य है यह, जिस जगह धर्म आचार न हो !
जैसा है जिसके साथ उचित, वैसा उससे व्यवहार न हो ।
भूपति के निकट गया था मैं—साग्रह उनके बुलवाने पर ।
यह नहीं कि वहाँ गया होऊं—मैं भिक्षुक या याचक बनकर—
सो मेरे वहाँ पहुँचने पर छाती छलनी करनेवाले—
कुछ देर बाद रानी ने आ—मुझको दुर्वचन सुनाडाले ॥
बोलीं—'देखो तो ढीठपना, मन में इतराया है कैसा ।
नृप के ढिग जाकर बैठा है-निश्चित हो राजकुँवर जैसा ॥
उठ, उतर अभी सिंहासन से या नहीं तो मैं ठुकरादूंगी ।
फिर कभी न आना, आया तो निश्चय धक्के दिलवादूंगी ॥
ओ मूर्ख, तुझे यह विदित नहीं, बैठा है तू इस समय जहाँ ।
मुझसे उत्पन्न पुत्र जो हो, बस वही बैठ सकता है वहाँ ॥
तेरा इतना सौभाग्य नहीं, तू जग में महा अभागा है ।
उस जननी का तू जाया है, जिसको स्वामी ने त्यागा है ॥"
रानी के कटु वचन यह तुरत होगए पार ।
मर्मस्थल करनेलगा भीषण हाहाकार ॥
भूपति भी बैठे रहे—मौन हुए गम्भीर ।
उन्हें देख, उस भाव में बढ़ी और भी पीर ॥
हो जिस राजद्वार में-यह निन्दित व्यवहार ।
ऐसे राजद्वार पर लाख बार धिक्कार ॥
मैं इसी समय इस आश्रम के मुनियों को जा बतलाता हूँ ।
राजा-रानी ने किया है जो, उसका निर्णय करवाता हूँ ॥

यदि दोनों दोषी सिद्ध हुए तब मौन न मैं रहजाऊँगा ।
जीवन भर पश्चाताप करें, ऐसा एक शाप दिलाऊँगा ॥
रानी के विषमय वचन वाण तीखा आघात करगये हैं ।
पर्दे पर्दे में प्राणों के अगणित सन्ताप भरगये हैं ॥
जबतक न सतानेवालों को भरपूर दण्ड मिलजायेगा ।
तबतक न हृदय के भीतर का यह दाह शान्त होपायेगा ॥"

बाणी द्वारा कर प्रकट अन्तस्तल की पीर ।
फिर बहचला कुमार के युगल नयन से नीर ॥
ध्रुव-जननी ने उस समय क्षणभर किया विचार ।
फिर यों बोलीं पुत्र से धीरज दे पुचकार ॥

"बेटा, मन से दुख दूर करो, समझो जो मैं समझाती हूँ ।
अब तक जो नहीं बताया था, वह भेद आज बतलाती हूँ ॥
महाराज और महारानी से है पुत्र, तुम्हारा नाता है ।
हैं पिता तुम्हारे महाराज महारानी है सो माता है ॥
माता और पिता सदा जग में पूजा के योग्य कहाये हैं ।
सन्तान को यह भगवान् और भगवती-सदृश बतलाये हैं ॥
मैं पूछती हूँ तुमसे बेटा, तुम किसको दण्ड दिलाओगे ?
क्या पिता और माता को ही मुनियों से शाप दिलाओगे ?"

माता के इस भाँति से सुनकर वचन कुमार ।
चकित होउठे चित्त को विस्मय हुआ अपार ॥

बोले -"यह क्या सुनता हूँ मैं ? माता, क्या मुझे सुनाती हो ?
यह बातें कहीं स्वप्न में तो तुम मुझे नहीं समझाती हो ?
यदि मैं राजा का बेटा हूं तो तुम भी महल निवासिनि हो ।
किसलिये यहां फिर रहती हो, बनवासिनि और उदासिनि हो ?

रानी यदि मेरी माता है तो क्यों इतना रिसियाती है !
माताएँ अपने बेटों को क्या यों कटु वचन सुनाती हैं !"

ध्रुव-जननी ने इस समय हो लाचार नितान्त ।
लज्जा-घृणा आदि से कहडाला वृत्तान्त ॥

फिर बोलीं-'बेटे, माता ने जो दुःख तुम्हें पहुँचाया है ।
उसके मन की बीमारी ने यह अनुचित कार्य कराया है ॥
कितने वर्षों से आज उसे यह दुखदायी बीमारी है ।
माता इस बीमारी से ही रहती निशिदिन दुखियारी है ॥
सन्देह मुझे यह होता है यदि अधिक बढ़ी यह बीमारी ।
तो आत्मघात करले न कहीं-बेटे, दुखिया यह महतारी ॥
माता के उन कटु वचनों को हे वत्स, तुम्हें सहजाना है ।
तुम बेटे हो, इसलिए तुम्हें-बेटे का धर्म निभाना है ॥

※ गाना ※

बेटे का तुम्हें बच्चे, अब धर्म निभाना है ।
अनुचित अधीर होना या क्रोध दिखाना है ॥
माता कठोर होकर कटु बैन भी सुनादे ।
आदर से तुम्हें फिर भी निज शीश झुकाना है ॥
कड़वी दवा हैं कड़वे माँ बाप के वचन सब ।
वो पीलना इन्हें बस, बालक वोह सयाना है ॥"

—:o:—

ध्रुव-जननी ने इस तरह विमल भाव दिखलाय ।
ध्रुव के क्रोधित चित्त में करुणा दी उपजाय ॥
बोले ध्रुव-"तो फिर कहो-माता, कोई उपाय ।
जिससे रानी मातु का मनोरोग मिटजाय ॥

मैं शपथ ग्रहण कर कहता हूँ-आलस्य न चित में लाऊँगा
रानी माँ यदि दुखमें है तो, मैं उनका दुःख मिटाऊँगा ॥

सुख-पूर्वक समय बिताने का फिर से सब बानक बनजाये ।
घरभर का दुख मिटजाये तो जीवन यह सुखमय कहलाये ॥
केवल तुम इतना बतला दो माँ, कैसे क्लेश नसायेगा ।
जो भी उपाय होगा उसके करने में ध्रुव लग जायेगा ॥"

पुलकि प्रफुल्लित होउठीं सुन यह वचन सुनीति ।
फिर बोलीं यों पुत्र से मधुर वचन सप्रीति ॥

"हे पुत्र, एक ही है उपाय, जिससे कि दुःख हटजायेगा ।
तुम नारायण का स्मरण करो तो सब सङ्कट कटजायेगा ॥
है उनकी बड़ी अपार शक्ति, वे जो चाहें कर सकते हैं ।
यह क्या है इससे भी ज्यादा दुख क्षण में वे हर सकते हैं ॥
उनको पुकारकर ही बेटा, यह कहो कि दुख से त्राण करें ।
दें सुमति तुम्हारी माता को, सारे घर का कल्याण करें ॥
सच्चे मन से जो जहाँ जभी प्राणी उनको गुहराते हैं ।
बस तहाँ तभी आकर्षण से आतुर हो वे खिंच आते हैं ॥
जो अपना तन, मन, धन, जीवन उनको अर्पण करदेते हैं ।
उनकी वे विपति विदारण कर सम्पति से घर भरदेते हैं ॥
तुम निर्मल चित हो, बालक हो, वे तुम्हें शीघ्र अपनायेंगे ।
यदि दया उन्होंने दिखलाई तो पल में दिन फिर जायेंगे ॥"

जननी के यह वाक्य थे-मानो मन्त्र-समान ।
जागा ध्रुव के हृदय में उनसे अद्भुत ज्ञान ॥
सुना एक दिन देश ने समाचार चहुँ ओर ।
यमुना-तीर कुमार ध्रुव तप कररहे कठोर ॥

घर-घर नर-नारि चकित होकर प्रतिदिन चर्चायें करते थे ।
वर्णन करते थे उस विधि का, जिस विधि से ध्रुव आचरते थे ॥

कुछ कहते थे-"सुनते होजी, ध्रुव फल ही खाकर रहते हैं ।"
उत्तर मिलता था -"नहीं-नहीं, वे पात चबाकर रहते हैं ॥"
तब और लोग कहउठते थे-'यह तो सब बीती बातें हैं ।
इस समय पवन-भक्षण करके-वे निराहार रहजाते हैं ॥"
इतने में आती थी आवाज-'क्या कहते हो जी, पवन कहां ?
अब पवन-त्याग देने का भी कररहे हैं ध्रुव अभ्यास वहां ॥'
विस्मय में आकर सभी कहने लगते लोग ।
"इस छोटी-सी उम्र में ऐसा दारुण योग ॥'
दिन अठवारे पुनि पखवारे, फिर मास-वर्ष करके ज्यों-ज्यों ।
बीतता समय था तप करते, ध्रुव निश्चल होते थे त्यों त्यों ॥
वर्षों पर वर्ष बीतगयीं पर नियम न ध्रुव का भङ्ग हुआ ।
क्रम-क्रम से उनके उस तप का अति उग्र और भी ढङ्ग हुआ ॥
तब घबराउठी समस्त सृष्टि, सुरमण्डल त्राहि पुकार उठा ।
नारायण का वैकुण्ठलोक हल-चल कर हिल एक बार उठा ॥
लक्ष्मी से नारायण इतना कहकर उठगये कि-"जाता हूँ ।
जिसको वह लोक बनाया है, उसको सन्तुष्ट बनाता हूँ ॥
या नहीं तो क्षण भर में सारी माया वह क्षय होजायेगी ।
चर-अचर ध्वंस होजायेंगे, आज ही प्रलय होजायेगी ॥"
ध्रुव के अन्तःकरण में हुआ प्रकाश अनूप ।
प्रकटा उसी प्रकाश में चतुर्भुजी एक रूप ॥
उस दिव्यरूप के दर्शन में ध्रुव का मन ज्योंही लीन हुआ ।
त्योंही अन्तर के भीतर से क्षण में वह रूप विलीन हुआ ॥
चञ्चल हो ध्रुव निज नेत्र खोल, देखने लगे जब इधर-उधर ।
त्यों ही देखा कि उपस्थित है-आँखों-आगे वह रूप सुघर ॥

उस दिव्यरूप के चरणों में ध्रुव ने निज मस्तक झुका दिया ।
ध्रुव का उस रूप ने हाथ बढ़ा, छाती से अपनी लगा लिया ॥
फिर अमृत सरिस मीठे स्वर में बोला वह रूप हृदयहारी ।
हे बाल तपस्वी, धन्य तुम्हें, साधना आज सार्थक सारी ॥
तुमने जब अपना किया मुझे, तो मैंने अपना किया तुम्हें ।
तुमने जब सब कुछ दिया मुझे तब मैंने सब कुछ दिया तुम्हें ॥
हे वत्स, तुम्हारे ही निमित्त सब पलट दिया है रंग मैंने ।
जिससे सुख तुम्हें मिले वैसा, कर दिया है जग का ढंग मैंने ॥
जिसने कटु वचन सुनाए थे वह अब मृदु वचन सुनायेगी ।
हे पुत्र, तुम्हारी रानी-माँ-उर से अब तुम्हें लगायेगी ॥
इतना ही नहीं तुम्हारे हित मैंने एक लोक रचाया है ।
इस लोक से जाकर रहने को खतिर वह लोक बनाया है ॥
ध्रुव होकर लोक रहेगा वह ध्रुव-लोक बखाना जायेगा ।
जबतक हैं जग में चन्द्र-सूर्य तबतक वह शोभा पायेगा ॥
आशीर्वाद यह है मेरा-अब तुम्हें न कहीं अकाज रहे ।
तुम राजा होकर राज करो, वह राज धर्म का राज रहे ॥"

प्रभु अन्तर्हित होगये कहकर इतनी बात ।
तब ध्रुव ने देखा खड़ी-सम्मुख रानी मात ॥

नारायण ने कहदिया था जो बस वही दृश्य सम्मुख आया ।
रो-रोकर रानी माता ने ध्रुव को छाती से लिपटाया ॥
फिर कहा-"मेरे अच्छे बेटे, यह माता मरी जारही है ।
पश्चात्ताप की ज्वाला से जीते जी जली जा रही है ॥"
पहले के उन दुर्वचनों को मन से बिसराकर माता के ।
जो हों अपराध क्षमा करदो हे पुत्र, कृपाकर माता के ॥"

सुनकर जननी के वचन ध्रुव होपड़े अधीर ।
चरण चापकर रहगये नयनों में भर नीर ॥
तभी सुनीति-सहित वहाँ आपहुँचे महाराज ।
मन्त्री भी थे साथ में, था कुछ प्रजा-समाज ॥
लेखनी नहीं कह सकती है; उस समय वहाँ कितना सुख था ।
उतना ही सुख था व्याप्त वहाँ, जितना पहले व्यापा दुख था ॥
उस सुख-परिपूर्ण समय में ही सुख और बढ़ाया भूपति ने ।
गद्गद् चित होकर राज-मुकुट ध्रुव को पहनाया भूपति ने ॥
जिस समय नृपति के हाथों से यह समयोचित उपचार हुआ ।
'तब महाराज ध्रुव की जय हो', जनता में यों जयकार हुआ ॥
ध्रुव ने यह दिखला दिया—है हरि-भजन प्रधान ।
जो जन है भगवान का, उसके हैं भगवान ॥

❀ गाना ❀

भजन करले रे ओ मति-मन्द !
भजन किये से ही कटते हैं दारुण दुख के फन्द ॥ भजन० ॥
भजन बिना यह उर अन्तर के लोचन रहते बन्द ।
निशि वासर घेरे रहते हैं माया के बहु द्वन्द ॥ भजन० ॥
हैं जो अजर, अमर, अविनाशी, बन्धन से स्वच्छन्द ।
भजन किए से वश होजाते वही सच्चिदानन्द ॥ भजन० ॥
भक्ति भाव का भव्यनिदर्शनयह ध्रुव चरित अमन्द ।
मोहनिशा में जगजीवन की चमके जैसे चन्द ॥ भजन० ॥

❀ इति ❀

"सावित्री-सत्यवान्"

ऐसी कौन हिन्दू नारी होगी जिसने "सावित्री" का नाम न सुना हो ? प्रतिवर्ष ज्येष्ठ के महीने में अमावास्या के दिन प्रत्येक सौभाग्यवती हिन्दू ललना "सावित्री" का पूजन करती और अक्षय सुहाग का वर मांगती है ।

"सावित्री" की कीर्ति अमर है । क्यों ?

बात मामूली नहीं है । यमराज से आज तक किसी की पेश नहीं गई । पर "सावित्री" ने उन्हें भी मात दे दिया ।

हुआ यह कि "सत्यवान्" को "सावित्री" अपना पति मान चुकी थी । नारदजी के यह कहने पर भी कि–सत्यवान् की उम्र थोड़ी ही है, वह अटल रही और सत्यवान् ही से विवाह किया । आयु की समाप्ति पर यमराज आए और सत्यवान् के प्राण खींच कर चलते हुए । सावित्री उनके पीछे पीछे चली । यमराज उसे लौटाने लगे पर वह न लौटी । उसे धन, ऐश्वर्य, प्रभुता आदि के वरदान उन्होंने दिए, पर उसने कोई भी वरदान स्वीकार न किया । यमराज बड़े हैरान हुए । उन्हें सूझ न पड़ा कि क्या करें । सोच विचार में वे इतने खो गए कि एक मौके पर उनके मुँह से निकल गया –"जा, तुझे पुत्रवती होने का वरदान देता हूँ" । इतना सुनना था कि सावित्री ने लपक कर यमराज का दुपट्टा पकड़ लिया । बोली- "महाराज, जिसके पति का आपने हरण किया उसे पुत्रवती होने का वरदान कैसा ? वरदान क्या यह तो शाप है" । अब यमराज को होश आया कि वे क्या कह गए । आखिर उन्हें सत्यवान के प्राण छोड़ना पड़े, और सावित्री का सुहाग उसे वापिस मिला ।

बस यही चमत्कारिणी कथा इस पुस्तक का विषय है । स्त्रियों के पढ़ने और आनन्द लेने की खास चीज है । बरमावस के दिन तो वट सावित्री के पूजन के बाद इसका पाठ और कथा अवश्य ही हिन्दू महिलाओं में होना चाहिए ।

यह कथा राधेश्याम रामायण की तर्ज में है और उसी तरह बाजे और तबले के साथ गाई जा सकती है ।

मूल्य, सिर्फ ४४ नए पैसे ।

पता—

श्रीराधेश्याम पुस्तकालय, बरेली ।

(उत्तरार्द्ध)

लेखक—
श्रीयुत शङ्करसहाय, बी० ए०

सुदामा-चरित्र

सम्पादक—
नेपाल गवर्नमेण्ट से "कथावाचस्पति" की पदवीप्राप्त—
कीर्तनकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—
पं० राधेश्याम कथावाचक

प्रकाशक—
श्रीराधेश्याम-पुस्तकालय, बरेली

बारहवींबार २०००]   सन १९६१ ई०   [मूल्य ४४ नये पैसे

मुद्रक—पं० रामनारायण पाठक, श्रीराधेश्याम प्रेस, बरेली।

संसारी सुख को स्वप्न समझ हरि-ध्यान में दम्पति रहता था ।
बिन माँगे जो मिलता खाता, चुपचाप दुखों को सहता था ॥
जलजात जिस तरह जल में रह, निर्लिप्त सदा रहता जल से ।
त्योंही जग में यह अजग रहें, तृष्णा-मोहादिक के दल से ॥
थे पुत्र चार इनके घर में चारों ही आज्ञाकारी थे ।
धर्म्मालङ्कार-धर्म्मभूषण — धर्मेन्द्र — धर्म्म-अवतारी थे ॥

चारों पुत्रों के सहित, दैवयोग एक बार ।
बीते पूरे दो दिवस बिना मिले आहार ॥
तीजे दिन प्रिय पुत्र जब, रोये होकर दीन ।
उन्हें बिलखते देखकर, माता हुई मलीन ॥

होगये अश्रु से पूर्ण नेत्र, ज्यों कमल युक्त हों हिम-कण से ।
अथवा प्रपूर्ण हो ज्यों सीपी, उज्ज्वल निर्मल मुक्तागण से ॥
रुक सके न पृथ्वी पर टपके, आँखें, ज्यादा भर आने पर ।
जैसे मोती गिरने लगते, तागा खण्डित होजाने पर ॥
मानो वह अकथ अवस्था लख व्यवधान होगया वाणी का ।
अथवा आँसू की सरिता में अवसान होगया वाणी का ॥
कितने ही क्षण उपरान्त हुआ कुछ सुस्थिर मन उस वनिता का ।
वर्षा का वेग उतरने पर, हो निर्मल जल ज्यों सरिता का ॥

बोली पति के चरण पर सती नवाकर माथ ।
"सुनो प्राणपति, प्राणधन, प्राणों के प्रिय नाथ ॥

हम हरि के गुण नित गाते हैं फिर भी लाले हैं खाने के ।
महिमामय के सेवक होकर, मोहताज हैं दाने दाने के ॥
आराध्य हैं अपने लक्ष्मीपति तो भी दारिद्रय न जाता है ।
. है जो दिन पर दिन निर्धनपन हमें सताता है ?"

हुई ब्राह्मण–हृदय से सहसा एक झङ्कार ।
जिस प्रकार मिज़राब से, छिड़ जाता है तार ॥
कहा सुदामा ने–"प्रिये, क्यों करती हो सोग ?
है इसमें कुछ मसलहत या कर्मों का भोग ॥

यह निर्धन-पन के दिन जो हैं, सो नहीं हमें दुख देते हैं ।
अपने भक्तों की इसी तरह, भगवान् परीक्षा लेते हैं ॥
हम तो सेवक भगवान् के हैं लक्ष्मी से हमको काम है क्या ?
है रमा राम ही की रमणी, हमको उससे आराम है क्या ?
हम तो उस ऋषि के कुल में हैं, जिससे झगड़ा है लक्ष्मी का ।
लक्ष्मीपति के कारण जिसको बस शाप लगा है लक्ष्मी का ॥
धन-धामों में क्या रक्खा है ? आनन्द है तृष्णा खोने में ।
सन्तोषपूर्वक रहने में निष्काम उपासक होने में ॥

❀ गाना ❀

हमें धन से है मतलब क्या ? हैं हम तो राम के बन्दे ।
रहा करते नहीं प्यासे कभी घनश्याम के बन्दे ॥
त्रिलोकी की भी सम्पति हो तो उसको मार दें ठोकर ।
हैं हम उस द्वार के सेवक, हैं हम धाम के बन्दे ॥
कभी मरते नहीं दुनिया के झूठे नाम पर, धन पर ।
जो हैं हरिनाम के प्रेमी, जो हैं हरिनाम के बन्दे ॥
सदा अलमस्त रहते हैं, सदा आनन्द करते हैं ।
सब उनके काम पूरण हैं, जो पूरणकाम के बन्दे ॥
उन्हें जग में सताते हैं, न दुख या क्लेश किञ्चित् भी ।
जो हैं श्रीकृष्ण, राधेकृष्ण राधेश्याम के बन्दे ॥"

—:o:—

पति के ऐसे वाक्य, सुन हुई निरुत्तर नार ।
फिर भी दबी जबान से बोली -"हे भर्तार !
अबतक निर्गुण के गुण गाये, अब सगुण से जा साक्षात करो ।
उस विपत्-विदारन-हारे से, दो-दो विपत्ति की बात करो ॥
मैंने तो यह सुन रक्खा है—दुख-हरण भक्तवत्सल हैं-वे ।
निर्गुण के गुण निर्धन के धन निर्बल के बल निर्मल हैं वे ॥
दुख मित्र का देख नहीं सकते, ऐसे दयालु सुखदाई हैं ।
फिर आपके तो हमजोली हैं, सहपाठी हैं गुरुभाई हैं ॥
जब ऐसे उनसे नाते हैं, तो जाओ उनके पास पिया ।
वे कमलापति कहलाते हैं, बस जाओ उनके पास पिया ॥
जब दशा तुम्हारी देखेंगे तो वे अपना सा कर लेंगे ।
तबियत उस समय हरी होगी जब हरी दीनता हर लेंगे ॥"
भाई ब्रह्मण को नहीं, पत्नी की यह बात ।
बोले—"तृष्णा ने किया, व्याकुल तेरा गात ॥
तृष्णा सब दुःखों की जड़ है, तृष्णा माया का फन्दा है ।
वह बन्धन-मुक्त नहीं होता, जो इस माया का बन्दा है ॥
ऐसी तृष्णा के वश होकर द्वारकापुरी यदि जाऊँ मैं ।
क्या समझेंगे भगवान् मुझे, कैसे मुँह उन्हें दिखाऊँ मैं ?
माँगना काम है छोटों का, मङ्गते न आदर पाते हैं ।
भगवान् भी छोटे होते हैं, जब बलि के द्वारे जाते हैं ॥
चन्द्रमा सूर्य का मँगता हो उस समय रोशनी पाता है ।
जब पहले उसके माथे पे काला धब्बा लग जाता है ॥"
नारी बोली—"ठीक यह लेकिन सुनिए नाथ ।
लज्जा रखते हैं कहीं, मित्र मित्र के साथ ?

अपने से अपना दुख कहना, क्या अनुचित काम कहाता है ।
जन माँगे अगर जनार्दन से, तो नहीं अधर्म कहाता है ॥
फिर उस प्रभु से क्या सकुचाना, जो दीनों की सुधि लेता है ?
है बड़ा दयानिधि विश्वम्भर, पशु पक्षी तक को देता है ॥

❋ गाना ❋

बड़े हैं वे करुणा-आगार ।
उन्हीं पर है अपना आधार ॥
जरा खटखटाते ही उनका खुल जाता है द्वार ।
और भर देते हैं भण्डार ॥
मैया भी देती नहीं बिन माँगे से छीर ।
कर न बढ़ाओ जब तलक, नदी न देती नीर ॥
उठो इसलिये जीवनाधार ।
करेंगे वे निश्चय उद्धार ॥"

भाँति भाँति से जब किया, नारी ने लाचार ।
उट्ठे बुड्ढे विप्रवर, लोटा डोर सँभार ॥
फिर कुछ ठिठके और कहा—"खाली कैसे जाउँ ?
बाल-सखा की भेंट को, क्या पदार्थ ले जाउँ ?"
घनगर्जन सुन मोर जिमि, जिमि चकोर लख चन्द।
तिमि पति के यह बैन सुन, नारि हुई सानन्द ॥
लाई माँग पड़ोस से, चावल मुट्ठी चार ।
लत्ते में झट बांध के, बोली—"लो भर्तार ॥"
दाब बगल में पोटली कर गणपति का ध्यान ।
चले सुदामा द्वारका, बात प्रिया की मान ॥

* गाना *

ध्यान धर मन में गिरिधर को, सुदामा चले मित्रघर को।
नहीं पन्हैयाँ पाँव में, देह वस्त्र से हीन।
जात सुदामा द्वारका, मुख मलीन तन छीन॥
भेंटने श्रीमुरलीधर को, सुदामा चले मित्र घर को॥
फटी पगड़िया माथ पे, लिए लकुटिया हाथ।
दिए पुटरिया काँख में लुटिया डुरिया साथ॥
सुमिरनी पर सुमिरत हरि को, सुदामा चले मित्र घर को॥
'कैसे मोहि पहिचानिहैं, कृष्णचन्द्र महाराज?
वे राजन् के राज हैं, मैं गरीब मोहताज?"
सोच था यह ही द्विजवर को, सुदामा चले मित्रघर को।
तृष्णा मोहि व्यापे नहीं, लगे आप में ध्यान॥
माया में मन नहि फँसे, हे हरि दयानिधान।
दीजिए यह वर 'शङ्कर' को सुदामा चले मित्र घर को॥

— ० —

वासुदेव मन में बसें नहीं वासना और।
नारि-वचनवश तदपि द्विज, चले द्वारका दौर॥
कृष्ण–पुरी नियरा गई, तीन प्रहर उपरान्त।
कितना प्यारा धाम था सुन्दर, निर्मल, शान्त!!

था चारों ओर शान्त सागर, उस स्वर्ण कोट से मिला हुआ।
मानो हरिधाम के चरणों में, पुलकाया जन था पड़ा हुआ॥
नीले समुद्र से घिरे हुए गृह यों मणि-जटित प्रकाशित हैं।
अम्बर मे जैसे रात्रि-समय, तारागण होते शोभित हैं॥
बारह योजन विस्तृत नगरी, सुरपुर के लिए लजाती थी।
क्या वर्णन हो उसका जिसमें लक्ष्मी प्रत्यक्ष सुहाती थी?"

जिस गृह पै दृष्टि पड़े वह ही, जड़ रहा मोतियों लालों से ।
सब नगरी जगमग होती थी, हीरों पन्नों, पुखराजों से ॥
सोलह हजार एक सौ आठ, थे महल कृष्ण-कामिनियों के ।
गज गामिनियों, दामिनियों के, सौभागिनियों, भामिनियों के ॥
इन सब महलों में आठ महल, मृगमद-समार से सुरभित थे ।
पटरानी उसमें रहती थीं, वे सबसे ज्यादा सजित थे ॥
रुक्मिणी, सत्यभामा दोनों, माधव को अतिशय प्यारी थीं ।
दोनों अति प्रेमपरायण थीं, दोनों अति सुन्दर नारी थीं ॥
लक्ष्मणा, मित्रविन्दा, सत्या, भद्रा, कालिन्दी, जाम्बुवती ।
सब मृगनयनी, सब पिकवयनी थीं पतिभक्ता सुन्दरी सती ॥
उस लीलामय योगेश्वर की, सब प्रकृति-स्वरूप सुरतियाँ थीं ।
थे परम पुरुष तो वेदरूप, नारियाँ वेद की श्रुतियाँ थीं ॥

इसी द्वारकाधाम में, पहुँचे जब द्विजराज ।
भूल गये संसार को, देख वहाँ का साज ॥

अगणित रमणीय वाटिकाएँ, चहुं ओर सुगन्ध भररही थीं ।
प्यारा प्यारा कलरव जिनमें, पक्षी-मण्डली कर रही थीं ॥
सुस्फटिक शिला के बने हुए, नाना बावली सरोवर थे ।
फूले थे अमल कमल जल में, मँडराते उनपर मधुकर थे ॥
कञ्चन के कलसे जल से भर, कुल कामिनियाँ इठलाती थीं ।
क्रीडा कर कहीं नहाती थीं, केशों को कहीं सुखाती थीं ॥
गौरी-मन्दिर में जा-जाकर, विधिपूर्वक पूजा करती थीं ।
पति, पुत्र और राजा के हित, व्रत-तप-उद्यापन करती थीं ॥
यह दृश्य देखते हुए विप्र, हरि-मन्दिर के द्वारे पहुँचे ।
लक्ष्मी-निधि के दर्वाजे पर, के सरस्वती-प्यारे पहुँचे ॥

रोक-टोक कुछ थी नहीं, लांघी ड्योढ़ी तीन ।
चौथी ड्योढ़ी पर स्वयं, ठहरे ब्राह्मण दीन ॥
द्वारपालियों से कहा—"जाउ खबर पहुँचाउ ।
मित्र सुदामा ब्राह्मण, आये हैं कह आउ ॥"
कर प्रणाम द्विजराज को बोल उठे दर्बान—
"धन्य भाग टहलुओं के, आये जो भगवान ॥

विप्रों के अन्दर जाने की, कुछ रोक-टोक है यहाँ नहीं ।
सब विप्र वहाँ जा सकते हैं, द्वारकानाथ हैं जहाँ कहीं ॥
पर आप आज्ञा देते हैं, तो हम 'मालूम' कराते हैं ।
संवाद आपके आने का, राजेश्वर तक पहुँचाते हैं ॥"

खास महल में उस समय, थे द्वारकानरेश ।
द्वारपाल पहुँचा वहाँ, कहने यह संदेश ॥

एक रत्नजटित सिंहासन पै, आसीन थे गोवर्द्धनधारी ।
चौसर में–साथ रुक्मिणी के–तल्लीन थे गोवर्द्धनधारी ॥
नीलाम्बर-सदृश श्यामतन पै, सोहे पीताम्बर रेशम का ।
सूरज को लजित करता था, चमका चमका जिसका चमका ॥

उसी समय शिर को झुका, सेवक बोला बैन ।
"विप्र खड़ा एक द्वार पै, सुनिए करुणाऐन ॥

जर्जर शरीर, लकुटी के बल, कुछ ढलती हुई अवस्था भी ।
मुख से होरही प्रकट स्वामिन् कुछ सकुचाहट कुछ चिन्ता भी ॥
सर पर पगड़ी के चिथड़े हैं, धोती भी फटी पुरानी है ।
पोटरी काँख में एक दबी, सब देह धूँरियाधानी है ॥
इस दशा में भी निर्धनता की, कुछ स्वाभिमान है सूरत पर ।
प्रत्यक्ष झलकता ब्रह्म-तेज, बूढ़े ब्राह्मण की मूरत पर ॥

जब नाम आपका सुनता है, तो गद्गद् सा हो जाता है ।
श्रीमान् राजराजेश्वर का, अपने को मित्र बताता है ॥"

"नाम ?"—अचानक पूछने लगे जभी सुखधाम ।
सेवक के मुख से गया निकल 'सुदामा' नाम ॥
"ओह !-सुदामा, ब्राह्मण वृद्ध 'सुदामाराय' ।
मित्र सुदामा देव"-कह, उट्ठे हरि पुलकाय ॥

क्या जिक्र गोट का चौसर का, सुधि अपनी भूले मनमोहन ।
सुन बालसखा का नाम आज, मोहित होगये मदनमोहन ॥
पीताम्बर से पग उलझ गया, उलझो, उसका कुछ ध्यान नहीं ।
गिरने दो लकुटी गिरती है, लकुटी गिरने का ज्ञान नहीं ॥

दौड़े द्वारे की तरफ़ तुरत द्वारकानाथ ।
'मित्र सुदामा आगये'—इस पुकार के साथ ॥

घनश्याम से प्रथम सुदामा, था घनश्याम सुदामा से पहले ।
लेखनी नहीं बतला सकती, दोनों में कौन मिले पहले ॥
फिर मिले फिर मिले, खूब मिले दिल खोल-खोलकर दोनों ही ।
लिपटे, फिर लिपटे, फिर लिपटे अत्यन्त प्यार से दोनों ही ॥

गिरे विप्र के पाँव पै, फिर गोविंद हर्षाय ।
खास महल में ले चले, साथ साथ सुखदाय ॥

उस रत्न-जटित सिंहासन पै-अपने द्विज को आसीन किया ।
फिर सेवा में द्विजराई की, खुद अपने को लवलीन किया ॥
उन कमल-सरीखे हाथों से, काँटे खींचे द्विज चरणों के ।
उस पीताम्बर से बार-बार तलुवे पोंछे द्विज-चरणों के ॥
फिर स्वर्णपात्र में नीर मँगा, पग धोने लगे दयासागर ।
दीनता मित्र की देख, देख, बस रोने लगे दयासागर ॥

❀ गाना ❀

बाल-सखा की दशा अवलोक,न रोक सके जल नैन के कोये ।
बाहर आवन को तब ही, अँसुओं ने मही पर मार्ग टटोये ॥
नीर को काम कियो नहिं पै,'शङ्कर'इस भाँति दयानिधि रोये ।
झारी धरी ही रही बसुधा पर, आँसुन से पद-पङ्कज धोये ॥
मित्र की ओर लगे अवलोकन,बोलि के वाक्य सुधा-रस पागे ।
"काहे भुलाय दियो हमको" यों कह पुनि पाँयन में अनुरागे ॥
बोले-"शरीर ये धूरि में देखि के, धीरज हू तन धीरज भागे ।
हाय ये ! पाँव बिवाई भरे,कुश—कण्टक हूँ जिनमें बहु लागे ।"

—:०:—

लगे सुदामा सोचने—"दूर हुआ भ्रम आज ।
सचमुच दीनदयालु हैं, लक्ष्मीधर महाराज ॥
मैं नारी से यह कहता था, यदुपति मानेंगे हमें नहीं ।
वे बड़े आदमी राजा हैं, अब पहचानेंगे हमें नहीं ॥
पर वह तो सेवक से ज्यादा, सेवा करते हैं निज जन की ।
आदर्श मित्रता-सूचक है, यह लीला श्रीयदुनन्दन की ॥"
यही सोचकर इधर जब, हर्षित थे द्विजराय ।
सेवा विधिवत् उधर तब, करते थे सुखदाय ॥

❀ गाना ❀

सुगन्धित शीतल जल से स्नान, करा के हरि ने अपने हाथ ।
पिन्हाया पीताम्बर कर मान, बिठाया स्वर्ण-पाट पर साथ ॥
हुआ षट्रस-भोजन तैयार, लगा तब सुन्दर कञ्चन थाल ।
किया जब द्विजवर ने आहार, खड़े मनुहार करें गोपाल ॥
कभी पखा झलते यदुराय, परसते कभी मधुर पकवान ।
खिलावें पुनिपुनि शपथ दिलाय,'और यह'-कह-कह के भगवान ।
पूर्ण जब तृप्त हुए द्विजराय,दिया कर धुला, पान प्रभु आप ।
रत्न सिंहासन पै बिठलाय, लगे करने हरि वार्तालाप ॥

किया करते शिव जिनका ध्यान, देवगण के जो हैं आराध्य ।
भक्त-मन-मानस जिनका स्थान, मुक्ति के साधन जिन से साध्य ॥
जानते विरले जिनका स्पर्श, वही लोकेश जनों के नाथ ।
दिखाने लगे उच्च 'आदर्श' भेंट यों करके द्विज के साथ ॥
दृश्य वह देख नेत्र-अभिराम, योगि-जन गये अपनपौ भूल ।
बजा दुन्दुभी तभी सुरधाम, लगा बरसाने सुन्दर फूल ॥

—:o:—

मित्र सुदामा का इधर, पूजन करें मुरारि ।
उधर परस्पर बात यूँ, करती थीं सब नारि ॥
"बहना, देखो इनकी लीला, सचमुच यह लीलाधारी हैं ।
इनको वे परम पियारे हैं, जो जग में दीन दुखारी हैं ॥
उनको यह मित्र समझते हैं, जो नंगे भूखे रहते हैं ।
उनके यह आश्रयदाता हैं, जो दुख पर दुख नित सहते हैं ॥
बचपन में ग्वाले कहलाकर, बन बन में गाय चराते थे ।
दधि-माखन ऐसा प्यारा था चोरी कर-करके खाते थे ॥
शत्रुता कंस राजा से की, मित्रता ग़रीब अहीरों से ।
ठुकराते रहे अमीरों को, रग़बत की सदा फ़क़ीरों से ॥
अब भी द्वारकाधीश होकर, पूजा करते हैं निर्धन की ।
यह शान है देखो तो बहना, गिरिवरधारी यदुनन्दन की ॥
सचमुच उदार हैं राजेश्वर, सचमुच दयालु हैं राजेश्वर ।
देखो न कृपाभाजन है जो, उस पै कृपालु हैं राजेश्वर ॥
हम सब सचमुच बड़भागिनि हैं जो ऐसे स्वामी पाये हैं ।
दुनिया जिनसे शिक्षा लेगी ऐसे यह चरित सुहाये हैं ॥"
आपस में यह ही चर्चा कर बलिहारी जाती थीं रानी !
प्रभु के चरित्र को देख-देख फूली न समाती थीं रानी ॥

उधर कर रहे दयानिधि ब्राह्मण का सम्मान ।
बोले आदर के सहित, इस प्रकार भगवान ॥

हे मित्र, याद होगा तुमको, जब गुरु के घर हम रहते थे ।
विज्ञान, नीति, धर्मादि शास्त्र. 'सान्दीपन' जी से पढ़ते थे ॥
मेरे पढ़ने के अवसर पर तुम नित्य सहायक रहते थे ।
गुरु का वह काम तुम्हीं करते, जिसको वह मुझसे कहते थे ॥
प्रायः गुरु-सेवा में हम तुम, लेते थे भाग बहुत ज्यादा ।
करते थे हम दो शिष्यों पर गुरु भी अनुराग बहुत ज्यादा ॥
लकड़ियें काटने को वन में प्रायः हम तुम ही जाते थे ।
इस आज्ञा को, इस सेवा को सादर हम शीश चढ़ाते थे ॥
उस दिवस याद है ? जब वन में सर्दी अत्यन्त पड़ रही थी ?
पुरवाई खूब चल रही थी, अम्बर से झड़ी झड़ रही थी ?

तुमने ही ऐसे समय सखा बचाई जान ।
वर्ना उस दिन प्राण का होजाता अवसान ॥

वह प्रेम तुम्हारा हे भैया, बस नहीं बिसरने क़ाबिल है ।
बदला क्या दूं उस चाहत का ? कुछ नज़र न करने क़ाबिल है ॥
अलबत्ता मैं और मेरा दिल, जो कुछ है सभी तुम्हारा है ।
जब तक इस तन में जीवन है, यह मोहन ऋणी तुम्हारा है ॥
तुम बालसखा ही नहीं मेरे, तुम तो तन हो, मन हो, धन हो ।
मुझ जन के लिए जनार्दन हो, जीवनधन हो सान्दीपन हो ॥'

प्रभु के ऐसे बैन सुन, पुलाये द्विजराज ।
सोचा—"मैं अब सब तरह हूं बड़भागी आज ॥
यह वाणी यह चाहना, यह हार्दिक अनुराग ।
बाँध रहा है और भी, लगा-लगाकर लाग ॥"

प्रकट रूप में विप्रवर, बोले ऐसे बैन ।
"धन्य चरित है आपका, हे हरि राजिवनैन !

मैं योग्य न उस सम्मान के हूँ, जो प्रभुवर ने उचारा है ।
भगवन् क्यों लज्जित करते हो उसको जो भक्त तुम्हारा है ॥
जिसकी श्वासों से वेद बने, उसको यों ज्ञान सुनाना है ।
त्रैलोक्य-उजागर सूरज को,जैसे सूरज दिखलाना है ॥
साँदीपन होकर प्रभु तुमने अपने को आप पढ़ाया है ।
नर-लीला-हेतु शिष्य बनकर, गुरुवर का मन बढ़ाया है ॥
धर्मस्थापन करने ही को, धर्मावतार अवतार लिया ।
अपनी भी लीला कर डाली, जग के भी लिये सुधार लिया ॥
गम्भीरता तुममें सिन्धु की है अम्बर की उच्च महत्ता है ।
है प्रभा, प्रभाकर के समान, निशिपति की शीतल सत्ता है ॥
ब्रह्मा तुम और विष्णु भी तुम, उत्पत्ति पालन के कर्ता हो ।
संहार रूप में रुद्र तुम्हीं, तीनों लोकों के हर्ता हो ॥
तुम हो अव्यक्त, अनादि, सदा, अविनाशी हो अविकारी हो ।
तुमको प्रभु वही समझ सकता जिस पर बस कृपा तुम्हारी हो ॥
भक्तों की रक्षा के कारण, नित नये रूप तुम धरते हो ।
करते हो माया से मोहित, पर आप एक रस रहते हो ॥
जिसको अबतक नर जाना था वह साक्षात् ईश्वर निकला ।
साधारण पत्थर जो समझा वह पारस का पत्थर निकला ॥
जब फटा आवरण मेघों का तब दिनकर का दर्शन पाया ।
हट गया आँख से जब पर्दा, तब ईश्वर का दर्शन पाया ॥

शंख, चक्र, अम्बुज, गदा, धारण किए ललाम ।
पीताम्बरधारी तुम्हें, बारम्बार प्रणाम ॥

वैजन्ती माला गले, मुकुट मनोहर माथ ।
मधुर बाँसुरी कर लिए, ग्वाल बाल के साथ ॥
सुघर साँवरे रूप का यह आनन्द निहार ।
भक्त चाहता है यही सर्वस डारूँ वार ॥

निष्काम उपासक है वह ही, जो उपासना का नेमी है ।
मुरली का ज़्यादा प्रेम नहीं, मुरलीधर का वह प्रेमी है ॥
अपराध है बढ़ने की इच्छा, है पाप जो कोई स्वारथ हो ।
बस लगी तुम्हीं से लगन रहे, पूरा यह एक मनोरथ हो ॥

❀ गाना ❀

जगरक्षक नन्दकुमार हो तुम, हे कृष्ण, तुम्हारी जय होवे ।
सुनते दीनों की पुकार हो तुम, हे कृष्ण, तुम्हारी जय होवे ॥
ब्रह्मा बन कर्ता हो तुम ही, विष्णु बन भर्ता हो तुम ही ।
शिव बन करते संहार हो तुम, हे कृष्ण, तुम्हारी जय होवे ॥
बढ़ता है जग में पाप जभी, भक्तों को होता ताप जभी ।
हरते पृथ्वी का भार हो तुम, हे कृष्ण, तुम्हारी जय होवे ॥
नित निर्गुण निराकार हो तुम सर्वदा सगुण साकार हो तुम ।
धारे अगणित अवतार हो तुम, हे कृष्ण तुम्हारी जय होवे ॥
जो सच्चे दिल से तन, मन, धन, कर देता है तुमको अर्पण ।
करते उसका उद्धार हो तुम, हे कृष्ण, तुम्हारी जय होवे ॥
गोपिन के प्रेम में हो तुम ही, ग्वालिन के नेम में हो तुम ही ।
गौओं के प्राणाधार हो तुम, हे कृष्ण तुम्हारी जय होवे ॥
हर वृक्ष में तुम, हर फूल में तुम, हर पात में तुम, हर मूल में तुम ।
संसार में बस एक सार हो तुम, हे कृष्ण तुम्हारी जय होवे ॥
जिसने बस तुम्हें पुकारा है जिसको आसरा तुम्हारा है ।
उसके सच्चे सर्कार हो तुम हे कृष्ण तुम्हारी जय होवे ॥
'शङ्कर' की डगमग नैया है, ढूँढा उसने खेवैया है ।
कर देते बेड़ा पार हो तुम, हे कृष्ण तुम्हारी जय होवे ॥

—:०:—

सुने सुदामा के वचन नवा-नवाकर नैन ।
बात बदलने के लिए, बोले हरि फिर बैन ॥
"आज मिले हो आन कर निरे दिनों में तात ।
कहो हमारे वास्ते, लाये क्या सौगात ?
भाभी ऐसी नासमझ नहीं जो खाली हाथ पठाया हो ।
लाओ वह तोहफा दो हमको जो उन्होंने यहाँ भिजवाया हो ॥
जो चली हमारे नाम पै है, भैया, वह चीज हमारी है ।
हम अपनी चीज माँगते हैं, उसमें क्या कृपा तुम्हारी है ?
भाभी की भेंट छुपाओगे, तो होगा फ़र्क दयानत में ।
आयेगा जुर्म खयानत का बदली गर नियत अमानत में ॥
ऊपर को आंख उठाओ तो क्यों झुके तले को जाते हो ?
हम अपनी नज्र माँगते हैं, तुम अपनी नजर छुपाते हो ?"
सचमुच ब्राह्मण उस समय गये अधिक सकुचाय ।
तन्दुल-पुटली काँख में, ली और भी दबाय ॥
सोचा—"लज्जा की बात है यह, क्या भेंट करूँ आगे बढ़कर ?
थोड़े से चावल कनकी सी, सो कैसे दूँ आगे बढ़कर ?
सौगात न इनके लायक है, देना हर तरह लजाना है ।
इनकी भी हँसी कराना है; अपनी भी हँसी कराना है ॥
भण्डार जहाँ लक्ष्मी का है, ठिकड़े क्या वहाँ सुशोभित हों ?
सूरज का तेज जहाँ पर है, जुगनू क्या वहाँ प्रकाशित हों ?
जिस बात से बचने को मैं था पड़ गया उसी से पाला है ।
ब्राह्मणी ने अपने ब्राह्मण को, कैसी उलझन में डाला है !!"
इतने ही में बोल फिर उठे कृष्ण भगवान ।
"सोच रहे हो बात क्या, हे द्विज दयानिधान ?"

भोले ब्राह्मण उस समय, सुधि-बुधि गये भुलाय ।
क्षमा माँगने को उठे दोनों हाथ बढ़ाय ॥
हाथ हटे जब काँख से हँसे तभी गोपाल ।
तन्दुल की वह पोटली खिसक पड़ी तत्काल ॥
जब लगे उठाने विप्र उसे, तब पकड़ा हाथ विहारी ने ।
मनका खाया, दो हाथों में, पड़कर पोटली विचारी ने ॥
फट गया पुराना पट झटपट, इस छीन झपट की झंझट में ।
खुल गया कपट, बिखरे चावल, छिन गया मान घबराहट में ॥
मुस्काहट नागरनट में थी, ब्राह्मण के निकट लजावट थी ।
लीलामय की इस लीला में भक्तों के लिये खिंचावट थी ॥
रुक्मिणी आदि सब पटरानी, चट ताली बजा लगीं हँसने ।
नटवर का यह नाटक निहार, सारी खिलखिला लगी हँसने ॥
हारे योद्धा की तरह विप्र, फिर बढ़े जीतने को चावल ।
पृथ्वी तक पहुँचा पहुँचाया, झटपट को बटोरने को चावल ॥
इतने ही में कृष्ण एक मुट्ठी गये चबाय ।
दूजी मुट्ठी फिर भरी, गये उसे भी खाय ॥
अब तो बाजी सब तरह, गये ब्राह्मण हार ।
इतने ही में खुल गये फिर विचार के द्वार ॥
सोचा—"लीला कर रहे, लीलाधर भगवान ।
बढ़ा रहे हैं इस तरह अपने जन का मान ॥
तन्दुल भी अगर दीन का हो, तो उसे वह आदर देते हैं ।
भोजन के भूखे नहीं हैं यह, बस स्वाद प्रेम का लेते हैं ॥
यह वह हैं, साथ बड़ों का तज, नित छोटों को अपनाते हैं ।
दुर्योधन की मेवा ठुकरा, बस साग विदुर का खाते हैं ॥"

उधर भर चुके तीसरी, मुट्ठी जब यदुनाथ ।
तभी रुक्मिणी ने झपट, पकड़ा प्रभु का हाथ ॥

बोलीं—"हद से ज़्यादा तुमने,इन बाल-सखा का मान किया ।
दो मुट्ठी तन्दुल खाकरके, दो लोकों का धन-दान किया ॥
कुछ तो अपने को भी रक्खो, देते क्यों सम्पति सारी हो ?
करदिया भिखारी को राजा, अब खुद होरहे भिखारी हो ?"

प्रभु बोले—"इस कृपणता, पर है मुझको शोक ।
विप्रों ही के वास्ते, है मेरा त्रैलोक ॥

विप्रों को सर्वस दे देना, मेरे मन को अति भाता है ।
तुमको यह दान रुचै न रुचै, मुझको तो बहुत सुहाता है ॥
श्रुति-रीति रची विप्रों ही ने, सुर इनसे भोजन पाते हैं ।
संसार इन्हीं से दीप्त सदा, यह सबको ज्ञान सिखाते हैं ॥
कहरही त्रिलोकी दुखी है यह, जो मित्र त्रिलोकीनाथ का है ।
अतएव त्रिलोक-दान देकर, धोना यह अपयश माथ का है ॥
यह सखा हमारे सच्चे हैं, निशिदिन हमही को ध्याते हैं ।
फिर पूर्णतया सन्तोषी हैं, इसलिए और भी भाते हैं ॥
धन की शोभा बढ़ जाती है, सत्पात्रों के ढिंग जा करके ।
कूपों का जल निर्मल होता, प्यासों की प्यास बुझा करके ॥
देखो सत्पात्र सुधाकर को रवि से प्रकाश जब पाता है—
तब निशि में विश्व प्रकाशितकर निशिनाथ स्वयं कहलाता है ॥
तमरूपी वैरी से लड़कर, आकाश में आप सुहाता है ।
इस भाँति निशा-रवि कहलाकर रवि ही का नाम बढ़ाता है ॥
अतएव पराये नहीं हैं यह, छोड़ो यह ग्लानि प्रिया अपनी ।
इनके त्रिभुवनपति होने से हो सके न हानि प्रिया अपनी ॥

रुक्मिणि बोलीं—"दान पर नहीं मुझे तकरार ।
सर्वस देने में मुझे, है थोड़ा इनकार ॥
भगवान् आपके साथ-साथ मैं भी हूँ भक्त ब्राह्मणों की ।
अनुरक्त अकेले नहीं आप मैं भी अनुरक्त ब्राह्मणों की ॥
मैं अपनी बीती कहती हूँ, जब बात व्याह की आई थी ।
तब ब्राह्मण-द्वारा ही मैंने, पत्री तुमको भिजवाई थी ॥
उस कठिन समय में मेरे भी, आया था काम ब्राह्मण ही ।
इसमें सन्देह नहीं बिल्कुल है गुण का धाम ब्राह्मण ही ॥
पर कहना यह है ब्राह्मण ही, सर्वस पायें यह उचित नहीं ।
हकदार और भी हैं जग में, वे रह जायें यह उचित नहीं ॥"
हरि फिर बोले—"ठीक है प्रिये तुम्हारा न्याय ।
किन्तु ब्राह्मण तो सदा, महिसुर बरना जाय ॥
महिसुर को महि जब देता हूँ, तो क्या मैं दान कमाता हूँ ?
जिसके जो योग्य सदा से है, वह ही उसको पहुँचाता हूँ ॥
ब्राह्मण मेरा, मेरे जग का, मेरे त्रिलोक का नेता है ।
मैं उसको सम्पति क्या दूँगा ? वह ही मुझको सब देता है ॥
कच्छप पर टिकी नहीं धरणी, बाराह न उसे उठाये हैं ।
रोके न इसे सहसानन हैं दिग्गज न इसे ठहराये हैं ॥
आकर्षण नहीं नवग्रह का, जो धार रहा इसको जल पर ।
यह तुली हुई है बस केवल, महिदेव ब्राह्मणों के बल पर ॥
कङ्गाल नहीं मैं होता हूँ, त्रिभुवनमण्डल देदेने पर ।
घन कभी रहा घाटे में भी, थल को सब जल देदेने पर ?
सागर घन से जल लेकर भी, भारी-भरकम कहलाता है ।
कारण फिर वही समय पाकर, बादल को जल पहुँचाता है ॥

बस यही प्रकृति का चक्कर है, जो सारा कार्य चलाता है ।
राजा का और भिखारी का, याँ एक बराबर नाता है ॥"

पत्नी कर सकती नहीं, पति से अधिक विवाद ।
मौन होगई रुक्मिणी, समझ नीति-मर्याद ॥
प्रभु ने जाना प्रिया का, मिट न सका है खेद ।
रखती हैं इस बात में मुझसे कुछ मतभेद ॥
किन्तु शिष्टता समझके, हुई हैं बस लाचार ।
मुझसे करना चाहतीं—नहीं और तकरार ॥
मेरा भी कर्तव्य है, मानूँ इनके बैन ।"
मौन होगये यह समझ, केशव करुणाऐन ॥
तन्दुल की तीजो मुठी खाई नहीं मुरारि ।
इस प्रकार उस महल में बाजी जीती नारि ॥

आँखें खोलो दुनियावालो, शिक्षा लो इन सब बातों से ।
नारी को कभी न खिन्न करो, अपने हठ के आघातों से ॥
जो बात उचित वह कहती हो, है धर्म मान लेना उसको ।
अपने मद में अति अनुचित है सन्ताप दुःख देना उसको ॥
नारी सङ्कट की साथिनि है, नारी नर की अर्द्धाङ्गिनि है ।
नारी का नहीं जहाँ आदर, वह जाति अशुद्ध कलङ्किनि है ॥
जिस जगह मान है नारी का, देवता वहीं पर रहते हैं ।
नारायण भी लक्ष्मी-समेत, सर्वदा वहीं पर रहते हैं ॥

कृष्ण रुक्मिणी में हुआ—जो-विवाद अव्यर्थ ।
समझ सके उसका नहीं, भोले ब्राह्मण अर्थ ॥
[प्र]कृति-पुरुष के भेद को जान सके है कौन ?
[म]ति, गति, प्राणीमात्र की है उस पद पर मौन ॥

इसी तरह आनन्द में होने आई शाम ।
मित्र-मिलन में होगया सारा दिवस तमाम ॥

सूरज पश्चिम की ओर चले, रजनी की रंगत शुरू हुई ।
पहले शासन का अन्त हुआ, दूसरी हुकूमत शुरू हुई ॥
देवालय में आरती उठी, घंटे घड़ियाल लगे बजने ।
गुणियों के गुण में यत्र-तत्र धुरपद, धम्माल लगे बजने ॥
रवि के अस्ताचल जाने पर, कमलों की आभा हीन हुई ।
दिनकर के श्रीहत होते ही, मधुकर-मण्डली मलीन हुई ॥
लेकिन जड़ चेतन कोई भी, रहना न चाहता है दुख से ।
अतएव विचारा दोनों ने काटेंगे हम रजनी सुख से ॥
रहगए भ्रमर कमलों ही में, कमलों ने आश्रय दिया उन्हें ।
अपने दुख का साथी निहार, अपना हमजोली किया उन्हें ॥
मधुकर कमलों में बन्द हुए, या कमलों ही ने बन्द किया ।
जो भी हो दोनों ने हिलमिल, ऐसे अपना आनन्द किया ॥
कोकों ने यत्न किया लेकिन, वे विरह-व्यथा से दीन रहे ।
कर दिया मलीन प्रकृति ने जब, द्युतिहीन रहे गतिहीन रहे ॥
श्रीसूर्यदेव के छुपते ही चन्द्रमा चमक उट्ठा नभ पर ।
लड़ने को अन्धकार-रिपु से नक्षत्रों सहित डटा नभ पर ॥
आगमन चन्द्रमा का विलोक, खिल उठी कुमुदिनी मोदभरी ।
चन्द्रिकारूप धन से शशि ने, पृथ्वी माता की गोद भरी ॥

इत्र दीप से कृष्ण-गृह, जगमग जगमग होय ।
विद्युत् अपना तेज जनु गई वहां पर खोय ॥
नित्य-कर्म से निवृत हो छिड़ा शास्त्र-सत्संग ।
कथा और इतिहास का रहा प्रहरभर रंग ॥

आँखों में थके सुदामा की, जब निद्रा का सञ्चार हुआ।
तब करुणानिधि की आज्ञा से सुख-शय्या का उपचार हुआ॥
सेवकगण को आदेश हुआ—दो पलँग बिछाये जायेंगे।
हम भी सोयेंगे उसी जगह, द्विज जहाँ सुलाये जायेंगे॥"

द्विजवर यदुवर-सहित जब, पहुँचे शयनागार।
चकित होगए वहाँ की, अद्भुत छटा निहार॥

ऋतु के अनुकूल महल था वह रहती सदेह विश्रान्ति जहाँ।
नृप-भवनों का सी कान्ति जहाँ, ऋषि कुटियों की सी शान्ति जहाँ॥
कञ्चन-पर्य्यंक मनोहारी, मणियों से खचित-जटित देखे।
सित-वस्त्रों से सज्जित देखे, नव पुष्पों से भूषित देखे॥
सोने की सुन्दर चौकी पर, रक्खी सुन्दर जल-झारी थी।
बाहर की तरफ़ लाल रङ्ग की रोशनी मधुर और प्यारी थी॥
उससे कुछ दूर शान्त स्वर में, गायकगण गान गारहे थे।
सोरठ, सोहनी, विहाग आदि, क्रमशः यह राग छारहे थे॥

यात्रा के श्रम से थके, लेटे जब द्विजराय।
चरण चापने के लिए, बैठे तब सुखदाय॥

उन कमल-समान करों से जब वे पाँउ दबाए जाते थे।
तब सेवक-मण्डल आपुस में, उमँगे पुलकाये जाते थे॥
कहते थे—"यह सज्जनता है, यह सेवा है, सत्कार है यह।
सीमा है मित्र-धर्म की यह, या सच्चा शिष्टाचार है यह॥
सुनते थे अबतक श्रवणों से ब्रह्मण्यदेव हैं राजेश्वर।
अब देख रहे हैं नयनों से ब्रह्मण्यदेव हैं राजेश्वर॥
इतना सम्मान ग़रीबों का, जग को एक मार्ग दिखाता है।
ऐसा सत्कार ब्राह्मणों का दुनिया को धर्म सिखाता है॥"

उधर खिड़कियों से निरख, कहती थीं सब नारि ।
"मित्र-धर्म की आज तो इति कररहे मुरारि ॥
चाहे ग़रीब हो या अमीर अधिकार समान मित्र का है ।
हर तरह मित्र का होजाये, यह धर्म प्रधान मित्र का है ॥
कङ्गाल मित्र भी राजा का, राजा सा आदर पाता है ।
पारस से मिलने पर, बहिना, लोहा पारस हो जाता है ॥
भगवान् आज जो करते हैं, उसमें कारण है शिक्षा का ।
दुनिया के भूले लोगों को एक उदाहरण है शिक्षा का ॥
संसारी जीव निहारें आ, यह मित्र-भाव कहलाता है ।
निर्धनी मित्र की धनी मित्र, सेवा इस तरह बजाता है ॥"
गुप्त-रूप से देवता, ऐसा चरित निहार ।
'नमो देवब्रह्मण्य' कह, होते थे बलिहार ॥
कहते थे—"आज भक्तवत्सल, भक्तों का मान बढ़ाते हैं ।
सेवक की तरह पँगाइत हो, निज जन के पाँव दबाते हैं ॥
यह हैं स्वामी सचराचर के जिनमें न लेश अभिमान का है ।
यदि ध्यान कभी आया कोई तो ध्यान भक्त-सम्मान का है ॥
अपने से ज़्यादा भक्तों को, भगवान् जो इज़्ज़त देते हैं ।
इसके द्वारा जगवालों को, बस एक नसीहत देते हैं—
"हे प्राणी, तू भी पूज उसे, जो तेरे लिये पुजारी हो ।
फिर चाहे, वह राजेश्वर हो, चाहे वह दीन भिखारी हो ॥

❀ गाना ❀

बिके हैं भक्तों में भगवान ।
और न इतना प्यारा कोई उनको भक्त समान ॥ बिके० ॥
भक्तों के कारण तज देते, क्षीर-सिन्धु सा स्थान ।
कच्छ, मच्छ, वाराह रूप धर, रखें भक्त की आन ॥ बिके० ॥
भक्ति हेतु यशुदा के आँगन खेले खेल सुजान ।
तनिक दही पर, भक्त जनों के नाचे दयानिधान ॥ बिके० ॥

भली भाँति जब सोगए विश्वदेव सुख पाय ।
तब मन में यों सोचने लगे द्वारकाराय ॥
"मेरे प्यारे मित्र को, धन का नहीं खयाल ।
फिर भी मैं रहने नहीं दूँगा यूँ कङ्गाल ॥
सांसारिक सुख की इच्छा से, भेजा है इनको नारी ने ।
भूखे पुत्रों की माता ने, दीना ब्राह्मणी बिचारी ने ॥
इसलिए देव-दुर्लभ-सम्पति, सन्तोषी द्विज को दूँगा मैं ।
निज बालसखा की दरिद्रता अत्यन्त शीघ्र हरलूँगा मैं ॥
मेरा जन होकर दुख पाये, तो धिक् है प्रभुता पर मेरी ।
अपने समान सुख दूँ इनको, तब पदवी करुणाकर मेरी ॥
ब्राह्मण की जहाँ दशा हो यह, है खेद वहाँ के शासन पर ।
टीका कलङ्क का तभी धुले, जब राजे द्विज स्वर्णासन पर ॥"
लिया विश्वकर्मा तभी, ब्रजपति ने बुलवाय ।
कहा—"रचो सुन्दर भवन, ब्राह्मण के घर जाय ॥
मेरे महलों के सदृश महल, तैयार हों श्रीद्विजराई के ।
राजा महाराजाओं जैसे भण्डार हों श्रीद्विजराई के ॥
सुख ही सुख के सब साधन हों, दुख का न जरा हो त्रास वहाँ ।
दो लोकों का पूरा वैभव, करता ही रहे निवास वहाँ ॥"
चला विश्वकर्मा जभी, तब फिर बोले श्याम ।
"दो ही दिन की अवधि में, हो यह सारा काम ॥
'जो आज्ञा' कहकर चला, सेवक शीश नवाय ।
मन ही मन में इस तरह, कहता था हर्षाय ॥
""राजेश्वर, धन्य आपको है, द्विज की दरिद्रता हर डाली ।
राई सी वस्तु एक क्षण में, पर्वत की नाईं कर डाली ॥

राजा यदि हो तो तुमसा हो, दानी हो यदि तो तुमसा हो ।
तुम आन के अपनी पक्के हो, तुम बात के अपनी यकता हो ॥
शीशम भी चन्दन-वन में आ, चन्दन सा सुखकर आज हुआ ।
छोटा सा नद भी सागर से मिलकरके सागर आज हुआ ॥
धनवानों, कार्य्य जगत्पति के, तुमको यह शिक्षा देते हैं ।
अपने निर्धन के लिए धनी, इस तरह धनी कर लेते हैं ॥"

शीघ्र विश्वकर्मा उधर रचना रहा रचाय ।
इधर मोद द्वारका में, करते थे द्विजराय ॥
बीत गए जब दो दिवस, बोले द्विज गुण-धाम ।
"आज्ञा अब तो दो मुझे, घर जाने की श्याम ॥"
"जो इच्छा" प्रभु ने कहा -"जाओ रुचि-अनुकूल ।
लेकिन प्यारे मित्रवर, हमें न जाना भूल ॥

ज्यादा न दूर द्वारकापुरी, प्राय आते जाते रहना ।
अपने सुख-दुख के समाचार, अच्छा है, पहुँचाते रहना ॥
सेवा न आपकी हुई है कुछ, इस बात का दुख सेवक को है ।
श्रीमान् को हो जिस बात में सुख, उस बात में सुख सेवक को है ॥
अत्यन्त कृतज्ञ हुए हैं हम, जो आप रहे यों आकरके ।
हैं भाग्य हमारे बहुत बड़े, जो चरण पखारे प्रभुवर के ॥
सब जगह सब तरह सर्वकाल, सेवक है यह घनश्याम प्रभो !
अपना ही इसे समझकर बस, करिये स्वीकार प्रणाम प्रभो ॥"

मधुर वचन से इस तरह, बारंबार लुभाय ।
विदा किया द्विजराय को, पुनि-पुनि शीश नवाय ॥
नेत्र-द्वार से राखि के निज चित्त में, चितचोर ।
छोड़ द्वारकापुरी को, चले विप्र गृह-ओर ॥

सोचने लगे–"मीठी-मीठी बातों ही का व्यवहार किया ।
मेरी दरिद्रता हरने को धन से न ज़रा सत्कार किया ॥
जैसा मैं निर्धन आया था वैसा ही खाली हाथ चला ।
आया दरिद्र जो साथ-साथ, बस वह ही अब भी साथ चला ॥
सम्मान और उस आदर को, ओढ़ूँ मैं या कि बिछाऊँ मैं ?
वे तो वहाँ सुख से सोते हैं, चिथड़े तक यहाँ न पाऊँ मैं ॥
उनको ही मुबारक हो षट्रस, मेरा भोजन जो–दाना है ।
रोने की तो है यही बात उसका भी नहीं ठिकाना है ॥"

अच्छा मेरे मित्र जी, क्या दूँ तुमको शाप ।
जैसा कुछ मुझको दिया, वैसा पाना आप ॥"
कहते तो यह कह गए फिर सोचे द्विजराय ।
"अनुचित कुछ उनके लिए, कहना है अन्याय ॥

मेरी दरिद्रता ही अच्छी धन का पाना कब अच्छा है ?
संसारी माया में जन का, मन फँस जाना कब अच्छा है ?
निर्धन यह सोचा करते हैं, धनवान् मौज से रहते हैं ।
उनको मालूम नहीं है यह, चिन्ता वे निशिदिन सहते हैं ॥
सूखी रोटी खानेवाला, पग को पसारकर सोता है ।
महलोंवाला शय्या पर भी, चिन्ता से व्याकुल होता है ॥
निश्चय बस यही सोचकरके, द्वारकाधीश ने धन न दिया ।
हाथी, घोड़े नौकर न दिये, कपड़े न दिए कञ्चन न दिया ॥

यही सोचते हुए द्विज, पहुंचे घर के पास ।
लखी न अपनी झोंपड़ी तब तो हुए उदास ॥

छप्पर की छानी के बदले, रत्नों से जटित महल देखा ।
भूखे घरवालों के बजाय, भूषित भृत्यों का दल देखा ॥

थी मन्दिर की शोभा न्यारी, चहुँओर चमकता कञ्चन था।
द्वारकाधीश के भवन-सदृश, वह भवन सौख्य से पूरन था॥
देखा जब सामान यह, हुए सुदामा दंग।
नारि, सुतों की याद में, उड़ा वदन का रंग॥
सोचा—"यह कैसी माया है, किसने झोंपड़ी निवारी है?
चारों पुत्रों के सहित नारि, घर को तज कहाँ सिधारी है?
मैं जगता हूँ या सोता हूँ अथवा मति ने भ्रम खाया है?
किसने यह चार दिवस ही में, मोहन मन्दिर बनवाया है?
अच्छा भेंटने गया उनको, झोंपड़ी तलक खो बैठा मैं?
बेटों से भी छुट बैठा मैं, पत्नी को भी खो बैठा मैं!
ज़्यादा की खातिर थोड़ा तज, जो अपना पाँव बढ़ाता है!
वह असन्तोष का मारा नर—मेरी नाईं पछताता है॥"
विप्र-हृदय में इस तरह, थे जब इधर विचार।
देखा छज्जे चढ उधर, भामा ने भर्तार॥
शीघ्र शीघ्र तब ब्राह्मणी, मन में अति पुलकाय।
भृत्यों से कहने लगी—"लाओ उन्हें लिवाय॥"
आज्ञा पा स्वामिनी की, सेवक पहुँचे द्वार।
जहाँ कररहे थे खड़े, विप्र अनेक विचार॥
कर प्रणाम द्विजराय को, बोले भृत्य उदार।
"मन्दिर में चलिए प्रभो, क्या है सोच विचार?"
यह आदर देख सरल ब्राह्मण, घबराया और अधिक मन में।
बोला भय से कम्पित होकर,—"क्या काम है मेरा महलन में?
मैं ब्राह्मण हूँ अति निर्धन हूँ, क्यों तुमने मुझको घेरा है?
यह किसी नृपति का मन्दिर है, क्या काम यहाँ पर मेरा है?"

इतने में सखियों सहित, कर सोलह शृङ्गार ।
लिए आरती हाथ में द्वारे आई नार ॥
विधि-विहित आरती की पहले, फिर परिक्रमा की प्रेम-सहित ।
जीवनधन के चरणों में गिर मस्तक में रज ली प्रेम-सहित ॥
बोली–"क्या सोच रहे स्वामी, क्यों बार-बार सकुचाते हैं ?
क्या शङ्का उपजी है मन में, क्यों नहीं भवन में आते हैं ?
यह चारों पुत्र आपके हैं, यह पत्नी खड़ी आपकी है ।
यह सुघर हवेली रत्नजटित, सुन्दर और बड़ी आपकी है ॥
आये थे यहाँ विश्वकर्मा, यदुराई की आज्ञा पाकर ।
अत्यन्त शीघ्र यह सब वैभव, देगए आपके घर आकर ॥
पहले सब त्रिभुवनपति का था, पर अब यह कञ्चन आपका है ।
जब आप होगए जगधर के तो जगधर का धन आपका है ॥"
भूषित भूषन-वसन से, पहचानी जब नारि ।
चले सुदामा महल में, कह–"जय कृष्ण मुरारि ॥"
मणि-मुक्तों की झालरवाले, पर्दे द्वारों पर लटके थे ।
इन्द्रादि देवताओं के मन, जिनकी शोभा पर अटके थे ॥
नीली छतगीरी मणियों की, इस प्रकार शोभा देती थी ।
तारों से युक्त गगन का वह मानो सब मद हर लेती थी ॥
दीपक कोई भी यहाँ न था, मणि का सर्वत्र उजाला था ।
जिसने शशि का, सौदामिनि का, गौरव मैला कर डाला था ॥
द्वारकानाथ का सा मन्दिर, सब ओर निहारा द्विजवर ने ।
मानो अपना धन ब्राह्मण के पधराया लाकर गिरिधर ने ॥
देख-दाख इस ठाट को, द्विज होगए मलीन ।
दीनावस्था से अधिक, हुए आज यह दीन ॥

पति की व्याकुलता निरख, बोली नारी बैन ।
इन्द्र-सदृश सुख पाय भी, हुए आप बेचैन ॥"
पत्नी के सुनकर वचन, बोले विप्र सुजान ।
"धन से बढ़ते हैं प्रिये लोभ मोह, अज्ञान ॥
नाहक यह ठाट-बाट प्रकटे, मैं पहले जैसा अच्छा था ।
रूखा सूखा खालेता था, भगवत् की सेवा करता था ॥
धनवानों को यह देखा है, वे धन-मद में बौराते हैं ।
पुण्यार्जन के बदले प्रायः, पापों को अधिक कमाते हैं ॥"
नारी बोली -"छोड़िये अब यह सोच तमाम ।
ताही विधि रहिये सदा, जा विधि राखें श्याम" ॥
"अच्छा, हरि-इच्छा सही",कह उट्ठे द्विजराज ।
"आओ मिलकर एक हम करें प्रतिज्ञा आज ॥
यह सारा वैभव प्रभु का है, अपना न कभी समझेंगे हम ।
आवश्यकता के लायक ही, इसमें से धन को लेंगे हम ॥
बाकी उनकी यह सब सम्पत् उनको ही हम लौटायेंगे ।
अर्थात नीति पर उनकी ही हम अपने लिए चलायेंगे ॥
दुनिया के भूखे लोगों का, इस दौलत से पालन होगा ।
रोगी को अच्छा करने का, यह धन अब से साधन होगा ॥
जायेगा विद्यालयों में यह, गोधन का यह पालक होगा ।
जितने अनाथ बच्चे होंगे, उन सबका यह पोषक होगा ॥
सचमुच महलों ही के भीतर 'मोहन-मन्दिर का स्थापन हो ।
इस धन से अपने गिरिधर का अर्चन पूजन आराधन हो ॥
तब धन या जीवन सार्थक है, जब जन यह इतना काम करे ।
सच्चे मन से वाणी-द्वारा, निशिदिन 'जय राधेश्याम' करे ॥"

प्रण जब दम्पति ने किया, इस प्रकार हर्षाय ।
सुर तब 'जय' कहने लगे, पुष्पों को बरसाय ॥
धन्य सुदामा ब्राह्मण, धन्य द्वारकानाथ ।
अब भी दोनों को जगत् नवा रहा है माथ ॥

❀ गाना ❀

सुदामा को हो कृष्ण-दर्शन मुबारक ।
यह पदवी यह आनन्द-यह धन मुबारक ॥
मुबारक सुदामा को नारी सुशीला ।
सुशीला को उन जैसा साजन मुबारक ॥
मुबारक हो निर्धन को प्यारा सखा यह ।
सखा को हो ऐसा सखीपन मुबारक ॥
ग़रीबों के बच्चों को भगवत्-कृपा से ।
मिला आज भरपेट भोजन मुबारक ॥
सुनाया जो "शङ्कर" सुदामा-चरित यह ।
सो दुनिया को हो "ज्ञान दर्पन" मुबारक ॥

॥ श्री ॥

पं० राधेश्याम कथावाचक की

दो भजन पुस्तकें

अर्थात्

(१) राधेश्याम-भजनमाला १) २५ नए पैसे

(२) श्रीराधेश्याम-भजनावली १)

ऊपर की दोनों पुस्तकों में खास पण्डित राधेश्यामजी के लिखे हुए उन तमाम भजनों और गानों का संग्रह है जो पण्डितजी की विभिन्न कथाओं और नाटकों में प्रकाशित हुए हैं। अर्थात् ५०) रु० से भी ज्यादा खर्च करके पण्डितजी की उक्त पुस्तकें मँगाने में जो करामात आपको मिलती, वह २) २५ नए पैसे ही में इन दो पुस्तकों में आपको हासिल होगी। इन दामों में इतना ज्यादा मनोरञ्जन का मसाला जब आपको मिलता हो तो और क्या चाहिए? यह याद रहे कि पण्डितजी के इन भजनों की ध्वनि आज देश के कोने कोने में गूंज रही है। गरीबों के झोंपड़ों से लेकर अमीरों के आलीशान भवनों तक में यह भजन गाए और गवाए जाते हैं। इन भजनों की भाषा और भाव दोनों ही हृदय को लट्टू बना देते हैं।

इस पते से मँगाइये—

श्रीराधेश्याम पुस्तकालय, बरेली।

लेखक—
प० चन्द्रिकाप्रसाद शर्मा

मोरध्वज-चरित्र

सम्पादक—
नेपाल गवर्नमेंट से "कथावाचस्पति" की पदवीप्राप्त—
कीर्तनकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—
प० राधेश्याम कथावाचक

प्रकाशक—

आठवीं बार २०००]   सन् १९६० ई०   [मूल्य ४४ नये पैसे

मुद्रक—प० रामनारायण पाठक, श्रीराधेश्याम प्रेस, बरेली।

ॐ

प्रार्थना

शरण हूँ—मैं तेरी ।

करहु-दयामय, अभय दयाकरि,

सबविध दीन-हीन मति मेरी । शरण० ॥

सहज सुमति गई भूल जगत् लखि,

माया कुमति रही हैं घेरी शरण० ॥

भटकत फिरत, मिलत न कहूँ मग,

छाई विकट मपञ्च-अँधेरी । शरण० ॥

पावत-कल इक पल न "चन्द्रिका"

आवहु, मिलहु करहु जनि देरी । शरण० ॥

पुण्यभूमि भारत मही—मानव-रत्नागार ।
श्रेष्ठ एक से एक जहाँ—प्रकटे वीर उदार ॥

हैं एक से एक वीर ज्ञानी, ध्यानी, रणधीर, हुए इसपर !
हैं एक से एक ब्रह्मज्ञानी, मानी, प्रणवीर हुए इसपर ॥
दानी दधीचि और कर्ण-सदृश होगए जानता कौन नहीं ?
नृप हरिश्चन्द्र सद्वादी का यश है बखानता कौन नहीं ?
वचनों के पीछे, मरजाना-दशरथ ने अङ्गीकार किया ।
पर, देकर वचन, पलटजाना—नहिं किसी तरह स्वीकार किया ॥
बालक प्रह्लाद और ध्रुव से आराध्य-प्रेम पर अचल रहे ।
की विजय कोटि बाधाओं पर, आसन पर ऐसे अटल रहे ॥
जो-जो होगये महानुभाव, उन सबमें पूर्ण मनोबल था ।
था प्रेम धर्म के ही पथ में, और रंच न कहीं छुआ छल था ॥
जो कुछ कहदेते थे मुँह से थे पूर्ण उसे करने वाले ।
थोड़े शब्दों में यों कहलो-वे बात पै थे मरनेवाले ॥
जीवन का है उद्देश्य यही कर्तव्य-पूर्ण करके जाना ।
कोई भी व्रत हो, पर दृढ़ हो, और उसे पूर्ण करके जाना ॥

श्रोतागण ! सुनो शान्त होकर जो कुछ मैं आज सुनाता हूँ ।
इनमें से एक रत्न नर का उत्तम चरित्र अब गाता हूँ ॥

नृप मोरध्वज-नाम का साधुभक्त प्रणवीर ।
द्वापर में एक नृप हुआ, धीर, वीर, गम्भीर ॥
रानी उसकी पिङ्गला—थी सुन्दर सुखमूल ।
ताम्रध्वज युवराज भी रहता मन-अनुकूल ॥

था अटल नियम यह राजा का प्रातः उठ पञ्चयज्ञ करना ।
हरिजन द्विज अतिथि जिमा करके पीछे अपना भोजन करना ॥
सत्कार साधुओं का करना, व्रत उनका प्रतिदिन सुखकर था ।
रानी का और कुँवर का भी कर्तव्य यही श्रेयस्कर था ॥
राजा क्या ! परम साधु ही थे, और साधुभक्त सब लायक थे ।
युवराज वीर थे, ज्ञानी थे, पितुभक्त और कुलनायक थे ॥
रानी थी विदुषी, पतिव्रता, पति पर जीने मरनेवाली ।
भारत की कुलबालाओं का ऊँचा मस्तक करनेवाली ॥
यद्यपि मोरध्वज राजा थे, पर राज-भवन ऋषि-आश्रम था ।
सर्वत्र शान्त रस बहता था, सर्वत्र प्रबन्ध मनोरम था ॥
सब प्रजा परम आनँद में थी, भण्डार भरा हर घर में था ।
दृढ़ थी लोगों में राजभक्ति "जय मोरध्वज" हर स्वर में था ॥
सब कार्य प्रजा के प्रतिनिधि ही करते थे नृप-अनुशासन से ।
बजरही चैन की वंशी थी-नृप के आदर्श सुशासन से ॥
सन्ताप पाप था कहीं नहीं, पुनि अत्याचार-विलाप न था ।
अभिशाप, आह या डाह न थी, कुत्सा या कलह-कलाप न था ॥
थे सब किसान ही भूस्वामी, यद्यपि कर भी कुछ देते थे ।
पर रक्त न चूसा जाता था, दशमांश उपज नृप लेते थे ॥

आतिथ्य साधु-हरि-भक्तों का होता था अटल राज्यभर में ।
थी "राजा यथा तथैव प्रजा"–कहावत सच्ची घर-घर में ॥

सुस्मृतियाँ ही थीं सदा क़ानूनों के ग्रन्थ ।
सुखकर था जो शान्ति से से वही खुला था पन्थ ॥

विद्यालय थे प्रति गाँवों में शिक्षा का उदय प्रभाकर था ।
ऋषिकुल भी थे गुरुकुल भी थे, स्वर सामगान का घर-घर था ॥
थे बने अनाथालय घर-घर, सेवाश्रम धर्म-भवन भी थे ।
कृषकों के विद्यालय भी थे, ज्योतिष-विज्ञान-भवन भी थे ॥
थी सभी कलाओं की शिक्षा, शस्त्रास्त्रों का भी शिक्षण था ।
थे वीर-धीर सब प्रजावृन्द उद्देश सर्व-संरक्षण था ॥
ईश्वर पर था विश्वास अटल, सज्जनता, शान्ति समाई थी ।
नारीमण्डल-नरमण्डल में समुचित स्वतन्तत्रता छाई थी ॥
राजा और प्रजा एक मत हो आपस में प्रेम-प्रसारण थे ।
इस दुर्लभ शील-शान्ति-सुख के नृप मोरध्वज ही कारण थे ॥

❀ गाना ❀

न्यायी उदार सरकार से-सहयोग प्रजा करती है ।
राजा वही प्रजा जो पाले, प्रजा वही जो न टाले,
पिता पुत्र का नेह सम्हाले, रहे परस्पर प्यार से—
तो शन्ति वास करती है ॥ न्यायी उदार० ॥
जिसकी प्रजा पेट को रोवे, राजभक्ति कुछ वहां न होवे,
सुख की नींद न कोई, सोवे, शासन हो तलवार से—
तो क्रान्ति कूद पड़ती है ॥ न्यायी उदार० ॥

बचकर प्रजा पाप से छल से-लड़वी धर्मन्याय के बल से,
डरती फिर न किसी भी दल से, कैद-मार-फटकार से,
नहिं पग पीछे धरती है ॥ न्याय उदार० ॥
बिना "चन्द्रिका"शस्त्र उठाये,बिना किसी का ख़ून बहाये,
मातृ-भूमि पर शीश झुकाये, शान्त भाव से प्यार से—
निर्विघ्न विजय करती है ॥ न्यायी उदार० ॥

—०:०—

राजा के सद्गुणों की हुई ख्याति सब ओर ।
धन्य धन्य का जगत् में मचा मनोहर शोर ॥
सुना सभी संसार ने मोरध्वज का नाम ।
सन्त-साधुओं से भरा रहता था नृपधाम ॥

संसार विचित्र ढंग का है, सुर हैं, मुनि हैं सज्जन भी हैं ।
झूठे भी हैं, सच्चे भी है, कपटी भी हैं, दुर्जन भी हैं ॥
सज्जन सज्जनता के ऊपर बलिहारी हो होजाते हैं ।
पर दुर्जन उस सज्जनता से अनुचित भी लाभ उठाते हैं ॥
था गोल एक बटमारों का जो चतुर बड़े थे ठगपन में ।
सबके सब ही थे बहुरूपी, पूरे पक्के पर-वञ्चन में ॥
राजा की साधुभक्ति सुनकर सोचने लगे—"यह अवसर है ।
थोड़े ही श्रम से लाखों का धन मिल सकता जी भरकर है ॥"
फिर क्या था, झट सब साधु बने सज धजकर कंठीमालों से ।
कौपीन-कमण्डल त्रिमटों से, बालों और ढोंगी चालों से ॥
गोविन्द, कृष्ण, माधव, मुकुन्द ऊँचे स्वर से रट चले सभी ।
मोरध्वज की रजधानी का—बस मारग ले झट चले सभी ॥
दिन रात चले, पर थके नहीं, उत्साह बहादुर होता है ।
उत्साह-हीनता से ही तो हर जगह विफल नर होता है ॥

जब यह नृप के द्वारे पहुँचे—तो दौड़पड़े वे आसन से ।
रानी ले स्वर्ण थाल आई, पग धोये नृप अनुशासन से ॥
पग धोकर आसन दिया उन्हें, चरणामृत ले नृप धन्य हुए ।
आशीर्वाद दे बोले वे—"नृप, तुम हरिभक्त अनन्य हुए ॥"
कर जोड़ कहा तब राजा ने—"इच्छा यह मेरे मन में है ।
कीजिए कृपा हे साधुवृन्द, भोजन तैयार भवन में है ॥"
रोगी को जोकि चाहिए था सो ख़ुद ही वैद्य बताता है ।
धन का परिशोध लगाने का क्या ही शुभ अवसर आता है ॥"

कहा साधुओं ने—"सुनो हे नृपराज, उदार !
श्रद्धा से जो तुम कहो, वही हमें स्वीकार ॥"

यों कहकर वे उठ पड़े सभी—"चलिए राजन् इनकार नहीं ।
हम—सन्त प्रेम के भूखे हैं, कुछ और हमें दरकार नहीं ॥
मिल-जुलकर करें प्रसाद ग्रहण यह अवसर सदा न आता है ।
हरिजन—हरिजन गुरुभाई हैं, यह अटल प्रेम का नाता है ॥
इस तरह सनेह सनी बातें; नृप से कह उठकर चले सभी ।
यद्यपि थे बगुला भक्त नीच, पर बने खूब ही भले सभी ॥
राजा सादर ले गए भवन और भली भाँति सत्कार किया ।
जैसा था उनका नियम सदा, पूजन षोडश उपचार किया ॥
कर तृप्त हर तरह से उनको, भोजन सकुटुम्ब किया नृप ने ।
विश्राम किया तब सन्तों ने, कीर्तन में चित्त दिया नृप ने ॥
राजा का एक नियम यह था, वे जब तब वन में जाते थे ।
ऋषियों के विमल आश्रमों से उपदेश श्रवण कर आते थे ॥
इसलिए बुलाकर रानी को राजा ने यह आदेश दिया ।
"मैं प्रिये, आज वन जाऊँगा, बस तुम्हें इसी से क्लेश दिया ॥

हैं साधु भवन में टिके हुए, इनको सेवा में भेद न हो—
और कष्ट न पहुँचे इन्हीं कहीं, पीछे पछतावा खेद न हो ॥"
बोली रानी—"हे प्राणनाथ, सन्तों को कष्ट नहीं होगा ।
जो अटल नियम है सेवा का वह कभी विनष्ट नहीं होगा ॥
आतिथ्य-भार दे दासी को, निश्चिन्त आप वन में जावें ।
इन साधुजनों की सेवा की शङ्का न आप मन में लावें ॥"

यह सुन, परम प्रसन्न हो; गए भूप वन ओर ।
जहाँ प्रकृति की छटा से, मन हो उठा विभोर ॥

चलती थी वायु सुगन्द-सनी, जो हृदय तृप्त कर देती थी ।
मृदु पिकों-मयूरों की वाणी बरबस ही मन हर लेती थी ॥
नाना प्रकार के वृक्षों की लहलहारही हरियाली थी ।
नाना-रँगवाले फूलों की कलियों की छटा निराली थी ॥
डालों पर लाल चकोर, कीर थे रम्य तान पर भूल रहे ।
सुख देकर औरों को निज भी सुख के झोंकों में झूल रहे ॥
भौंरे-गुञ्जार मचाते थे—उड़ कर कुसुमों के पुञ्जों पर ।
सुमनों के दल थे छितर रहे—हरियाली भरी निकुञ्जों पर ॥
जो अच्छे बुरे दृश्य जग में—नित्यप्रति देखेजाते हैं—
त्योंही वन में भी उभय दृश्य—आंखों के आगे आते हैं ॥
बैठे सरोवरों के तट पर यदि हँस कहीं मिल जाते हैं—
तो वहीं कहीं दृग बन्द किए बक भी निज ढोंग दिखाते हैं ॥
कोयल के मधुर मनोहर स्वर यदि कहीं अमृत बरसाते हैं—
तो वहीं कलूटे कौए भी कटु कण्ठ कुठार चलाते हैं ॥
यह दृश्य देखते हुए सभी, मुनियाश्रम में पहुँचे राजा ।
उपदेश श्रवण कर ऋषियों के मन में कृतकृत्य हुए राजा ॥

रहगए रात को वहीं भूप—जब दिनकर ने अवसान किया।
उठकर प्रभात पहले मुनि से आज्ञा ली फिर प्रस्थान किया॥
विश्वध्यान में मग्न नृप, जाते थे गृह ओर।
उधर आ रहे थे वही—झपटे सातों चोर॥
नृप ने समझा-रूठकर चले कदाचित् सन्त।
इस विचार से वे हुए-दुखी चित अत्यन्त॥
सम्मुख जा उनके शीश झुका, को क्षमायाचना सविनय हो-
'कर दया साधुगण, चलो भवन, हम सेवक आप दयामय हो॥
मेरे जीवनधन-साधुवृन्द, मत रूठो मुझपर दया करो।
शिशु समझो अपने सेवक को, अवगुण मत देखो दया करो॥
मेरी अनुपस्थिति में स्वामिन्, कुछ भूल अवश्य हुई होगी।
सेवा की कोई क्रिया नाथ, प्रतिकूल अवश्य हुई होगी॥"
राजा का साधु-प्रेम लखकर, चोरों के हृदय उमड़ आए।
हट गया मोह-अज्ञान सभी, गिर पड़े चरण में घवराए॥
बोले "हम साधु नहीं राजन्, हम चोर महाठग झूठे हैं।
भ्रम दूर कीजिए सब मन से, हम नहीं आपसे रूठे हैं।
रानी को विष देकर हम सब, कुछ द्रव्य चुराकर भागे हैं।
जो चाहो-देलो दण्ड हमें, करबद्ध आपके आगे हैं॥"
राजा ने कहा साधुओं से-"यह आप लोग क्या कहते हैं?
क्या स्वप्न देखते हैं कोई? या दुखी मुझे ही करते हैं?
फुसलाते मुझको बातों में, हा! स्वयं चोर भी बनते हैं।
घर चलो दयाकर साधुजनों क्यों व्यर्थ पाप में सनते हैं॥"
इस भाँति विनय-अनुनय करके, राजा ने उनको अपनाया।
ठग लिया ठगों के भी मन को, ऐसा उज्ज्वल मन दिखलाया॥

कुछ सके न बोल, हुए गद्गद्, चल पड़े नृपति के सङ्ग सभी।
हो किंकर्तव्य-मूमूढ़ चोर, रँग गए सत्य के रङ्ग सभी ॥
सत्कर्मों के प्रतिपालन में, हो प्राणी इतना अचल कहीं—
तो ठग ही क्यों—जग ही वश हो, सत्कर्म न जाए विफल कहीं ॥

❀ गाना ❀

नाना स्वरूप धर के, संसार को ठगायें।
भगवान् इन ठगों से, बस आप ही बचायें ॥
आदर बड़ों का करना, हैं शास्त्र तो बताते।
पर वेश में इन्हीं के, शठ लूट भी मचायें ॥
धर वेष साधुओं का, फिरते हैं दुष्ट लाखों।
घर-घर का भेद लेकर, डाके यही डलायें ॥
कुछ "चन्द्रिका" समझ में आते न ढङ्ग इनके।
जायें न पास इनके, सिर दूर से झुकायें ॥

—०—

नृप के सँग लौटे सभी, साधुरूप वे चोर।
मन्दिर में बिठला उन्हें, गए नृपति गृह ओर ॥
सचमुच ही नृप ने रानी पर, पूरण प्रकोप विष का पाया।
वास्तव में सन्त चोर ही हैं, विश्वास उन्हें तब हो आया ॥
सोचने लगे कोई उपाय—रानी को जीवित करने का—
लेकिन सूझा कुछ यत्न नहीं, विष के प्रभाव को हरने का ॥
आखिर, मखशाला में जाकर, जल लिया यज्ञ के कलशों का।
सञ्जीवन उसमें पैदा की—उच्चारण कर कुछ मन्त्रों का ॥
फिर उसे पिलाया रानी को, जो थी अचेत विष-निद्रा में।
पीते ही जल ने असर किया, वह हुई सचेत अवस्था में ॥

पहुँचे ज्योंही हरि के समीप, अभिवादन करके खड़े हुए ।
देखा हरि ने यमराज आज हैं किसी खेद में पड़े हुए ॥
बोले हँसकर यह रमारमण "कहिए यमराज, कहाँ कैसे ?
शासन में परमानन्द तो है, यों आना हुआ यहाँ कैसे ?"
बोले यमराज—"भला भगवन, तुमसे भी छिपा हुआ कुछ है ?
शासन का ही वृत्तान्त आज तुमसे अवश्य कहना कुछ है ॥
है मर्त्यलोक में राज्य एक, जिसका मोरध्वज शासक है ।
जाने नहि पाते दूत वहाँ, यों चक्रसुदर्शन रक्षक है ॥
कर जोड़ पूछता हूँ भगवन् ! यह कितनी बड़ी अवज्ञा है ।
रुक जाँय अकाट्य नियम मेरे, अन्याय नहीं तो फिर क्या है ?"
हँस पड़े विष्णु और यों बोले—"यम जी, वह भक्त हमारा है ।
वह प्रजा-सहित सकुटुंब सदा हो अटल धर्म पर वारा है ॥
ऐसे सद्धर्म-प्रेमियों पर मैं तन-मन धन से वारा हूँ ।
कहते हैं आप सुदर्शन को, पर मैं खुद ही रखवारा हूँ ॥
अपने यह नियम अकाट्य वहाँ, इच्छा मत करो चलाने की ।
अब वहाँ तुम्हारे दूतों को, आवश्यकता ही नहिं जाने की ॥
जो पापी, क्रूर, नीचकर्मी आमन्त्रित करते हों उनको ।
है उचित वहीं जाना, उनका जो स्वयं बुलाते हों उनको ॥"

यह सुनकर यमराज के, आया चित्त में चैन ।
वे सकुचाते से हुए, बोले ऐसे बैन—
"देखें कैसा भक्त है, मोरध्वज नृपराज ।
चलिये, उसकी भक्ति की, करें परीक्षा आज ॥"

बोले हरि—"चलो, अवश्य लो, यह भ्रम निर्मूल करो अपना ।
चाहो जिस भाँति, परीक्षा लो संशय का शूल हरो अपना ॥

सोना जितना भी ताप सहे, उतना ही निर्मल होता है ।
संकट से ही सत्पुरुषों में, परिपूर्ण आत्म-बल होता है ॥"
यह सुनकर यमजी बने सिंह जो सिंह-भाव ही धारे थे ।
भगवान् विष्णु बन गए साधु जो सन्तों के रखवारे थे ॥
चलपड़े भजन अपना करते-भक्तों की भक्ति-परीक्षा को ।
देखो, हे श्रोतागण, देखो-उस लीलामय की लीला को ॥

❀ गाना ❀

नेति नेति कहके जिन्हें भक्त हैं बुलाते सदा,
ब्रह्मा शिव आदि पार जिनका नहीं पाते हैं ।
वे ही हरि छोड़ आज अपना पवित्र धाम,
भक्तों की परीक्षा-हित दौड़े चले आते हैं ॥
भक्त गर भक्त कहलाते हैं धरा के बीच,
यह भी तो अनन्य भक्तपाल कहलाते हैं ।
होड़-सी लगी है आज भक्त भगवान् ही में,
देखें कैसे भक्त टेक अपनी को निभाते हैं ॥

यम रूपी केहरि लिए, गाते प्रभु-गुण-गान ।
मोरध्वज के ग्राम में, पहुँचे जा भगवान ॥
नृपवर ने उन्हें देख आते, बढ़कर स्वागत-सत्कार किया—
और फिर पधारकर मन्दिर में पूजन षोडशोपचार किया ॥
हरि बोले-"हम सन्तुष्ट हुए-राजन्, तेरे आचारों से ।
तीनों लोकों में धन्य हुआ तू सचमुच इन व्यवहारों से ॥
अब और निवेदन है इतना, जो सिंह साथ में मेरे है ।
इसके भोजन और पानी का सब भार हाथ में मेरे है ॥

यदि अपने कोई बच्चे को करके दो खण्ड गिराता है ।
हे राजन्, दाँयाँ अङ्ग तभी यह सिंह हमारा खाता है ॥
मिटजाए इसकी भूख जहाँ, वह मिला न हमको ठौर कहीं ।
है तुमसा साधु अतिथ-प्रेमी दुनिया में दूजा और कहीं ?

कठिन समस्या है नृपति, करलो सोच-विचार ।
आशा कर आए यहाँ, सुनकर नाम उदार ॥
अगर कष्ट हो चित्त में तो भिक्षा बेकार ।
'ना' कहदो हम चल बसें-दूजा देखें द्वार ॥"

बोले नृप-"सुनो महानुभाव, जो कहो वही कर सकता हूँ ।
आदेश आपका उल्लंघन में, कभी नहीं कर सकता हूँ ॥"
बोले तब साधु-"सुनो राजन्! सहसा में कोई सार नहीं ।
पीछे पछताए लाभ नहीं, यदि पहले किया विचार नहीं ॥
है सरल जोश में कहजाना, लेकिन नृप, ख़ूब समझ लेना ।
कुछ हँसी-खेल का काम नहीं, बलिदान पुत्र का करदेना ॥
रानी से निश्चय किया नहीं, जिसका सर्वस्व कुँवर ही है ।
पूछा कुछ नहीं कुँवर से भी, सब कुछ निर्भर जिस पर ही है ॥"
बोले मोरध्वज-"सुनो साधु, यह ठीक आपका कहना है ।
पर देकर वचन पूछना क्या बस अटल बात पर रहना है ॥
रानी और कुँवर आपके हैं, सेवा से मुख नहिं मोड़ेंगे ।
हम तीनों अर्पण होजायें, पर ध्येय-धर्म नहिं छोड़ेंगे ॥"

यह कहकर नृपवर गए-जब रानी के पास ।
वे बोलीं-"हे देव, क्यों हैं यों आप उदास ?'
बोले नृप-"क्या मैं कहूं प्रिये ! एक साधु अनोखे आए हैं ।
है रङ्ग-ढङ्ग न्यारा उनका, एक सिंह साथ में लाए हैं ॥

स्वागत-सत्कार प्रिये उनका, ताम्रध्वज ही कर सकते हैं ।
मेरा और उनका कष्ट सभी, ताम्रध्वज ही हर सकते हैं ॥
है कुँवर परम आज्ञाकारी और सन्त प्रेम का सच्चा ही ।
पर हृदय काँप-सा उठता है, आखिर तो है वह बच्चा ही ॥
होता प्रण अपने प्राणों का तो थी न बात कुछ संशय की ।
अब तो प्रण-पूर्ति कुँवर से है, और पूरण दया दयामय की ॥
कह सके न इससे अधिक और, नृप आखिर तो मनुष्य ही थे ।
सज्जन थे और सदय भी थे, वे साधु और सहृदय भी थे ॥
हा दैव ! वही ताम्रध्वज जो, सारे घर का उजियाला था ।
था वीर आत्मदर्शी, विजयी, कुल-कीर्ति बढ़ानेवाला था ॥
माता का हृदय-हार जो था, नृप का भी जो जीवन-धन था ।
सर्वस्व समस्त प्रजा का था, गुरु का भी पूर्ण तपोधन था ॥
उस कुँवर किशोर खिलौने को स्वागत में अर्पित होना है ।
किस तरह कहें नृप रानी से, जिसका वह लाल खिलौना है !
कर्तव्य-परायणता नृप को, यद्यपि तैयार बनाती थी ।
लेकिन, लीलामय की माया, रह-रहकर आन दबाती थी ॥
रानी को सूचित करने को, नृप वचन तयार कररहे थे ।
मन को मजबूत बनाने को, इस तरह विचार कर रहे थे ॥

❀ गाना ❀

माया का विकट अँधेरा है संसार में ।
योंही—यह मेरा मेरा है संसार में ॥
आया कौन कहाँ से ? किससे किसका यह नाता है ?
किसका पिता ? पुत्र है किसका ? और कहाँ माता है ?

यह झूठा लगा बखेड़ा है संसार में।
माया का विकट अँधेरा है संसार में॥
किसको कौन मारता ? मरता कौन ? कौन रोता है ?
कैसा हर्ष ? शोक भी कैसा ? कौन दुखी होता है ?
सब बन्धन ही का फेरा है संसार में।
माया का विकट अँधेरा है संसार में॥
जिन आँखों से देख रहा तू यह प्रपञ्च-माया है।
उनको मूँद देख फिर घट में-जग किसकी छाया है ?
उस अमर हंस का डेरा है संसार में॥
माया का विकट अँधेरा है संसार में॥
हो "चन्द्रिका" लीन तू उसमें मेरा-तेरा खोके।
जो भीतर-बाहर सबमें ही भरा एक रस होके॥
तू उसका है वह तेरा है संसार में।
माया का विकट अँधेरा है संसार में॥

—:—

राजा को यों देखकर, व्यथितचित्त गम्भीर।
बोलीं रानी बैन यों, होकर ज़रा अधीर—

"कुछ तो कहिए हे प्राणेश्वर, हैं पड़े आप किस सराय में ?
कहणाए पूरी बात नहीं, हो रहे मौन से किस भय में ?
क्या कुँवर आपकी आज्ञा के पालन में रुकनेवाला है ?
वह स्वयं साधुओं-सन्तों के चरणों पर झुकनेवाला है॥"
नृप बोले—"यह है ज्ञान मुझे, पर मैं क्या बतलाऊँ रानी !
सब सच्ची बात बताने में कातर हो उठती है बानी॥
जो साधु द्वार पर आए हैं, एक सिंह साथ में उनके हैं।
हठ किए कुँवर पर हैं प्यारी, ऐसे वे पक्की ध्वनि के हैं॥

एक ओर कुँवर का मोह प्रबल, एक ओर नियम के रट में हूँ ।
क्या करूँ प्रिये, तुम ही बोलो, मैं पड़ा धर्म-संकट में हूँ ?
यदि विमुख उन्हें लौटादूँ तो कर्तव्य में बाधा आती है ।
कर्तव्य निबाहूँ तो कैसे ? कहते ही फटती छाती है ॥
मैं सभी जानता हूँ रानी, जैसा वह राजदुलारा है ।
जैसे हम दोनों हैं रानी, वैसा वह वंश हमारा है ॥
पर कुँवर अभी किस लायक है, है समय खेलने-खाने का ।
है कहाँ पाठ सीखा उसने—हँस हँसकर मर मिटजाने का ॥"

यह सुन रानी होगई, विह्वल और अधीर ।
पुत्र-प्रेम आया उमड़, गया हृदय को चीर ॥

बोली रानी "हे प्राणनाथ, सुत नागिन ही खा सकती है ।
पद पुत्रवती कहलाने का, बड़भागिन ही पा सकती है ॥
पति हो, परिवार, धाम, धन हो, सब सुख हों दुख-जंजाल न हो ।
पर व्यर्थ नारि का जीवन है, जो कहीं गोद में लाल न हो ॥
माता का सुत पर अमिट प्रेम, यह कभी न मिटनेवाला है ।
आधार सृष्टि का माता पर, ला स्वयं प्रकृति ने डाला है ॥
यह मेरा पागलपन होगा जो कहूँ मुझे सुत प्यारा है ।
हर समय देखती हूँ जब मैं, जीवनधन कुँवर तुम्हारा है ॥
मैं माता हूँ, हैं पिता आप, जो मेरा वही आपका है ।
है किसे न प्यारा कुँवर भला ? अवसर तो परम ताप का है ॥
पर जब कर्तव्य निभाना है, तो मोह शोक का काम नहीं ।
जो ऐसे में घबड़ा जाए, प्रणवादी उसका नाम नहीं ॥
यदि संशय कहीं कुँवर का हो, तो मैं साहस से कहती हूँ ।
हम दोनों से वह आगे है, मैं सदा देखती रहती हूँ ॥

इसलिए मोह कीजिए दूर, है काम नहीं घबड़ाने का ।
जगदीश्वर ही साहस देंगे, यह दारुण धर्म निभाने का ॥"

इस प्रकार साहस-भरे, सुन रानी के बैन ।
धैर्य हुआ नृप को मगर, रहे सजल ही नैन ॥
इसी समय देखा कुँवर—आते अपनी ओर ।
उदय निशाकर जानके-नृप होगये चकोर ॥

रहगए ठगे से मौन बने, कुछ भूप न मुँह से बोल सके ।
मन में था हृदय लगा लेवें, कर पग ही किन्तु न डोल सके ॥
सोचने लगे-"यह सुघर कुँवर, अठखेली करता आता है !
बरजोरी मेरे वचनों पर, पानी-सा पड़ता जाता है ॥
आहा ! क्या रूप सलोना है, कैसा मृदु हास ठगोना है ।
बरबस ही मन हर लेता है, चितवन में मानो टोना है ॥
क्या यही हृदय का टुकड़ा है, जिसको मैं खोने जाता हूँ ?
छिः किधर देखती हैं आँखें क्या पागल होने जाता हूँ !!
यह सब माया की लीला है, संसार इसी में भूला है ।
आत्मा की कोई खबर नहीं, इस रम्य रूप में फूला है ॥
वह अमर अंश कब मरता है, आत्मा को सदा अमरता है ।
जो जकड़ा मोह-अविद्या में, बस वही मारता-मरता है ॥
जो निश्चित अटल साधु-सेवा, उससे मुख कभी न मोड़ूँगा ।
सुत, नारि, वित्त, सर्वस जाए पर अपना धर्म न छोड़ूँगा ॥

❀ गाना ❀

भटक रत मूढ़ मन मेरे, यह सब झूठा झमेला है।
विकल किसके लिए होता ? अरे, तू तो अकेला है।

स्वजन, परिवार, सुत, नारी, सभी हैं कर्म-बन्धन में ।
न तू उनका, न वह तेरे, लगा माया का मेला है ॥
न कोई जन्मता-मरता, न कोई आता-जाता है ।
है जिसनें वासना जैसी, उसी की झेली-झेला है ॥
किए कर्तव्य जा अपना, भटक मत मेरी-तेरी में ।
तुझे ही आजमाने का, प्रकृति ने खेल खेला है ॥
लगा रह "चन्द्रिका" उसकी लगन में, जिससे छूटा तू ।
हृदय के पास जाकर देखले बिल्कुल उजेला है ॥"

नृप को था मन पर विजय करने का भी ज्ञान ।
किन्तु, प्रबल मन भी कहीं, योंही जाता मान ॥

कठिन समस्या में उलझ, नृप थे मनो अबोध ।
भीतर-बाहर के नयन, करते थे प्रतिशोध ॥

धीरे धीरे इठलाते से—आगए कुँवर नृप के आगे ।
देखा नृप ने भी रम्यरूप, थे जिसे झूठ समझे त्यागे ॥
भर आया हृदय सदय नृप का, आँखों से आँसू निकल पड़े ।
कर बढ़ा हृदय से लगा लिया, फिर भाव प्रकृति के मचल पड़े ॥
करदिया मोह ने भी दावा, पर रोका उस आत्मबल ने ।
इन घात और प्रति घातों से, व्याकुल हो हृदय लगा जलने ॥
"माया, तू विश्व-विमोहिनि है, सबको वश में करलेती है ।
तू बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों को, कर्तव्यहीन कर देती है ॥
मैं क्या हूँ, भूला सभी जगत् तेरी इनहीं लीलाओं में ।'
जो तुझे जीत ले वीर वही, रणधीर सभी योद्धाओं में ॥
इस भाँति अनेक विचारों में, नृप डूब डूब उतराते थे ।
अपने निश्चित सिद्धान्तों का, स्वागत भी करते जाते थे ॥

कुछ सोच कुँवर से बोले यों, कर प्यार, प्रेम से फुसलाकर—
"जलपान अभी तक किया, नहीं माँ से प्रसाद लेलो जाकर॥"
रानी भी इन्हीं विचारों में थी चित्र-लिखी-सी खड़ी हुई ।
किस भाँति कुँवर से पूछूँगी, थी इसी ध्यान में गड़ी हुई॥
कर धैर्य, हृदय को समझाकर मख का प्रसाद लेकर धाई ।
'बलिजाऊँ आओ लाल मेरे', यों कहती हुई निकट आई॥
देकर प्रसाद मीठे स्वर में, बोलीं—"बेटा, क्यों देर हुई ?
देखने वाटिका चले गए, या गुरु के यहाँ अबेर हुई ?"

विस्मित देखे कुँवर ने, सजल मातु के नैन ।
हाथ गले में डाल के बोल उठे यों बैन—

"माता ! माता !! क्यों रोती हो, क्या हुआ तुम्हें कुछ बोलो तो ?
है कष्ट कौन सा बतलाओ, कुछ भेद हृदय का खोलो तो ?
क्या कहा पिता ने कुछ तुमको, या बात कोई प्रतिकूल हुई ।
माँ, मुझे बताओ चुप क्यों हो, क्या मुझसे कोई भूल हुई ?'
रानी ने कहा कुँवर से यों, दृढ़ भली भाँति करके मन को ।
"रोती क्या कुँवर, सोचती हूँ, पछताती हूँ, नर-जीवन को॥
मैं क्या, सारा संसार इसी नरजीवन में है भूल रहा ।
है बड़ा डूबता-उतराता, भँवरों में उलझा भूल रहा॥
हटता मन जितना है जग से, उतना ही बढ़ता जाता है ।
घटता है जितना मोह-छोह, उतना ही बढ़ता जाता है॥
क्या कहूँ कुँवर, घबराती हूँ मति जाती है निर्बल होती ।
आपकी समस्या कुछ ऐसी, जो पुत्र नहीं है हल होती॥'—
बोले यों कुँवर' सुनो माता सब काम धैर्य से होते हैं ।
वे सिद्धि नहीं पाते जग में, जो धैर्य हृदय का खोते हैं॥

बैठे हैं पिता उदास उधर, माता, तुम उधर रोरही हो ।
बतलातीं कुछ भी नहीं मुझे, किस कारण विकल होरही हो ॥
हों विकल पिता-माता दोनों, बच्चे को फिर भी कल होवे ।
निश्चेष्ट देखता रहे वही, जिसकी आत्मा निर्बल होवे ॥
जबतक उस कठिन समस्या का, वृत्तान्त नहीं सुनलूँगा मैं ।
सच कहता हूँ तब तक माता, भोजन भी नहीं करूँगा मैं ॥"

देखा रानी ने कुँवर हैं—होरहे अधीर ।
इस प्रकार कहने लगीं, देकर मन को धीर ॥
"बेटा, किस मुख से कहूँ, दर्द हृदय का खोल ।
वाणी में कर्तव्य ने, दिया हलाहल घोल ॥

आगए महात्मा आज एक, सत्कार न उनका हो पाया ।
कुछ ऐसी कठिन समस्या है, जिसने हम सबको बौराया ॥
एक सिंह साथ में है उनके, नर-भोजी उसे बताते हैं ।
सन्तुष्ट सिंह को किए बिना, वह भी प्रसाद नहिं पाते हैं ॥
स्वागत तो अबतक होजाता, पर नृप या मुझको तुष्ट नहीं ।
आशङ्का—यही होरही है, चलपड़ें न होकर रुष्ट कहीं ॥
सिद्धान्त अटल अपना बेटा, है अबतक तो निभता आया ।
पर आज न जाने क्या होगा, है महा मतिभ्रम-सा छाया ॥
मैं इसी दुःख से व्याकुल हूँ नृप इसीलिए घबड़ाए हैं ।
क्या जाने, किन अपराधों से विपदा के घन घिर आए हैं ॥
सन्तुष्ट उन्हें करना चाहूँ तो तुम्हें लाल, अर्पित करदूँ ।
निर्दय नागिन-सी होजाऊँ, हा ! भरी गोद खाली करदूँ ॥

यह कह रानी होगईं, दुखित और बेहाल ।
पुत्र-प्रेम के भाव को, सकीं न हाय ! सँभाल ॥

ताम्रध्वज हँसकर बोल उठे—"माँ इसीलिए घबड़ाती हो ?
बस इसी समस्या पर इतनी होकर अधीर अकुलाती हो ?
इस तुच्छ भेंट के देने में, साहस तुमने सब हारा है ?
यह हाड़-माँस का ढाँचा ही, क्या प्यारा कुँवर तुम्हारा है ॥
माँ भूल गई ? क्या भूल गई ? जो शिक्षा तुम देती आई ।
अच्छा है प्रण पर बलि होना, हँस-हँसकर वीरों की नाई ॥
यह अनधिकार चेष्टा मुझने, नाहक ही माँ करवाती हो ।
जो साहस तुमसे पाता मैं, माता, वह तुम्हीं घटाती हो ॥
माँ रोती सदा कुपूतों को, जिसने कायर उपजाए हैं ।
वह हँस, हँसकर-बलि कर देती, जिसने नाहर उपजाए हैं ॥
माँ चलो पिता से आज्ञा लो, और करो प्रसन्न महात्मा को ।
दो शांति सिंह-की आत्मा को और धन्यवाद परमात्मा को ॥"

इस प्रकार कहकर वचन लेकर माँ को सङ्ग ।
गये पिता के पास वे, मन में भरे उमङ्ग ॥

बोले—"क्यों अबतक होपाया सन्तों का कुछ सत्कार नहीं ?
यह निरर्थ नियम जो जाता है इसका क्या पिता विचार नहीं ?
मैं जान चुका हूँ माता से, जो कारण है अकुलाने का ।
आश्चर्य होरहा है मुझको, आपमें मोह आजाने का ॥
मैं सत्य हृदय से कहता हूँ मैं सच्चा लाल तुम्हारा हूँ ।
हर समय तुम्हारे चरणों पर, न्योछावर होनेवाला हूँ ॥
अत्यन्त हर्ष और साहस से, मुझको कर्तव्य निभाने दो ।
आया है स्वयं स्वर्ण अवसर, तो उससे लाभ उठाने दो ॥
जिस तरह महात्मा हों प्रसन्न जिस तरह सिंह को कष्ट न हो ।
उसपर ही पिता तयार हूँ मैं, पर अपना ध्येय विनष्ट न हो ॥

उद्देश्य जीव का यह ही है-इस कर्मभूमि में आने का ।
निष्काम स्वधर्म कमाने का, हँस-हँस कर्तव्य निभाने का ॥
यह काया अन्य योनियों की आती है पर-उपकारों में ।
पर काया अधम नरों की तो सड़ जाती कूल-कछारों में ॥
क्या ही शुभ अवसर आया है। मुझको हँसकर मरजाने दो ।
हे पिता, दया कर आज्ञा दो, मन में कुछ मोह न आने दो ॥
आत्मा तो सदा अमर ही है, अविनश्वर है अविकारी है ।
जो सड़ती, गलती, जलती है, वह नश्वर देह हमारी है ॥

❀ गाना ❀

यही है-सबसे ऊँचा ज्ञान ।
जीती-मरती कभी न आत्मा, बूढ़ी हो न जवान ।
शुद्ध सनातन अनपरिवर्तन रहती सदा समान ।
यही है सबसे ऊँचा ज्ञान ॥
जीर्ण छोड़कर नये वस्त्र ज्यों धारण करें सुजान ।
त्यों तज एक देह दुसरी में आत्मा करे पयान ।
यही है सबसे ऊँचा ज्ञान ॥
जल में गले न जले अग्नि में भिदे न तीखे बान ।
पवन झकोरों से सूखे नहिं सदा अमर अम्लान ।
यही है सबसे ऊँचा ज्ञान ॥
विमुख न हो कर्तव्य-मार्ग से—संकट देख महान ।
अन्त-'चन्द्रिका' जय अवश्य है रहे न जो अज्ञान ।
यही है सबसे ऊँचा ज्ञान ॥"

—०—

इस प्रकार निज पिता को, भली भाँति दे धीर ।
चले जननि की ओर वे, ताम्रध्वज प्रणवीर ॥
देखो, विस्मित होकर देखो, यह कैसा दृश्य निराला है !
उस ओर पिता है मोहित-सा, इस ओर पुत्र प्रणवाला है !!

सन्तो की सेवा मे अपना तन जाने की पर्वाह नहीं ।
मरने का निश्चय है मन में पर वाणी में कुछ आह नहीं ॥
ऐसे ही पुत्रों को पाकर माँ पुत्रवती कहलाती है ।
ऐसे ही-रत्नो को पाकर भूमाता धन्य कहाती है ॥
ऐसे ही शेर बबर पाकर है पिता पिता का पद पाता ।
ऐसे ही शिष्य प्रवर पाकर गुरु भी है सद्गुरु होजाता ॥
यदि ऐसे ही बालक आवें तो दु:ख शोक सारा हरदें ।
घर मे, समाज में, जगती मे सुख की सुखमयी सुधा भरदें ॥

ताम्रध्वज ने यो कहे, माँ से जाकर बैन—
'उठो, चलो, माँ मुदित हो, जी न करो बेचैन ॥

माता, यह जड़ता दूर करो, तृष्णा कब जाती मृग-जल से ?
छोड़ो इस मोह-अविद्या को और लो अब काम आत्मबल से ॥
जो वस्तु जिसलिए होती है वह उसी काम में आती है ।
यह नीति सृष्टि-निर्माता की है अटल, न टाली जाती है ॥
जो साधु प्राण-से प्यारे थे, उनका हो रहा निरादर है ।
कर्तव्य ठोकरें खाता है और हाड़-माँस का आदर है ॥"

यह सुनकर माता हुई-हर्षित मन में और ।
इतने में ही आगए-नृपवर भी उस-ठौर ॥
गले मिले सब प्रेम से, छल प्रपञ्च को फेंक ।
सद्विवेक ने करदिया-तीनों का मन एक ॥

शोधते परस्पर आत्मतत्त्व; जापहुँचे जहाँ महात्मा थे ।
जो व्यक्त भी थे, अव्यक्त भी थे मायापति पूर्ण परात्मा थे ॥
क्रम से नृप रानी और कुँवर, तीनों ने दण्ड-प्रणाम किया ।
दे आशिष कहा महात्मा ने-"नृप, बड़ी देर विश्राम किया ॥"

बोले नृप-"हुआ विलम्ब नाथ, मुझसे ही भारी भूल हुई ।
मैं क्षमाप्रार्थी हूँ भगवन् ! जो कुछ सेवा प्रतिकूल हुई ॥
यह कुँवर आपकी सेवा में, अत्यन्त, हर्ष से आया है ।
वृत्तान्त सिंह के भोजन का, मैंने सब इसे सुनाया है ॥"
तब कहा साधु ने-"सुनो नृपति, किसलिए विलम्ब लगाते हो ?
यह सिंह भूख से व्याकुल है, तुम बातों में बिलमाते हो ॥
नृप तुम रानी और कुँवर सभी अब शोक मोह सब त्याग करो ।
रानी और तुम आरा लेकर शिर से सुत के दो भाग करो ॥
उन भागों में से बाँयाँ तो नहीं किसी काम में आएगा ।
बस उत्तम अङ्ग दाहिना ही यह सिंह हमारा खाएगा ॥
यदि कहीं किसी के नेत्रोंमें दुख के आँसू भर आएँगे ।
तो सिंह त्याग देगा भोजन, सब कार्य भ्रष्ट हो जाएँगे ॥
इस भाँति अगर स्वागत करना हो हर्ष-सहित स्वीकार तुम्हें !
तो करो, अन्यथा ना करदो, हो अगर कुँवर का प्यार तुम्हें ॥"
बोले नृप-"सुनो महात्मा जी, हम तीनों अटल हृदय के हैं ।
वह शोक मोह, भ्रम जो कुछ थे, सब अर्पण करुणामय के हैं ॥"

इस प्रकार कहकर वचन-नृप ने किया विचार ।
कार्य करूँ आरम्भ अब सविधि धर्म-अनुसार ॥
कहा-"प्रिये ! चौका करो-जल्दी गोमय लाय ।
आरा लाऊँ शीघ्र मैं मखशाला से जाय ॥"

नृप गये शीघ्र मखशाला को, रानी गोशाला को धाई ।
नृपवर आरा लेकर आए, रानी भी गोमय ले आई ॥
चौका लगवाकर चौक पूर, ऊर्णासन बिछा दिया लाके ।
और स्नान सबों ने किया पुनः, स्नानालय के भीतर जाके ॥

करें बढ़-बढ़ के बातें, और समय पर मुँह छिपा लेवें।
कहीं कायर भी ऐसे अपनी पूरी आन करते हैं ?
श्रवण से, राम से रोहित-से पाए जिसने हैं बेटे।
वही संसार में सद् वंश का अभिमान करते हैं॥
कर्ण, हरिश्चन्द,दशरथसे,तथा शिविसे दधीची से।
जो हैं पक्के हृदयवाले वह निर्भय दान करते हैं॥
वचन, मन, कर्म से जो "चन्द्रिका,' हैं बाप के प्रेमी।
उन्हीं का हर तरह से पूर्ण प्रण भगवन करते हैं।"

—०—

चले महात्मा रुष्ट हो, लिए सिंह को साथ।
हृदय धीर धर कुँवर ने, कहा जोड़कर हाथ॥
"है कुछ मेरी प्रार्थना, सुनो साधु शिरमौर।
अश्रुपात का है प्रभो, कारण ही कुछ और॥

होरहा दाहिना अंग सफल, स्वीकार सिंह को सादर है।
वामाङ्ग व्यर्थ होजायेगा, उसका हो चुका निरादर है॥
रो उठा नेत्र बाँया इससे, उसने ही अश्रु बहाया है।
जो अङ्ग सिंह का भोजन है, उसने कब मोह दिखाया है ?
यदि वाम अंग अपराधी है तो भगवन् वही दण्ड पावे।
पर, जिसका कोई दोष नहीं, वह भी क्यों ठुकराया जावे ?"
जब कहे कुँवर ने सविनय हो, यह वचन शान्ति-रस में साने।
गद्गद् होगए विष्णु मन में, कारुण्य भाव से अकुलाने॥
बोले—"यदि ऐसा है कुमार तो एक बात यह बतलादो।
दोनों अङ्गों के नेत्रों में दिखते हैं एक दृश्य या दो ?"
बोले ताम्रध्वज—"सुनो साधु, दो विषम दृश्य दिखजाते हैं।
पर ज्यादा नहीं ठहरते हैं सब एक रूप होजाते हैं॥

श्रीहरि का सुन्दर रम्य रूप-इस वामनेत्र में छाया है।
दाएँ में विमल अखण्ड तेज मानो सर्वत्र समाया है॥
देखते देखते सहसा ही, कुछ का कुछ ही होजाता है।
रहजाता है तेज ही तेज-जो नहीं शब्द में आता है॥"

यह सुन बोले साधु जी-"है सच कथन कुमार!
अङ्ग दाहिना सिंह अब करलेगा स्वीकार॥
किन्तु कहो रानी नृपति, अपना अपना हाल।
जिससे मन में सिंह के रहे न कहीं मलाल॥"

बोले नृप-"सुनो महात्मा जी, हरिजन ही मुझे दिखाते हैं।
जो हरि के सहित अखण्ड तेज में हो विलीन-से जाते हैं॥"
रानी ने कहा-"सुनो भगवन् पति-कुँवर सामने मेरे हैं।
उनके समीप ही विष्णु-सहित हरिजन भी खड़े घनेरे हैं॥"
इस भाँति नृपति और रानी ने कह दिया भाव मन का सारा।
थे खड़े विदेह बने दोनों, चलता ही रहा किन्तु आरा॥
देखा हरि ने हैं लगे हुए-सब परम तत्व के स्पर्शन में।
सर्वथा सत्य, शिव, सुन्दर हो-सच्चिदानन्द के दर्शन में॥
बोले तब यम से-"देखलिया या अभी और कुछ संशय है?
यदि चाहो तो लो और देख, पर इनकी ही अन्तिम जय है॥"
बोले यम-"नहीं नहीं भगवन्, मिट गया मोह मन का सारा।"
और होकर प्रकट रूप यम ने-ऊपर ही उठा लिया आरा॥"
होगए प्रकट भगवन् विष्णु और बोले-"जय मोरध्वज की।"
नृप रानी सहसा चौंक पड़े जागी समाधि ताम्रध्वज की॥
गिरपड़े चरण में सब हरि के हरि ने भी सबको प्यार किया।
हर्षित की सुमनवृष्टि नभ से, देवों ने जय-जयकार किया॥

बोले यम—"मोरध्वज की जय, रानी की जय, कुमार की जय।"
हरि बोले—"रानी, नृप कुमार तीनों के धर्म प्यार की जय॥"
बोले कुमार—"माता की जय, पितु की जय, परमहंस की जय।"
आया यह घोष प्रतिध्वनि से—"जय जय जय अमर अंशकी जय॥"
नृप, रानी, कुँवर सभी बोले—"मायापति कृष्णचन्द्र की जय।"
हम भी और श्रोतागण तुम भी बोलो-सच्चिदानन्द की जय॥

हाथ मनों पर फेरकर, दे स्वभक्ति-वरदान।
यम-समेत क्षण में हुए श्रीहरि अन्तर्धान॥
नृप, रानी और कुँवर सब—मिले हृदय हर्षाय।
गए भवन को शान्त हो; प्रभु पर ध्यान लगाय॥

* गाना *

पार करइया, नवइया, प्रभु तुम ही।

अगम अगाध भरी भवसागार बीच भँवर में नवइया।
पिये मोह ममता की मदिरा, है मतवार खेवइया॥ नवइया०॥
छाई घोर घटा दुर्मति की, बहत कुसँग पुरवइया।
है न पास कोउ सन्त-सयानो, मारग अलखे लखइया॥ नवइया०॥
लाख भरे स्वारथ के साथी झूठे प्यार करइया।
वे दुरि रहत न आवत नेरे, एको अन्त समइया॥ नवइया०॥
सब विधि देखि निराशा जग से, है अनाथ असहइया।
आयो है—'चन्द्रिका' शरण प्रभु! हेरो विपति हरइया॥ नवइया०॥

—o—

इति

लेखक—
श्रीयुत "चन्द्र" एम० ए०
साहित्यभूषण,

सम्पादक—
नेपाल गवर्नमेंट से "कथावाचस्पति" की पदवीप्राप्त—
कीर्तनकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—
पं० राधेश्याम कथावाचक

प्रकाशक—

चतुर्थ बार २०००] सन् १९५८ ई० [मूल्य ४४ नए पैसे

मुद्रक—पं० रामनारायण पाठक, श्रीराधेश्याम प्रेस, बरेली।

मङ्गलाचरण

नमो सच्चिदानन्द जय सच्चिदानन्द।
अजन्मा अमर और अविकार तू है।
तुही जग का स्वामी है, कर्तार तू है॥
है कण कण में व्यापक वह भर्तार तू है।
चलाता यह सम्पूर्ण संसार तू है॥
तेरी सृष्टि में जीव फिरते हैं स्वच्छन्द।
नमो सच्चिदानन्द जय सच्चिदानन्द॥
बनाये हैं तूने दिवाकर निशाकर।
रचाये हैं जल थल गगनचर चराचर॥
यहाँ क्षार सागर वहां क्षीर सागर।
तेरे ही दया-स्रोत पर तो हैं निर्भर॥
किसी के लिए भी तेरा दर नहीं बन्द।
नमो सच्चिदानन्द जय सच्चिदानन्द॥

कृतज्ञता-प्रकाशन

श्रीराधेश्याम-पुस्तकालय से प्रकाशित श्रीयुत मुरारीलाल जी 'कमल' रचित "महाराजा भर्तृहरि" नामक नाटक के आधार पर मैंने इस कथा की रचना की है।

गुरुवर्य्य पण्डित राधेश्याम कथावाचकजी ने जिस प्रकार मेरी पिछली कथा-पुस्तक "सत्यवादी-हरिश्चन्द्र" को अपने सम्पादन से कुछ का कुछ बना दिया था, उसी प्रकार इसका भी यथोचित संशोधन कर इसे सब भांति सजा दिया है।

वस्तु कैसी है—इसका निर्णय पाठको पर ही है।

निवेदक—चन्द्रनारायण

भर्तृहरि-चरित्र

कथा प्रारम्भ

श्रीवाणीपति, रमापति, गिरिजापति भूतेश ।
यह त्रिदेव मिलकर हरें जग के तीनों क्लेश ॥
उठी द्विजिह्वा लेखनी, लेकर यह आह्लाद ।
त्याग और वैराग्य का, दे जग को सम्वाद ॥
राज्य मालवा एक दिन, था शोभा की खान ।
रजधानी उज्जैन थी, अलकापुरी-समान ॥
राजा थे श्रीभर्तृहरि ज्ञानी धर्म-धुरीण ।
न्याय-कुशल, साहित्य-प्रिय विद्या-कला-प्रवीण ॥
योद्धा होकर भी, यह नृपवर भावुक थे और महाकवि थे ।
शीतलता में थे चन्द्र-सदृश तो प्रतिभा में प्रचण्ड रवि थे ॥
वैराग्य नीति, शृङ्गार शतक हैं अमर-काव्य इन कविवर के ।
जो विमल कमल कहलाते हैं, संस्कृत साहित्य-सरोवर के ॥
भूपति की जीवनी के हैं तीन ही विभाग ।
प्रथम नीति, शृङ्गार फिर--फिर अखण्ड वैराग ॥
नीति-काल का प्रथम हम कहते हैं वृत्तान्त ।
श्रोतागण, सुनिए ज़रा चित को करके शान्त ॥

यों तो भारत-विदित हैं—इनके न्याय अनेक ।
फिर भी परिचय के लिए लिखते हैं दो एक ॥
राजसभा में एक दिन बैठे थे नरनाथ ।
दो माता आईं वहाँ एक पुत्र ले साथ ॥
श्यामा माता–उस बच्चे को अपना बच्चा बतलाती थी ।
गौरी बच्चे की चोरी का उसपर इल्जाम लगाती थी ॥
यह विकट समस्या थी सम्मुख, इनमें से किसका बच्चा है ?
दोनों में से किसका बयान–झूठा है ? किसका सच्चा है ?
न्यायशील ने उस समय किया अनोखा न्याय ।
इस महान् अभियोग का था वह सुगम उपाय ॥
सोचा–"बछड़े पर विपत् देख गोमात छुपेगी नहीं कभी ।
वात्सल्य-भावना जननी की उर-मध्य छुपेगी नहीं कभी ॥"
आज्ञा तत्काल बधिक को दी–"बच्चे के दो टुकड़े करदो ।
दोनों को एक-एक देकर तय दोनों के दुखड़े करदो ॥
यह निर्णय सुन चुप रही कृत्रिम गोरा मात ।
श्यामा के उर पर हुआ—भीषण वज्राघात ॥
"अपनी आँखों के तारे का बध क्योंकर मैं करने दूँगी ।
यह मेरे दिल का टुकड़ा है, कैसे इसको मरने दूँगी ॥
मेरी गोदी में नहीं सही, इसकी गोदी में शोभित है ।
राजाजी, है सन्तोष मुझे, बच्चा तो मेरा जीवित है ॥"
न्यायशील निज युक्ति का फल विलोक तत्काल ।
बोले–"है माता यही, इसका ही है लाल ॥"
होगई प्रकट असली जननी, ऐसा उपयुक्त उपाय हुआ ।
जल और दूध होगया पृथक् वह राजहंस का न्याय हुआ ॥

श्यामा की गोदी में जाकर, बच्चा कर जभी किलोल उठा ।
जननी ने जय-जयकार किया, दर्बार आफ़रीं बोल उठा ॥
इसी तरह का प्रश्न फिर उठा दूसरी बार ।
एक पुत्र के दो पिता, आये दावेदार ॥
वादी कहता था—"नृपति है यह मेरा लाल ।"
प्रतिवादी ने कहा—"यह है झूठा वाचाल ॥"
मातृ-प्रेम की तुला पर, तुला प्रथम अभियोग ।
न्यायी ने विज्ञान का, अब के किया प्रयोग ॥
आज्ञा दी—"तीनों के तन से, एक एक बिन्दु लो रक्त अभी ।
जाँचो परखो, और शोध करो, होगा रहस्य सब व्यक्त अभी ॥
जिसके खूँ में बच्चे का खूँ, हल होकर लय होजाएगा ।
बच्चा है उसी बाप का यह, तत्क्षण निर्णय होजाएगा ॥"
वादी के ख़ूँ में हुआ, बच्चे का ख़ूँ लीन ।
"इसका ही है पुत्र यह"—बोले नृपति प्रवीन ॥
प्रतिवादी से इस तरह कहा—"होगा न पुत्र यह प्राप्त तुझे ।
सुतहीन रहे तू यही दण्ड दुनिया में है पर्याप्त तुझे ॥"
बेटा पाकर वादी बोला—"कंगाल कृतज्ञ नितान्त हुआ ।
आगामी युग को मालवेन्द्र यह न्याय एक दृष्टान्त हुआ ॥"
एक और नृप-न्याय का, कहते हैं वृत्तान्त ।
राज-सभा में जो हुआ, कुछ दिन के उपरान्त ॥
नगर-सेठ की हो पड़ी, तेली से तकरार ।
दोनों को दर्बार में, लाया चौकीदार ॥
तेली ने इस भाँति की, अपनी अर्ज़ी पेश—
"नगर-सेठ ने किया है, मुझको दुखी नरेश ॥

सौ रुपये क़र्ज़ ले लिए थे- इनसे कोल्हु बनवाने को ।
व्यापारी ऋण लेते ही हैं, अपना व्यापार बढ़ाने को ॥
वह रुपये ब्याज-समेत इन्हें, राजाजी आज देदिए थे ।
गिन और परखकर थैली में, लाला ने सभी रखलिए थे ॥
माँगी रसीद तो मेरे ही, खिचवाये कान सेठजी ने ।
कुछ मुद्राओं पर इस प्रकार, खोया ईमान सेठजी ने ॥
ईमान नहीं तो मान नहीं, जब मान नहीं तो जीवन क्या ?
जनता में आदर पायेंगे, यों बेईमान महाजन क्या ?"

तेली ने जब यों किया नगर-सेठ पर वार ।
कहा गरजकर सेठ ने—"झूठे पर धिक्कार ।

जब आपत्काल देश में हो, हम लोग थैलियां देते हैं ।
जनता जब भूखों मरती है, तो खोल खत्तियां देते हैं ॥
हुण्डी, पर्चे, बदनी, सट्टे सब इस जिह्वा पर चलते हैं ।
लाखों में साख हमारी है, हम नहीं ज़ुबान बदलते हैं ॥"

उभय-पक्ष की बात सुन, बोले भूप सुजान—
होजायेगा इसी क्षण, सत्य-झूठ का ज्ञान ॥

डालो रुपयों को पानी में, सब भेद अभी खुल जाएगा ।
सच-झूठेपन का सौदा, इस काँटे पर तुल जाएगा ॥
निश्चय ही इन्हें छुआ होगा, तेली ने तेल लगे कर से ।
चिकने रुपये ख़ुद कहदेंगे, आये किस मालिक के घर से ?"
जब निर्णायक के मानस में निर्णय का स्रोत छलक आया ।
सच्चाई छुपी नहीं, आख़िर—जल में भी सत्य झलक आया ॥

"तेली ही का द्रव्य है"—बोला जन-समुदाय—
"धन्य-धन्य भूपालवर, किया अनोखा न्याय ॥"

राजाज्ञा से सेठ ने, लिक्खा स्वीकृति-पत्र ।
नृपवर का इस न्याय से, फैला यश सर्वत्र ॥
केवल न्यायी ही नहीं, थे मालव-महिपाल ।
प्रजा-हितों का भी सदा, रखते खास खयाल ॥

नवयुवक कुसंगति में पड़कर, यदि ग़लत राह पर जाते थे ।
तो सत्-शिक्षाओं से उनको, वे शुद्ध मार्ग पर लाते थे ॥
प्रायः वे वेष बदलकर भी, नगरी में घूमा करते थे ।
दीनों दुखियों विधवाओं के, सन्ताप दया से हरते थे ॥
जनता की विपदा अपनी ही, विपदा नित समझा करते थे ।
बन गए इसी से लोकमान्य, सब लोग प्रतिष्ठा करते थे ॥

❀ गाना ❀

नरेश्वर का भूषण है न्याय ।
न्यायी के शासन में जमते नहीं द्वेष के पैर ॥
एक घाट पीते हैं पानी तज स्वाभाविक वैर ।
सिंह हो या हो कपिला गाय ॥
न्याय-बिना रैयत का जीवन रहता दीन मलीन ।
बड़े-बड़े साम्राज्य बिगड़कर होते तेरह तीन ॥
यही कहता है ऋषि-समुदाय ।

नीति-निरत नृप को हुआ, जिस विधि प्रिय शृङ्गार ।
कहते हैं अब वह कथा करके कुछ विस्तार ॥

यह घटना है—या जन-श्रुति है, या कवि की एक कल्पना है ।
इसका निश्चय कुछ नहीं अभी, सच है या झूठ जल्पना है ॥
लेकिन है बात बड़ी रोचक, इसलिये सुनाये देते हैं ।
सोने की सुन्दर सेंदुर से, कुछ चमक बढ़ाये देते हैं ॥

एक दिवस दर्बार में, आकर बोला दास—
"देते हैं बैतालगण, जनता को अति त्रास ॥"
सुनकर उसके यह वचन, चढ़ा भूप को क्रोध ।
पहुंचे तत्क्षण विपिन में- लेने को प्रतिशोध ॥
बाणों से जैसे अर्जुन ने, कौरव दल का संहार किया ।
तैसे ही सब बैतालों का, नृप ने भी बण्टाढार किया ॥
बैतालों की दुर्गति सुनकर, बैताल-राज बाहर आया ।
क्रोधानल से मुख तपता था, मानो बफरा नाहर आया ॥
ताल ठोंककर भूप पर, झपटा वह तत्काल ।
भूपति भी आगे बढ़े, करने युद्ध कराल ॥
हाथी और मेंढ़े की नाईं, भिड़गए दहों योद्धा दोनों ।
नानाविध दाँव गाँठते थे, दुर्घर्ष बली योद्धा दोनों ॥
आखिर उन बाज सदृश नृप के, चुंगल में आया पत्ती वह ।
लातों से और मुष्टिकों से, संहारा मानव भत्ती वह ॥
पति का लेने के लिए भूपति से प्रतिशोध ।
बैतालिनि भाला उठा, दौड़ पड़ी सक्रोध—
"मदहोश, अभी कर दूँगी मैं यह जोश खरोश नष्ट क्षण में ।
यदि नहीं रहा है दक्षिणाङ्ग, वामाङ्ग आगया है रण में ॥
पति के खूं का तेरे खूं से, बदला ले लेगी विधवा यह ।
संग्राम-भूमि में शोणित से, होली खेलेगी विधवा यह ॥"
नृप असमंजस में पड़े, सुनकर यह ललकार ।
मन के मानस में बही, यों विचार की धार—
"यदि युद्ध-क्षेत्र से हटते हैं, तो यश पर धब्बा आता है ।
नारी पर हाथ उठाएँ तो, नीतिज्ञ हृदय दुख पाता है ॥

गंगा हिमगिरि को बह जाये, हिमगिरि से अङ्गारे बरसें ।
पावस ऋतु में नभ-मण्डल से जल की बजाय तारे बरसें ॥
होजाय प्रकृति में परिवर्तन, पर आन नहीं जाने दूँगा ।
मैं क्षत्रिय हूं, क्षत्रियपन का अभिमान नहीं जाने दूँगा ॥
ओ क्रोधपूर्ण नेत्रों वाली, क्यों सोता सिंह जगाती है ?
रण की ललकार सुनाकर क्यों, तू सोता काल बुलाती है ?
क्या हाथ उठाऊँ नारी पर, हूं इसी सोच में खड़ा हुआ ।
वर्ना तेरा यह तन होता पृथ्वी पर कब का पड़ा हुआ ॥"

चिकने घट पर जिस तरह ठहर न सकता वारि ।
त्यों नृप वचनों से हुई नहीं प्रभावित नारि ॥

पति-हीन सिंहनी और नागिन जब गुस्से में भर जाती हैं ।
तो अपने अरि को सम्मुख लख वे तुरत चोट कर जाती हैं ॥
तद्रूप देखकर राजा को बैतालिनि ने भी वार किया ।
प्राणों तक जिसकी चोट जाय, ऐसा विकराल प्रहार किया ॥

जादू था आश्चर्य था अजब था चमत्कार ।
बाईं दिशि से विष भरी आई एक कटार ॥
बैतालिनि के वार का किया तुरत ही काट ।
भेजा उसको यम-सदन गई कलेजा चाट ॥
लगे सोचने हृदय में तब यों नृपति सुजान—
"हुआ प्रकृति की ओर से क्या यह गुप्त विधान ?"

आगे देखा पीछे देखा, देखा फिर सभी दिशाओं में ।
दीखा तब एक नकाब-पोश वृक्षों की सघन लताओं में ॥
आँखें बतलाती थीं—उसमें, है शक्ति अपरिमित भरी हुई ।
काली नकाब है घन समान, बिजली है जिसमें छिपी हुई ॥

खींच रही थी शक्ति वह नृप को अपनी ओर ।
गए प्रेरणा-वश उधर मालव-राजकिशोर ॥
बोले—"योद्धावर किया, यह क्या अत्याचार—
गुप्त रूप से नारि पर फेंकी तीव्र कटार ?
यह सच है मेरे प्राणों को, तुमने इस समय बचाया है ।
पर इसमें भी सन्देह नहीं, नारी पर हाथ उठाया है ॥
वैतालिनि तो अपने पति का बदला लेने को धाई थी ।
तुमने किसका बदला लेने उस ओर कटार चलाई थी ?"
प्रत्युत्तर में उधर से हुई मधुर झङ्कार ।
मानो धीमे स्वरों में बजने लगा सितार—
वैतालिनि द्वारा अगर होता आज अनिष्ट ।
आ जाता उज्जैन पर ग्रह का चक्र अरिष्ट ॥
संगठित व्यवस्थित शासन का सारा ही साज् बिगड़ जाता ।
बेवक्त ग्रीष्म के झोंकों से उज्जैनोद्यान उजड़ जाता ॥
होजाती आज अनाथ प्रजा, सेना पर सङ्कट आजाता ।
श्रीमती पिंगला रानी के महलों में मातम छा जाता ॥
इस कारण इस रण में आकर मैंने कर्तव्य निभाया है ।
उपकार किया है रैयत पर रानी का भाग्य बचाया है ॥
सारांश यही है कहने का करिएगा मुझ पर रोष नहीं ।
मैंने नारी को मारा है नृप पर है इसका दोष नहीं ॥
जब वन-वासिनि वैतालिनि तक धाई बदला लेने पति का ।
तो क्या कटार का धर्म न था जो प्राण बचाती भूपति का ॥
तव बातों का है यही, उत्तर कृपा-निकेत ।
वह पति के हित लड़ी थी, मैं भूपति के हेत ॥"

इस उत्तर में भरा था, तर्क ओज उत्कर्ष ।
नृप को था संकोच भी और अपरिमित हर्ष ॥
बोले-"है ऋणी भर्तृहरि यह, निज-रक्षक खलाविहारी का ।
कहिए किस तरह चुकाए वह, बदला अपने उपकारी का ?"
तब मिला जवाब कि-बदले की, खातिर है यह उपकार नहीं ।
उद्धारक स्वार्थ-भावना से, करते हैं दीनोद्धार नहीं ॥"
स्वाभिमान-युत वचन सुन, चकित हुए महिपाल ।
तुरत कह उठे-"आपका है बेलाग खयाल ॥
लेकिन-क्षत्री निज उँगली पर, गिरिवर धारण कर सकते हैं ।
शर-शैया पर छे मास तलक, यम से भी रण कर सकते हैं ॥
आज्ञा में माता की बँधकर, फिर सकते हैं, वे बन बन में ।
पर बँधने को तैयार नहीं, इस भांति किसी ऋण-बंधन में ॥
मुझ में भी अंश उन्हीं का है, इस कारण ठनी आज हठ है ।
उपहार तुम्हें लेना होगा राजा की यही राज-हठ है ॥
"मुँह-मांगा मिले"-कहा उसने, नृप बोले-"है मंजूर मुझे ।
ममनून आपका हूँ अबतक, अब फिर करिये मश्कूर मुझे ॥
मांगा उसने-"हाथ में दूँ मैं जिसके हाथ ।
उसको पत्नी-रूप में, स्वीकारें नरनाथ !"
मांग देखकर होगए, दंग वीर महिपाल ।
बोले-"यह तो ग़ज़ब का, तुमने किया सवाल ॥
मैंने मँजूर किया है यह-मुँह-माँगा तुमको दूँगा मैं ।
यह कब इक़रार किया मैंने-जो तुम दोगे वह लूँगा मैं ?
क्यों ऋण-बंधन के साथ साथ, मैं फसूँ प्रणय के बंधन में ।
यह उज्जैनी-पति, पत्नी-व्रत, छोड़ेगा कभी न जीवन में ॥

है अमर भर्तृहरि बस-केवल अपनी पद्मिनी पिंगला का ।
अनुरक्त रहेगा जीवन भर, जीवन संगिनी पिंगला का ॥"

फिर गूँजी आवाज यह-हिली लता की डाल—
"कहने ही के लिए है, यह सब है महिपाल ॥

जिसको पद्मिनी बताया है, वह पति के सुख से वंचित है ।
फिर भी अनुरक्त नामधारी, यह भ्रमर नहीं कुछ लज्जित है ।
माना हो नीति-निपुण नृप तुम, विधिवत् शासन भी करते हो ।
पर जिसमें प्रेम-प्रवाह नहीं, वह दिल सीने में रखते हो ॥
मुख से तो प्यारी कहते हो, पर प्यार नहीं दिखलाते हो ।
शायद वह प्यारी नहीं तुम्हें, इसलिए नहीं अपनाते हो ॥
सावन की घटा बनगई हैं, अबला अर्द्धांगिनि की आंखें ।
दर्शन तक को हैं तरस रहीं बेचारी विरहिनि की आंखें ॥
यद्यपि मिलते प्रासादों में, आराम सकल जगती के हैं ।
लेकिन सब रत्न वस्त्र भूषण, पिय बिना प्रिया को फीके हैं ॥
जब प्रेमी और प्रेमिका में, परिपूर्ण प्रेम व्यवहार नहीं ।
प्रस्ताव दूसरी पत्नी का, अनुचित मेरे सरकार नहीं ॥"

इन वचनों से भूप के, लगी हृदय पर चोट ।
चौसर में पिटगई हो, जैसे पक्की गोट ॥
पिटी गोट को जिस तरह, करते हैं फिर लाल ।
पक्ष समर्थन के लिये, त्यों बोले महिपाल—

"चन्द्रमा दूर होने पर भी, होता चकोर बलिहारी है ।
त्योंही मुझ प्रेम वियोगी को, पिंगला प्राण से प्यारी है ॥
मैं रोज इरादा करता हूँ, उसके महलों में जाने का ।
रहता है प्रतिदिन ध्यान मुझे, उसको सब सुख पहुंचाने का ॥

लेकिन लाचार इसी से हूँ, छुटकारा नहीं राज से है ।
अपने कामों तक को फुर्सत मिलती न प्रजा के काज से है ॥
मुँह पर नक़ाब रखने वाले, तुम भी यह बात मानते हो ।
क्यों मुझे उलहना देते हो, जब खुद असिलयत जानते हो ॥
आश्चर्य बढ़ रहा है मेरा, हे वाचाल मनुज आगे आओ ।
रानी का पक्ष लेरहे हो तुम कौन हो अब यह बतलाओ ?

भूपति को अवलोक कर इस प्रकार बेचैन ।
बायें दिश से फिर हुए हास्य-पूर्ण यों बैन—

नृप अगर आपका रानी के दिल पर है सिक्का जमा हुआ ।
तो मैं भी प्रिया पिङ्गला के हूँ रोम रोम में रमा हुआ ॥
वह मणि है और चमक हूं मैं, वह लोचन और पलक हूं मैं ।
साया उससे होजाय पृथक्, हो सकता नहीं पृथक् हूँ मैं ॥"

नृप बोले—"बस मौन हो, फैला मत दुर्गन्ध ।
क्या तेरा पिंगला से है ऐसा सम्बन्ध ?
गुस्ताखाना गुफ़्तगू करती है दिल-पाश ।
करना ही मुझको पड़ा तेरा पर्दा फ़ाश ॥"
यह कहकर आवेश में खेंचा तुरत नक़ाब ।
दाँतों में रह गए नृप अपनी उँगली दाब ॥
घटा हटी तो चन्द्र-छवि चमक उठी तत्काल ।
लख सम्मुख पिंगला को चकित हुए महिपाल ॥

बोले—"हैं! प्रिये! पिंगले! तुम वन में? यह कैसा अभिनय है?
तुमने वह साहस कर डाला जिस पर पुरुषों को विस्मय है ॥
ओ प्राण बचाने वाली, अब, क्या तुम को भेंट चढ़ाऊँ मैं ?
है कहाँ दूसरी पत्नी वह? ले आओ हाथ मिलाऊँ मैं ॥"

बहा चुके जब अर्घ्य हित नैन प्रेम का वारि ।
हाथ जोड़ भर्त्तार से बोल उठी तब नारि—
"स्वामी ने दर्शन नहीं दिए जब कई बरस तक महलों में ।
तो दासी, खुद दौड़ी आई, दर्शन करने को विपिनों में ॥
है क्षमा प्रार्थिनी अनुगामिनि यदि अनुचित भी कर डाला है ।
कविता के रसिक जानते हैं, यह प्रेम का पंथ निराला है ॥
अब तो यह उलझन सुलझ गई—छुपकर संहारा नारी को ।
प्रतिकूल नीति के कहां हुआ ? नारी ने मारा नारी को ॥'
रानी के कर बने जब नृप के उर की माल ।
हृदयवान् राजा तभी बोले वचन रसाल—
"बीत गई प्राणेश्वरी, आज विरह की रात ।
नवजीवन का सामने है अब सुखद प्रभात ॥
इस तरु के साथ रहोगी तुम अब से कुसुमित डाली बनकर ।
नेत्रों का सुख,मन की इच्छा, जीवन की उजियाली बनकर ॥
जबतक क्षिप्रा की धार रहे, जबतक पुष्पों में गंध रहे ।
भर्तृहरि-पिंगला रानी का तबतक अविचल सम्बन्ध रहे ॥"

❀ गाना ❀

जब पति हो पत्नी के मन का, जब पत्नी हो पति के मन की ।
समता कर सकता कौन भला ? ऐसे उत्तम गृहजीवन की ॥
यदि रहे सुमति नारी-नर में ।
सम्पति की कमी नहीं घर में ॥
सुरपुर को यत्मा देती है, शोभा छोटे से आँगन की ।
वृषभान, नन्द जैसे पति हों ।
धावाली कीरति यशुमति हों ॥
तब 'राधेश्याम' छटा घर में, है बरसाने वृन्दावन की ॥"

श्याम घटा को देखकर नाच उठे ज्यों मोर ।
पूर्ण चन्द्र को निरख ज्यों लेता सिंधु हिलोर ॥
त्योंही जब से नगर में, नृप ने किया प्रवेश ।
नवल-नागरी-नेह में, रत होगये नरेश ॥
नख-शिख-वर्णन नृत्यमय गायन की झङ्कार ।
अष्ट प्रहर था—नीति की जगह केलि-शृङ्गार ॥
रंगभूमि का नट बना, जब इस भांति नृपाल ।
सूत्रधार—संसार का, करने लगा खयाल—
"कैसी अच्छी उन्नत आत्मा, निज पथ से बहकी जाती है ।
काशी तक आकर फिर गंगा, हिमगिरि को उलटी जाती है ॥
लेना है ब्रह्मानन्द जिसे वह, माया में है धँसा हुआ ।
जिसको होना चाहिए मुक्त, बंधन ही में है फँसा हुआ ॥"
चली उत्तराखण्ड से, तभी एक द्विज शक्ति ।
रागी नृप में जो करे, पैदा पूर्ण विरक्ति ॥
इस प्रकार उज्जैन में आए तेज-निधान ।
मूर्तिमान तप न्याय के, घर हो ज्यों मेहमान ॥
बोले—"यह मालवीय ब्राह्मण, इस कारण यहां उपस्थित है ।
करता निज तप-संचित सम्पति, मालवपति तुम्हें समर्पित है ॥
हे जन्मभूमि के न्यायी नृप, यह फल खाकर तुम अमर बनो ।
आगे को श्री हरि-चरणों के मतवाले, रसिया अमर बनो ॥"
कहना ही चाहते थे, कुछ मालव के भूप ।
तभी वहां से चल दिया, वह तेजस्वी रूप ॥
हर्ष किसे होता नहीं पाकर दिव्य प्रसाद ।
राजा के भी हृदय में, आया अति आह्लाद ॥

फिर सोचा—रानी बिना विष है यह प्रस्ताव ।
दोनों ही में अमरता का हो प्रादुर्भाव ॥
किसी और दिन खाएंगे साथ उसके सोल्लास ।
यही सोचकर रख दिया फल रानी के पास ॥
ब्राह्मण के आदेश को किया राव ने भंग ।
प्रकृति-चक्र ने पलट कर रचा दूसरा ढंग ॥
संकेत विप्र ने किया, मगर हृद्-चक्षु भूप के खुले नहीं ।
रानी के मन से राग रंग धोये लेकिन वे धुले नहीं ॥
यह तिरस्कार ब्राह्मण का है इसलिए ताड़ना की जाये ।
सत्पथ पर लाने की खातिर नृप को एक ठोकर दी जाये ॥
यही हुआ—उज्जैन में कुछ दिन के पश्चात ।
रतिपति ने पिंगला के किया चरित पर घात ॥
भावज के सम्बन्ध में सुन अनुचित अपवाद ।
वीर विक्रमादित्य के मन को हुआ विषाद ॥
यह कोरी अफवाह है—या है सच्ची बात ?
पहुंचे करने के लिए खुद ही तहक़ीक़ात ॥
अश्वपाल पर हो रही थी रानी बलिहार ।
रानी का कर रहा था अश्वपाल शृङ्गार ॥
विक्रम ने बढ़कर तुरत मारी उसके लात ।
भागा—आँधीवेग से उड़ता जैसे पात ॥
रानी नागिन की तरह तड़प उठी तत्काल ।
कहा विक्रमादित्य से उसने आंख निकाल—
"देवरजी, गुस्सा दूर करो, भ्रम तजो, पड़ो मत शङ्का में ।
मत आग लगाओ हनुमत् बन इस उज्जैनी की लङ्का में ॥

पाचक पकवान बनाते हैं, सारथी हाँकते हैं रथ को ।
मंत्रीदल प्रचलित करता है—जनता में नृपति-मनोरथ को ॥
सेवक से सेवा लेने में स्वामी पर दोष नहीं आता ।
होता यदि इतना ज्ञान तुम्हें, तो इतना रोष नहीं आता ॥
आख़िरी मर्तबा कहती हूं—अब बात न और बढ़ाओ तुम ।
मैं भाभी हूं, तुम देवर हो, मेरे महलों से जाओ तुम ॥"

तिरस्कार से हृदय में, दुःख हुआ जब घोर ।
विक्रम बोले—"डाटता कोतवाल को चोर ?

तुमने जो चक्रव्यूह रचा अन्तःपुर के अन्तस्तल में ।
अभिमन्यु समान तोड़ देता—मैं इसको अभी, एक पल में ॥
पर तुम भाभी—हाँ भाभी हो, इस कारण ही लाचारी है ।
आज्ञा कर शिरोधार्य—जाता महलों से आज्ञाकारी है ॥"

यह कहकर वापिस हुए विक्रम उल्टे पाँव ।
मिला खिलाड़िन को तभी एक अचानक दाँव ॥
गिरी मुद्रिका हाथ से, विक्रम की उस ठौर ।
वह मतवाली देखने उसको लगी बग़ौर ॥
सोचा—'या तो विश्व से, हूँगी मैं निर्मूल ।
या कर दूँगी साफ़ अब, अपने पथ के शूल ॥"
यही सोच नृप से कहा, अगले प्रातः काल—
"स्वामी, आया सामने मुश्किल एक सवाल ।

इन दिनों व़ जेदारी घर में, देवर-भाभी की छूट गई ।
कलि में लक्ष्मन-सीता वाली, पहली मर्यादा टूट गई ॥
अब उज्जैनी के महलों में—विक्रम अधिकार चाहता है ।
भाई की गैरहाज़िरी में, भाभी पर दृष्टि डालता है ॥"

अनहोनी-सी बात सुन, चकित हुए महिपाल ।
दिल में उनके इस तरह, उठने लगे खयाल—
विक्रमादित्य-सा सच्चरित्र, इतना नीचे गिर सकता है ?
जो मेरा अनुज कहाता है, क्या वह मुझसे फिर सकता है ?"
"तुम कहती हो मैं सुनता हूँ, पर नहीं समझ में आता है ।
चन्दन का वन–ज्वाला-समान–क्या जग के लिए जलाता है ॥"
वीर विक्रमादित्य को, बुलवाकर तत्काल ।
बोले सरल स्वभाव से, मालव के महिपाल—
"विक्रम, तुम कुल की आशा हो, उज्जैनी के उजियाले हो ।
मेरे मरने पर अनुज, तुम्हीं शासन सँभालने वाले हो ॥
आश्चर्य्य मुझे है विमल बुद्धि, क्यों इतनी फिरी तुम्हारी है ।
जिसकी साक्षी में सम्मुख ही–यह भाभी खड़ी तुम्हारी है ॥"
चूर-चूर दर्पण करे, ज्यों पाषाण कराल ।
त्यों विक्रम का दिल हुआ, टूक-टूक तत्काल ॥
बोले–"मैं यह क्या सुनता हूँ ? सेवक है इतना पतित नहीं ।
वह जीता हुआ मृतक सम है, जिस प्राणी पर है चरित नहीं ॥
पृथ्वी पर चाँद उतर आये, गंगाजल चाहे दूषित हो ।
पर यह नामुमकिन है अग्रज, विक्रम सत्पथ से विचलित हो ॥"
कहा नृपति ने–"पिङ्गले, यही बात है ठीक ।
मेरा विक्रम धर्म की, छोड़ न सकता लीक ॥"
प्रपंचिनी ने तुरत ही, किया इस तरह व्यङ्ग—
"झूठों का संसार में, रहता यह ही ढंग ॥
पापी निज पाप छिपाने को, ऐसा ही रूप बनाता है ।
पृथ्वी पर चाँद उतारता है, गंगा की क़समें खाता है ॥

दासियां साची देदेंगी—कहदेगा अश्वपाल आकर ।
क्यों मुझको हार पिन्हाते थे, कल ही छोटे नृपाल आकर !"

विक्रम का इस बात ने दिया कलेजा तोड़ ।
प्रलय-काल में सिंधु ने दी मर्य्यादा छोड़ ॥

बोले –"यह नहीं चाहता था–इनके विरुद्ध मुँह खोलूँ मैं ।
पर–समय चाहता है यह ही, अब शर्म छोड़कर बोलूँ मैं ॥
जो अश्वपाल नामी सेवक, साच्ती बतलाया जाता है ।
महलों में वह–सखियों द्वारा, हर रोज़ बुलाया जाता है ॥
यह नलिनी सम उस मधुकर को पल्लव में नित्य छिपाती है ।
पैदल से शह को शह देकर अपना चातुर्य्य दिखाती है ॥

उन वचनों से पड़ गए, असमंजस में भूप ।
निर्णय का आया उन्हें, नज़र न कोई रूप ॥

"भाभी पर बुरी नज़र डाले, विक्रम है इतना पतित नहीं—
पति-भक्ता इधर पिङ्गला भी, हो सकती है दुश्चरित नहीं ॥
किस तरह प्रश्न यह हल होगा, पड़गई जान मुश्किल में है ?
क्या करे दिमाग़ काग, जब रण, तनके बाज़ और दिल में है ?"

विक्रम फिर कहने लगे छोड़ दीर्घ निश्वास—
"भाई साहब, कीजिए, सेवक पर विश्वास ॥

निर्दोषी मुझको कह देंगी, इनके महलों की दीवारें ।
साची देने को आएंगी, गंगा-सम चिप्रा की धारें ॥
राजा को समझा राम सदा, रानीजी को सीता समझा ।
भाई को समझा वेद तुल्य, तो भाभी को गीता समझा ॥
मेरे दिमाग़ में पिता तुल्य, जिस तरह कि अग्रज भ्राता हैं ।
वैसे ही इस दिल के भीतर, यह नहीं हैं भाभी–माता हैं ॥"

भूपति बोले—"पिंगले, खत्म हुआ सन्देह ।
यह निर्णय है नृपति का, नहीं भ्रात का नेह ॥
होगया एक पलड़ा भारी, अब नहीं रहा वह हलका है ।
कुलटा, तेरे छलका प्याला क्या उछला है क्या छलका है ॥
बह बह कर इन रुख़सारों पर, कहता यह जल काजल का है ।
तह में ज़रूर कुछ काला है, जिसका इस क़दर तहलका है ॥"
भूपति का जब यह सुना, भीषण वाक्य-प्रहार ।
उठी नागिनी की तरह, रानी भी फुंकार ॥
बढ़कर बोली—"अब नहीं, है सुनने की बात ।
क्षत्री-तनया सह नहीं सकती बेजा दाव ॥
तुम नहीं न्याय कर सकते, तो कर लूँगी अपना न्याय स्वयम् ।
भाई का पास तुम्हें है तो—रखती हूं पास उपाय स्वयम् ॥
भूपाल, कौन कह सकता है, पतिव्रता पिंगला झूठी है ?
उसके कब्जे में विक्रम की, जब तक मौजूद अँगूठी है ॥
विक्रम का देखा जभी अंकित उस पर नाम ।
भीज पसीने से गया, नृप का गात तमाम ॥
विस्मय-नद में डूबे, उछले, तैरे पर थाह नहीं पाई ।
तनशिथिलहुआ,मन व्यथित हुआ,गति बदल गई,मति चकराई
फिर आंखें फाड़-फाड़ देखा—यह नक़ली है या असली है ?
क्या घटना है—जो बे बादल, गिर पड़ी यकायक बिजली है ?
सचमुच उस मुद्रिका का, ऐसा पड़ा प्रभाव ।
भ्रातृ-प्रेम का हट गया नृप के मन से भाव ॥
पत्नी के लावण्य में, डूब गया जब न्याय ।
विक्रम से कहने लगे, तब यों मालवराय—

"मैं अर्जुन तुझे समझता था, तू शकुनी सा शातिर निकला ।
शीतल धवलागिरि के भीतर, अति भीषण ज्वालागिर निकला॥
कुल-गौरव के उज्ज्वल पट पर, दरअसल बदनुमा दाग है तू ।
घर को ही आग लगाये जो, ऐसा पुरख़तर चिराग़ है तू ॥
यदि रहा उपस्थित आगे भी, तू उज्जैनी के आँचल में ।
तो प्रजा-सहित धस जायेगी, यह पृथ्वी अतल रसातल में ॥"

उलटा सब क्रम होगया, पलट गया प्रारब्ध ।
इस विचार ने कर दिया, विक्रम को निस्तब्ध ॥
इससे ज्यादा और क्या होता है अन्याय ?
मुलज़िम को माज़रत का, मौका दिया न जाय ॥
जादू था, होतव्य था—या विधिरचित विधान ।
न्यायी नृप को न्याय का, रहा न उस क्षण ज्ञान॥

वह मालवसर का राजहंस, जिसने आदर्श विचार किया ।
बच्चोंवाले, तेती जैसे—फ़ैसले, न्याय, बहुबार किए ॥
चक्कर में पड़कर अबला के, भूला अपनी चतुराई को ।
आज्ञा दी देश निकाले की, निर्दोषी छोटे भाई को ॥

भक्त-विभीषण ने तजा, जैसे निज प्रिय-धाम ।
त्यों विक्रम ने भ्रात को, सादर किया प्रणाम ॥

बोले—"सर पर बदली छाई,लेकिन यह हट ही जाएगी ।
जब त्रिया-चरित्र विदित होगा, तो बुद्धि पलट ही जाएगी ॥
वह वक्त शीघ्र ही आएगा, जब होगा असली भेद प्रकट ।
मेरे इस देश-निकाले पर, प्रभु स्वयम् करेंगे खेद प्रकट ॥"

सन्नाटे में आगए, नृपति सुन यह बैन ।
मन ही मन में हुए फिर, एक बार बेचैन ॥

चाहा वापिस लें तुरत, अपना वह फ़र्मान ।
पर विक्रम कर चुके थे, महलों से प्रस्थान ॥
फैल गया हर जगह यह, मालव में सम्वाद ।
नर-नारी व्याकुल हुए, छाया शोक विषाद ॥
घर-घर से आवाज़ें उठीं—"न्यायी नरेश ने बुरा किया ।
नारी की बातों में आकर, विक्रम-सा भाई त्याग दिया ॥
जब इस प्रकार एक स्वर में, सारा उज्जैन पुकार उठा ।
भूपाल भर्तृहरि को सचमुच, अपना आपा धिक्कार उठा ॥
आखिर नृप के हृदय में, धधकी ऐसी आग ।
भस्म किया शृंगार को, जगा दिया वैराग ॥
च्छिप्रा के तट एक दिन, बैठे थे महिपाल ।
दिल को तड़पा रहा था, रह रह वही खयाल ॥
इतने ही में मधुर स्वर, उठा एक गुंजार ।
सचमुच गाया किसी ने, सरिता के उस पार ॥

❋ गाना ❋

"अरे ओ सोनेवाले जाग ।
मोह-निद्रा को अब तो त्याग !
आस्तीन में छुपा हुआ है—तेरे काला नाग ।
भोगों में रोगों का भय है, मान में है अपमान का भय ॥
कुल में भय कलङ्क का रहता, धन में नृपति महान का भय ।
तरुणाई में भय है जरा का, बल में अति बलवान का भय ॥
भौतिक उन्नति में प्रतिक्षण है-अन्तकाल श्मशान का भय ।
निर्भय पद कोई जग में—तो वह है वैराग ॥
अरे ओ सोनेवाले जाग ।"

—:०:—

खोलदिए इस गान ने नृप के हृदय-कपाट ।
यही गान गाने लगे, भूमि गगन और घाट ॥
बेचैन विकल व्याकुल होकर, भूपाल उठे क्षिप्रा-तट से ।
खिंचगए प्राण,उस गायन की स्वाभाविक तीव्र खिंचावट से ॥
देखा–एक नारी खड़ी हुई, यह सुन्दर गायन गाती थी ।
नृप का सुषुप्त वैराग्य-भाव, तानों से वही जगाती थी ॥
इनको सम्मुख देख वह, बोली –"हे नरराज ।
याद तुम्हें है कह गये थे जो कुछ द्विजराज ?
दुनिया की खुशियों में फँसकर, क्यों तुम इतने हो फूलगए ?
जो दिव्य अमरफल का खाना, इतनी ही जल्दी भूल गए ?"
फल खाकर अमर बनो, जिससे–इस उलझी हुई समस्या हो ।
उज्जैनी में हो सुख-प्रसार, ब्राह्मण की सफल तपस्या हो ॥"
यह कहकर उस नारि ने, किया अमरफल पेश ।
चकित होगए देख वह, मालवराज्य-नरेश ॥
बोले–"यह तुम्हें दिया किसने ? कब कहाँ किस तरह पाया है ?
मेरे महलों के भीतर से, वेश्या पर क्योंकर आया है ?
यह फल तो मैंने पाया था, द्विजवर्य्य शान्तिनारायण से ।
जो उन्हें मिला था जप-तप से, व्रत और दिव्य पारायण से ॥"
बोल उठी तत्काल वह, है यह गलत खयाल ।
उज्जैनी में वेश्या रहती नहीं नृपाल ॥
अपने गायनाचार्य्य पितु की, यह एक अभागिन कन्या है ।
संगीत-नृत्य के कारण ही, जो समझी गई जघन्या है ॥
अश्वालय का अधिपति मुझसे, रखता विवाह की इच्छा है ।
यह वस्तु जो मिली मुझे–उसकी ही प्रेम-दक्षिणा है ॥

चाहा वापिस लें तुरत, अपना वह फ़र्मान ।
पर विक्रम कर चुके थे, महलों से प्रस्थान ॥
फैल गया हर जगह यह, मालव में सम्वाद ।
नर-नारी व्याकुल हुए, छाया शोक विषाद ॥
घर-घर से आवाजें उठीं—"न्यायी नरेश ने बुरा किया ।
नारी की बातों में आकर, विक्रम-सा भाई त्याग दिया ॥
जब इस प्रकार एक स्वर में, सारा उज्जैन पुकार उठा ।
भूपाल भर्तृहरि को सचमुच, अपना आपा धिक्कार उठा ॥
आखिर नृप के हृदय में, धधकी ऐसी आग ।
भस्म किया शृंगार को, जगा दिया वैराग ॥
छिप्रा के तट एक दिन, बैठे थे महिपाल ।
दिल को तड़पा रहा था, रह रह यही ख़याल ॥
इतने ही में मधुर स्वर, उठा एक गुंजार ।
सचमुच गाया किसी ने, सरिता के उस पार ॥

❋ गाना ❋

"अरे ओ सोनेवाले जाग ।
मोह-निद्रा को अब तो त्याग !
आस्तीन में छुपा हुआ है—तेरे काला नाग ।
भोगों में रोगों का भय है, मान में है अपमान का भय ॥
कुल में भय कलङ्क का रहता, धन में नृपति महान का भय ।
तरुणाई में भय है जरा का, बल में अति बलवान का भय ॥
भौतिक उन्नति में प्रतिक्षण है-अन्तकाल शमशान का भय ।
निर्भय पद कोई जग में—तो वह है वैराग ॥
अरे ओ सोनेवाले जाग ।"

—:०:—

खोलदिए इस गान ने नृप के हृदय-कपाट ।
यही गान गाने लगे, भूमि गगन और बाट ॥
बेचैन विकल व्याकुल होकर, भूपाल उठे छिपा-तट से ।
खिचगए प्राण,उस गायन की स्वाभाविक तीव्र खिंचावट से ॥
देखा–एक नारी खड़ी हुई, यह सुन्दर गायन गाती थी ।
नृप का सुषुप्त वैराग्य-भाव, तानों से वही जगाती थी ॥
इनको सम्मुख देख वह, बोली -"हे नरराज !
याद तुम्हें है कह गये थे जो कुछ द्विजराज ?
दुनिया की खुशियों में फँसकर, क्यों तुम इतने हो फूल गए ?
जो दिव्य अमरफल का खाना, इतनी ही जल्दी भूल गए ?"
फल खाकर अमर बनो, जिससे–हल उलझी हुई समस्या हो ।
उज्जैनी में हो सुख-प्रसार, ब्राह्मण की सफल तपस्या हो ॥"
यह कहकर उस नारि ने, किया अमरफल पेश ।
चकित होगए देख वह, मालवराज्य-नरेश ॥
बोले–"यह तुम्हें दिया किसने ? कब कहाँ किस तरह पाया है ?
मेरे महलों के भीतर से, वेश्या पर क्योंकर आया है ?
यह फल तो मैंने पाया था, द्विजवर्य शान्तिनारायण से ।
जो उन्हें मिला था जप-तप से, व्रत और दिव्य पारायण से ॥"
बोल उठी तत्काल वह, है यह गलत खयाल ।
उज्जैनी में वेश्या रहती नहीं नृपाल ॥
अपने गायनाचार्य्य पितु की, यह एक अभागिन कन्या है ।
संगीत-नृत्य के कारण ही, जो समझी गई जघन्या है ॥
अश्वालय का अधिपति मुझसे, रखता विवाह की इच्छा है ।
यह वस्तु जो मिली मुझे–उसकी ही प्रेम-दक्षिणा है

खिन्न हृदय,व्याकुल,व्यथित, दुःखित और उदास ।
क्षिप्रा-तट से उठ तभी, नृपति गए रनवास ॥
अश्वपाल को वहीं पर बुलवाया तत्काल ।
फल के बारे में किए, उससे कई सवाल ॥
आखिर नृप से इस तरह, उसने किया बयान—
"रानी ही ने फल दिया, मुझको दया-निधान ॥
फल लेकर मैंने दिया वेश्या को किस हेत ?
इस सवाल का भी सुनें, उत्तर कृपा-निकेत ॥
जो रानी पति की नहीं हुई, परपति की कब होजायेगी ?
स्वामी से नहीं निभाई तो-सेवक से कहाँ निभायेगी ?
यह सोच अमरफल उसी घड़ी, रानी से छीन लिया मैंने ।
वेश्या में सद्गुण दीख पड़े, इस कारण उसे दिया मैंने ॥"
दँग रह गए भूप-ज्यों मार गया हो काठ ।
या जैसे कोई बटुक, भूल गया हो पाठ ॥
फिर मनमें उठने लगे, रह-रह यही विचार—
"काट गई अपना जिगर, अपनी ही तल्वार ॥
जिस दिल पर दिल कुर्बान हुआ वह दिल गैरों का दिलबर है
होगया दिल उस दिल से बेदिल, वह चोट लगी इस दिल पर है ॥
विक्रम ने ठीक कहा था-यह, अपने मद में मतवाली है ।
ऊपर से सुन्दर लगती है-अन्दर से विष की प्याली है ॥
यह मेरे ही हैं बुरे कर्म-रिपु बने जो मेरे जीवन के ।
हाँ जिसके घर में घोर पाप, वह योग्य नहीं है शासन के ॥"
उसी समय नृपाल ने किया एक दर्बार ।
आए विद्वज्जन, सचिव, मंत्री और सर्दार ॥

इस प्रकार-दर्बार में-बोले मालवराय—
"आज प्रजापति करेगा अपना ख़ुद ही न्याय ॥
मैं और पिंगला, अश्वपाल, तीनों निश्चय अपराधी हैं ।
अपने अपने कामानुकूल इस समय दण्ड के भागी हैं ॥
पहला अपराधी मैं हूं, तो पहले निज न्याय करूँगा मैं ।
जब अपने लिए सज़ा दूँगा-औरों को सज़ा न दूँगा मैं ॥
हाँ इतना कह दूँ—वेश्या का द्विज वर से व्याह किया जाए ।
है मेरा जितना निजी कोष—सब का सब इसे दिया जाए ॥"
अश्वपाल ने कमर से खींच तुरत तलवार—
कहा—"फ़ैसला करेगी मेरा—इसकी धार ॥
विश्वासघातकी होने की—है लगी कालिमा मुखड़े पर ।
धो डालेगी उसको—लगकर यह रक्त-लालिमा मुखड़े पर ॥
जब साख गई, विश्वास मिटा तो लुत्फ़ रहा क्या जीने में ।
जीवन-बलि यह पापी देता—तलवार भोंक कर सीने में ॥"
आत्मघात का सभा में, हुआ शोक जब व्याप्त ।
कहा नृपति ने-"आज सब होगा यहीं समाप्त ॥
सुनो-सैनिको, मन्त्रियो, ईश्वर का सन्देश—
इस घटना से आप सब, लें इतना उपदेश—
न्यायी, दानी, ज्ञानी, पण्डित, कवि, या कोई व्रतधारी है ।
यदि संयम-हीन होगया तो होती ऐसी ही ख़्वारी है ॥
जो आगा पीछा नहीं सोचा पापों में रत हो जाता है ।
वह अश्वपाल ही की नाईं पछताकर प्राण गँवाता है ॥
इस अपराधी ने किया-मुझसे पहले न्याय ।
तो मेरा भी फ़ैसला यहीं, अभी हो जाय ॥

आत्मघात है-पाप में और अधिकतर पाप—
ज्ञानी अपने सिर नहीं, लेगा यह सन्ताप ॥
इस कारण-मेरे लिए यही सजा है ख़ास ।
राज्य छोड़कर, आज ही लूँगा मैं सन्यास ”
वीर विक्रमादित्य का तुरत मँगाया चित्र ।
अपने हाथों रख दिया उस पर मुकुट पवित्र ॥
कहा—"इन्हीं को मानना अब मालव-अवनीश ।
रहा नहीं-इस घड़ी से यह भर्तृहरि महीश ॥"
व्याप गया क्षण मात्र में घर घर यह वृत्तान्त ।
दौड़ी आई पिंगला अति अशान्त उद्भ्रान्त ॥
"जीवन-नौका-पतवार, क्षमा, उज्जैनी के सुखसार, क्षमा ।
हे मेरे प्राणाधार, क्षमा, कर्त्तार क्षमा, भर्त्तार, क्षमा ॥
हरि-पद से ब्रह्म-कमण्डल में, फिर जूटों में श्रीशङ्कर के ।
तब हिमगिरि पर फिर भूतल पर, आख़िर को तटपर सागर के ॥
गंगा का इतना घोर पतन जग को यह बात बताता है—
जिसका विवेक खो जाता है, मुझ जैसी ठोकर खाता है ॥"
"इस पछतावे से नहीं आयेगा कुछ हाथ ।"
यह कह कर, आगे बढ़े वैरागी नर-नाथ ॥
माया मानव को ठगती है इस जगती पर ठगिनी बनकर ।
गृहपति बनकर गृहिणी बनकर भाई बनकर भगिनी बनकर ॥
मैं माया को भरमाऊँगा त्यागी और वैरागी बनकर
माया-पति का सेवक बनकर अनुचर और अनुरागी बनकर॥
जिस तन पर वस्त्र राजसी थे—उस पर अबसे वल्कल होगा ।
पापी प्राणों की शुद्धि हेतु—गङ्गा का निर्मल जल होग ॥

इन छत्र मुकट के बदले में अब जटा-जूट सिर पर होगा ।
पृथ्वी पर अब बिस्तर होगा, जिह्वा पर अब हर हर होगा ॥

❀ गाना ❀

पिता सन्तोष होगा और क्षमा होगी मेरी माता ।
बनेगी शान्ति पत्नी सत्य से हो मित्र का नाता ॥
दया होगी बहिन, आशा भाई, दश दिशा छाता ।
बनेगी धरणि शैया और यह संसार सब दाता ॥
पड़ेगी ज्ञान की झोली में भिक्षा धर्म की दर दर ।
जगाऊंगा अलख भगवान के शुभनाम की घर घर ॥"

--: o :--

राज पाट सब त्याग कर, धारण कर सन्यास ।
गुरुवर गोरखनाथ के नृपवर पहुँचे पास ॥
योगिराज नरराज के, सुनकर सभी विचार ।
बोले-"बेटा योगपद, है खाँडे की धार ॥
रुद्राक्ष, त्रिशूल, कमण्डल से, मिलता सच्चा वैराग नहीं ।
गृह, रुपया, वस्त्र त्याग देना, कहलाता है कुछ त्याग नहीं ॥
सन्यासी वह है जो जग में, निर्लिप्त रहे मायादल से ।
जिस तरह कमल जल में रह कर रहता है ऊपर ही जल से ॥
यदि मन्त्र चाहते हो मुझसे-तो मन की जाँच कराओ तुम ।
पिंगला से माताजी कह कर, पहले भिक्षा ले आओ तुम ॥"
गिरा नहीं, नृप-आत्मा, उट्ठी तभी पुकार—
"गुरुवर है, जिज्ञासु को यह आज्ञा स्वीकार ॥
काई जो काम, क्रोध, की है-इस मन के ऊपर जमी हुई ।
कर देगी मल कर साफ़ उसे तन पर भभूत यह रमी हुई ॥
समझूंगा आत्म-तुल्य अब से-जग के सम्पूर्ण प्राणियों को ।
मानूंगा मातु समान सदा, पृथ्वी की सभी नारियों को ॥

यह ही होगा—गुरुदेव विदा, सूरत उस रोज दिखाऊँगा ।
जिस रोज पिंगला पतिता से माता कह भिक्षा लाऊँगा ॥"

लिया भूप भर्तृहरि ने, जिस दिन से सन्यास ।
उज्जैनी की भूमि तक, रहने लगी उदास ॥

क्या वही नगर, वह ही समाज, वह ही उद्यम व्यवसाय न था ?
सब कुछ था—भर्तृहरि भूपन था, और उसका जैसा न्यायनथा ॥
विक्रम जैसा सयमी न था, जनता पर कुछ अधिपत्य न था ।
रानी थी-लेकिन अब उसमें, वह तेज न था, वह सत्य न था ॥
थी एक बात, वह भी केवल मन में मन्त्री गुण-आगर के ।
वह यह कि-ताज रक्खें सर पर विक्रमादित्य बल-सागर के ॥
श्रीराम-पादुका के द्वारा, ज्यों भरतलाल ने राज किया ।
मन्त्री ने विक्रम-चित्र पूज, त्यों ही था अबतक काज किया ॥
लेकिन यह सब-कबतक होता ? उज्जयिनी ने—नप पाया ही ।
चहुँ ओर भेजकर दूत-वृन्द, विक्रम को ढूंढ बुलाया ही ॥

गया शोक का काल फिर, हुआ प्रकट आह्लाद ।
फैला पुनरागमन का, विक्रम के सम्वाद ॥
जनता ने समुचित किया, नृपवर का सत्कार ।
रचे गए उत्सव विविध, हुए मंगलाचार ॥
पिंगला भी उत्सव-समय, आ पहुँची तत्काल ।
बोली—"सुनिए मालवे के भावी भूपाल ॥

तुमको यह ताज पिन्हाने का, हक है तो केवल मेरा है ।
पर आज पाप की दलदल से, दूषित यह आंचल मेरा है ॥
तुम चाहो तो धो सकते हो, यह पाप क्षमा के पानी से ।
भाभी की यही याचना है, तुम जैसे देवर दानी से ॥

यह सच है मेरे पापों से लग गई कालिमा इस कुल पर ।
पर छाई मेरे ही पति की, अमरत्व-लालिमा इस कुल पर ॥
वास्तव में प्रेम मार्ग के हम, दोनों ही जन अनुगामी थे ।
मैं उनके मन की स्वामिनि थी, वे मेरे मन के स्वामी थे ॥
मैं कामशिला से टकराकर, गिर पड़ी गार में पापों के ।
जिस जगह सताते जीवजन्तु, अपमान और सन्तापों के ॥
लेकिन वे पथ से डिगे नहीं, इसलिए शिखर पर जा पहुँचे ।
पहुँचें मुनि जहाँ कठिनता से, पति परमेश्वर उस जा पहुँचे ॥"

रानी के यह बैन सुन, बोल उठे युवराज—
"भाभी अब भी आपका, है यह राज और ताज

मैं तो प्रसन्न तब ही हूँगा—जब सभा ये होगा महलों में ।
सर हो भाई के चरणों में, कर हो भाभी के क़दमों में ॥
जनता को, मन्त्रीमण्डल को, सँग लेकर मैं खुद जाऊँगा ।
जिस जगह भी होंगे भाईजी, आग्रह कर, उनको लाऊँगा ॥"

इस निश्चय से प्रजा में, छाया मोद अपार ।
नृप को लाने के लिए, हुए सभी तैयार ॥

रानी, मन्त्री, पुर-वासीगण, सब इसी बात के इच्छुक थे ।
अपने महाराज भर्तृहरि की सूरत के सच्चे भिक्षुक थे ॥
थे गए भरतजी चित्रकूट, ज्यों राघवेन्द्र के लाने को ।
त्यों वीर विक्रमादित्य चले, श्री मालवेन्द्र के लाने को ॥

मिला मार्ग में साधु एक अपनी धुन में मस्त ।
एक थे जिसकी दृष्टि में निन्दक और प्रशस्त ॥
कर में माला, देह पर वल्कल का परिधान ।
मन में हर का नाम था, जिह्वा पर यह गान—

❀ गाना ❀

"मनुआँ, क्यों माया में फँसकर चक्कर खाता है ?
माया में जो है भरमाता-अपना आपा आप गँवाता—
भ्रम में पड़कर है दुख पाता, आता फिर जाता है॥
माया नटी जीवको ठगती-लोभ मोह के जाल में कसती—
इसकी जो सुलझाता गुत्थी, वही पार पाता है।
धरा, धाम, धनकुटुम-कबीला-है सब झंझट जीते जीका—
नाम रामजी का ही केवल काम अन्त आता है॥"

—०—

इस गायन पर हो गए, नर-नारी सब मुग्ध ।
मानों-फिर जग को मिला, गीता-गो का दुग्ध॥
विक्रमादित्य ने पहचाना-वह साधु भर्तृहरि त्यागी थे ।
मुख मोड़ चुके जो माया से, वे निर्मोही वैरागी थे ॥
फ़ौरन चरणों में शीश झुका बोले-"हे भाई, दया करो ।
अपराध हुआ जो हम सबसे, उसको करुणाकर, क्षमा करो॥
यह सुनकर कहने लगे, सन्यासी महाराज—
तुम सब में हूं देखता-निज प्रभु को मैं आज ॥
अपनी पहले की नासमझी-जब समझ हुई तब समझ गया ।
अब 'मैं' तुम हूं, अब 'तुम' मैं हूं, मैं-तुमका झगड़ा सुलझगया॥
तुमने ही अमर बनाया है, इस जीवन में शिक्षा देकर ।
पिङ्गले, मुझे कृतकृत्य करो, अपने कर से भिक्षा देकर ॥
निरख एकटक दृष्टि से, बोली पिंगल वाम—
"बलिहारी इस रूप पर, बारम्बार प्रणाम ॥
तुम ने दी नहीं क्षमा मुझको, मैं दूंगी भिक्षा आज तुम्हें ।
करती हूँ अर्पण ताज तख़्त, और उज्जैनी का राज तुम्हें ॥"

वह ताज भर्तृहरि ने लेकर, रखदिया शीश पर विक्रम के।
बोले-"यह राज प्रजा का है,-जो सौंपा है सिर विक्रम के॥
चुप न रही फिर पिंगला बोली-'दया-निधान।
सन्यासी को चाहिए, कुछ तो सुख-सामान॥
ले चलिए अपने साथ मुझे, मैं बन में सुख पहुंचाऊँगी।
कुटिया को साफ़ करूँगी प्रभु, चरणों को नित्य दबाऊँगी॥
शैया, तकिया, लोटा बग़ैर, वन में रहना दुस्तर होगा।
दासी यदि साथ रहेगी तो, यह प्रबन्ध उसके सर होगा॥"
हंसकर बोले भर्तृहरि-"है यह सब अज्ञान।
साथी है—सन्यास में, अपना ही भगवान॥
शैया है अब धरती मेरी, तकिया हाथों का तकिया है।
दोनों हाथों की अँजुली यह—पानी पीने की लुटिया है॥
तन का नाता जब टूट चुका, तो तोड़ो मन का भी नाता।
सन्यासी की इस झोली में, थोड़ी सी भिक्षा दो माता॥"
"हैं माता! माता! पत्नी से?"-घबराकर रानी बोल उठी।
आकाश शीश पर हँसा जरा, पृथ्वी नीचे कुछ डोल उठी॥
"होगी न अन्न की अब भिक्षा-प्राणों की भिक्षा दूँगी मैं।
इन चरणों पै निज बलि देकर, दुनिया को शिक्षा दूँगी मैं॥"
पकड़ लिया भर्तृहरि ने रानी माँ का हाथ।
बोले-"यह अन्याय मत करो साधु के साथ॥
कर चुका क्षमा जब बैरागी, ईश्वर भी तुमको क्षमा करे।
तुम भवसागर से तरजाओ, भव का पति इतनी दया करे॥
निज प्राणों की आहुति देकर, क्यों अन्धकूप में जाती हो?
माँ, बैरागी को भिक्षा दे, क्यों नहीं पुण्यफल पाती हो?

इतने ही में एक घटी, घटना वहां विचित्र ।
पूरा करने के लिए, यह वैराग्य-चरित्र ॥
श्रीगुरु गोरखनाथजी, प्रकट हुए तत्काल ।
बोले-"बेटा, हल हुआ, उलझा हुआ सवाल ॥
वास्तव में जग के जीवों से तुम, जग का नाता तोड़ चुके ।
उस जगदीश्वर जगनायक से, परिपूरण रिश्ता जोड़ चुके ॥
इसलिए अमरफल अब खाओ, दुनिया में अमर रहोगे तुम ।
जब जन्म-मरण से छूट गए, जीते जी मुक्त बनोगे तुम ॥"
पिंगला को फल देकर बोले-"यह फल दो इनको भिक्षा में ।
हो जिससे इनकी अमरकीर्ति, इस दुनिया में उस दुनिया में ॥
ज्योंही फल दिया पिंगला ने, सच्चे सन्यासी ने खाया ।
जय अलख निरंजन गाकर के, प्रभु के भक्तों में पद पाया ॥
लोगों ने जय जयकार किया-श्रीगोरखनाथ मुनीश की जय ।
जययोगीराज भर्तृहरि की, उस परमपिता जगदीश की जय!
'चन्द्र' एक मुख से कहो, तुम भी श्रोतावृन्द ।
जयति आतमान्द और जयति सच्चिदान्द ॥

❋ गाना ❋

जीव है माया में अन्धा ।
पाप-गठरिया लादे लादे, झुक गया कन्धा ॥
'चन्द्र' छोड़ यह माया का मद, मायापति ईश्वर का गहु पद,
वरना उलझन में डालेगा, यह गोरखधन्धा ॥

॥ इति ॥

—.०:—

श्रीराधेश्याम भक्तमाल संख्या—८

सत्यवादी हरिश्चन्द्र

सम्पादक—
नेपाल के श्री ३ सर्कार से 'कथावाचस्पति' की पदवीप्राप्त—
कीर्तनकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—

राधेश्याम कथावाचक

प्रकाशक—श्रीराधेश्याम पुस्तकालय, बरेली।
मूल्य ४४ नए पैसे

लेखक—
साहित्यभूषण,
"चन्द्र", एम० ए०

सत्यवादी हरिश्चन्द्र

सम्पादक और प्रकाशक—
नेपाल गवर्नमेण्ट से "कथावाचस्पति" की पदवीप्राप्त—
श्रीरत्नकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—
प० राधेश्याम कथावाचक
अध्यक्ष—

छठी बार २०००] सन् १९५८ ई० [मूल्य ४४ नये पैसे

मुद्रक—प० रामनारायण पाठक, श्रीराधेश्याम प्रेस, बरेली।

ॐ

प्रार्थना

करोगे कब विनती स्वीकार ?

पहुँची नहीं कान में अब तक क्या यह करुण पुकार ?

द्वेष, अविद्या, चालाकी और छल की है भरमार।

इनके हाथों नाथ, तुम्हारा भारत है लाचार॥

धर्म-कर्म होरहा लुप्त है, पातक बढ़े अपार।

कटरहे सत् की मर्य्यादा, प्रभुवर, पञ्चविकार॥

पूर्ण करो अपना प्रण आकर या तो जगदाधार?

या फिर दो संकेत रुद्र को, करें पूर्ण संहार॥

जय जगनायक, जगपते, जगदीश्वर, जगराज ।
रखियेगा गजराज-सम आज दास की लाज ॥
यद्यपि है मुझमें नहीं विद्या, बुद्धि, विवेक ।
तदपि आपकी कृपा से रह जायेगी टेक ॥
कृष्णमुखी यह लेखनी करनेचली बखान ।
सद्वादी हरिचन्द का पुण्य-चरित्र महान ॥

जो सत्यनिष्ठ और सत्यवीर, सद्वादी, सद्गुणवाला है ।
भगवान् सूर्य का वंशज है, क्षत्रीकुल का उजियाला है ॥
दैनिक व्यवहारों में मिथ्या भाषण जो वाणी करती है ।
उस सत्यवीर का कथा-गान वह किस प्रकार कर सकती है ?
हाँ, सत्यसिन्धु की दया अगर-हमसे अधमों पर होजाये—
तो सत्यवारि से सम्भव है यह मनस्कालिमा धो जाये ॥

देवराज का एक दिन लगा खास दर्बार ।
आये ऋषि, मुनि, अमरगण मन्त्री और सर्दार ॥

सुरपति का सबने किया यथा उचित सम्मान ।
गन्धर्वों ने छेड़दी अपनी मीठी तान ॥

❋ गाना ❋

—:०:—

हे नन्दन काननवारे, घर घर तेरे जयकारे ।
पवन शीश पर चँवर डुलावे ।
चपला तेरा यश चमकावे ।
गरज गरज घन घोर बजावे—तेरे नक्कारे ॥ १ ॥ हे नन्दन० ।
वरुणदेव तेरा पनिहारा ।
है रसोइया अग्नि तिहारा ।
सूर्य्य चन्द्र करते उजियारा—पाकर तेरे इशारे ॥ २ ॥ हे नन्दन० ॥

—:०:—

सुरपति का होरहा था जब यों गौरव-गान ।
तभी प्रकृति रचरही थी एक नवीन विधान ॥
जैसे खुशामदी बातों से—निर्बल फूला न समाता है ।
या मूर्ख बड़ाई निज सुनकर हर्षित-गर्वित होजाता है ॥
त्योंही अपनी महिमा सुनकर श्रीइन्द्रदेव भी फूल गए ।
उस जगदीश्वर जगनायक की क्षणभर को सत्ता भूल गए ॥
बोले-"मैं ही जग का पति हूँ, जग का प्रतिपालन करता हूं ।
हूं सूत्रधार त्रिभुवन का मैं, सबका संचालन करता हूं ॥
मुझसे है बड़ा कौन जग में ? मैं उत्तम पदवीधारी हूं ।
कहते हैं सब देवेन्द्र मुझे मैं ही ऊंचा अधिकारी हूँ ॥"
इतने में आये वहाँ श्रीनारद भगवान ।
तन्मय हो गाते हुए एक अनोखा गान ॥

❀ गाना ❀

"यह संसार असार मूर्ख ! क्यों इसपै फूला है ?
इसकी गति है अटपटी, झटपट लखे न कोय।
जो मन की खटपट मिटे, चटपट दर्शन होय॥
'चन्द्र' मोह के जाल-बीच ईश्वर को भूला है॥"

—: o :—

सुने वचन देवर्षि के बढ़ा इन्द्र को क्रोध।
निज मद में करने लगे-वह तत्काल विरोध॥
निकल अभी पाये नहीं-उनके मुख से बोल।
इन्द्रासन होने लगा—पहले डाँवाडोल॥
तब बोले-"सुरपति के रहते-देवासन यह क्यों हिलता है ?
हे सभासदो, मन्त्रियो, कहो-यह कैसा आज अचम्भा है ?"
देवर्षि बोल उठे-"कारण सुरनायक, खूब समझते हैं।
पर खेद है ज्ञानी होकर भी अज्ञानी-जैसे बनते हैं॥
पदवी का गर्व प्रकृति-द्वारा-सब मिट्टी में मिलजाता है।
क्या नहीं आपने सुना कभी अभिमानी मुँह की खाता है ?"
ब्रह्मपुत्र के वचन सुन; इन्द्र हुआ खामोश।
लेकिन, विश्वामित्र के दिल में आया जोश॥
"अभिमान की इसमें बात नहीं, यह तो प्रभाव पदवी का है।
जिसपर धन-दौलत होती है, अभिमान वही कर सकता है॥
जब जय के डंके बजते हैं तो फिर रहता सन्तोष नहीं।
सामर्थ्यवान-बलशाली को ऐसी बातों में दोष नहीं॥"
ब्रह्मपुत्र कहने लगे-होकर कुछ गम्भीर—
"देवराज ! सनिप जरा-धर के उर में धीर॥

माना कि स्वर्ग में सर्वोत्तम–सुरनायक का ही रुतबा है ।
लेकिन, इस रुतबे को पाकर अभिमान नहीं कुछ अच्छा है ॥
राजा की पदवी पाई है तो उसकी रक्षा आप करें ।
मदभरे वचन जो कहडाले, उनपर कुछ पश्चात्ताप करें ॥
एक बात का आपको करता हूँ संकेत ।
सुनिए उसको ध्यान से–होकर जरा सचेत ॥
मर्त्यलोक में एक हैं–हरिश्चन्द्र महिपाल ।
सूर्यवंश के रत्न हैं–अनुपम और विशाल ॥
संस्कारी हैं, व्रतधारी हैं, सद्वादी हैं, ज्ञानी हैं वे ।
हैं कर्मवीर और धर्मवीर, प्रणवीर, महादानी हैं वे ॥
गोरक्षक, विप्रों के सेवक, जनपालक, असुर-विनाशक हैं ।
हैं एक सत्य ही व्रत उनका, सत के ही फक़त उपासक हैं ॥
वह यज्ञ एक कम पूरे सौ करचुके पूर्ण यह निश्चय है ।
यदि सौवाँ यज्ञ हुआ पूरा तो देवराज, सचमुच भय है ॥
वह यज्ञ तपस्वी क्षत्रिय-नृप-जग में पूरा करपायेगा—
तो इसमें कुछ सन्देह नहीं इन्द्रासन को पाजायेगा ॥
हिलता है जो यह इन्द्रासन–सो असर उसी के तप का है ।
होतव्य सामने है जो कुछ उसको यह सुचित करता है ॥"
बातें सुन देवर्षि की इन्द्र हुए बेचैन ।
बोले–विश्वामित्र से–उसी समय यों बैन ॥
"हे मुनिवर, क्या सुनता हूँ मैं ? यह चिन्ता मेरी दूर करें ।
इस इन्द्रासन की रक्षाहित कोई प्रयत्न भरपूर करें ॥"
"कैसी चिन्ता ? कैसा प्रयत्न ?" देवर्षि कह उठे उसी समय ।
"सुरनायक आप स्वयं ही हैं, किसलिए आप करते हैं भय ?"

तब सूर्यदेव भी बोल उठे—"सुरनायक, क्यों घबराते हैं ?
पदवी की, या इन्द्रासन की चिन्ता से क्यों अकुलाते हैं ?
वह वंशज सेवक का ही है, करिये उसकी पर्वाह नहीं ।
करले वह चाहे यज्ञ पूर्ण, पर इन्द्रासन की चाह नहीं ॥
विश्वास न हो तो खुद आकर, वह यही बात कह जायेगा ।
कहदेगा मुख से जो कुछ भी, आजीवन उसे निभायेगा ॥"

अब तो विश्वामित्र को आया कुछ-कुछ रोष ।
सूर्यदेव पर रखदिया— इसका सारा दोष ॥

"इन्द्रासन की पर्वाह नहीं और चाह नहीं—यह बातें हैं
है मिली भगत यह आपस की चलरहे आप जो घातें हैं ॥
"वह आकर यह कहजायेगा", यह भी एक अच्छा झाँसा है।
भोले-भाले सुरनायक को कैसी बातों में फाँसा है ॥
लेकिन, यह याद रहे तुमको यों चाल नहीं चलने दूँगा ।
जबतक दम में दम बाकी है—यों दाल नहीं गलने दूँगा ॥"

सहन दिवाकर को नहीं हुआ यह वाक्य-प्रहार ।
बोल उठे—कुछ व्यंग्य से "सुनिए तपावतार !
साधारण-सी बात को देडाला विस्तार !
शोभा देता है नहीं व्यर्थ बढ़ाना रार ॥

कोशल के राजा लोगों का ऊँचा पद माना जाता है ।
सुरमण्डल तलक सुयश उनका महाराज, बखाना जाता है ॥
याचक दर्वाजे पर उनके मनवाञ्छित चीजें पाते हैं ।
जो करें प्रतिज्ञा वाणी से वह पूरी कर दिखलाते हैं ॥"

कौशिक जी फिर होगये—यह सुनकरके गर्म !
बोले—"कोरा ढोंग है, नहीं कुछ इसमें मर्म ॥

सच्चाई का जो ढोंग रचा वह सारा ढोंग मिटा दूँगा ।
उसकी उस दानशीलता पर पानी मैं अभी फिरा दूँगा ॥"
अब सूर्यदेव भी कुपित हुए, बोले–"करिये अभिमान नहीं ।
उस सद्वादी और दानी का मुनिवर अच्छा अपमान नहीं ॥
अभिमान आपका ही मुनीश, भय है न खाक में मिल जाये ।
पानी तुम चले फिराने पर, पानी न तुम्हारा हिल जाये ॥"

"अच्छा, देखा जायगा"–बोले कौशिक बैन ।
अरुण वर्ण के होगए–तत्क्षण उनके नैन ॥
"जाकरके उसको अभी करता हूँ मैं जाँच ।
सच्चा है तो लग नहीं सकती उसको आँच ॥
वर्ना, उसका सत्य खुद होगा डाँवाडोल ।
कहदेगा संसार–है निरी ढोल में पोल ॥'
यह कहकर जब करगए कौशिक जी प्रस्थान ।
नारद जी भी चलदिए पुनः उड़ाते तान ॥

❁ गाना ❁

"है यह मसला ठीक, घमण्डी का सर नीचा है ।
जब सम्पत् बढ़जाती है तो बढ़ता है अभिमान ।
अभिमानी का इस दुनिया में मिटजाता है मान ।
जगत् ताली दे हँसता है ॥ १ ॥
धन पाकर जो दानी होता वह पाता है मान ।
निर्बल का जो बने सहायक वह ही है बलवान ।
वही आदर पा सकता है ॥ २ ॥
केवल वह ही नर दुनिया मे करता है उत्थान ।
'चन्द्र' गर्व अभिमान त्यागकर करे ईश का ध्यान ।
मान उसका जग करता है ॥ ३ ॥"

देवराज ने जिस समय खत्म किया दर्बार ।
सूर्यदेव करने लगे तब इस भाँति विचार ॥
"सत् और रज का शीघ्र ही छिड़ने को है युद्ध ।
योद्धा दोनों ओर के हैं ज्ञानी और बुद्ध ॥
सत्-सेना के सेनानायक नृप हरिश्चन्द्र वरदानी हैं ।
रज की सेना के सेनापति श्रीकौशिक मुनिवर ज्ञानी हैं ॥
या तो प्रताप बढ़ जायेगा–रज की ही आज महत्ता का ।
या झण्डा लहरा जायेगा दुनिया में सत् की सत्ता का ॥
लेकिन मुनि को क्यों नहीं हुआ मेरा विश्वास ?"
यही सोचकर दिवाकर–फिर कुछ हुए उदास ॥
ध्यान आया–"स्वयं परीक्षा को मुनिराज पहुँचनेवाले हैं ।
रखने को बात बड़ी अपनी वह चालें चलनेवाले हैं ॥
मुनि समझे हैं बल है केवल–योगी को योग क्रियाओं में ।
वे क्या जानें, है क्या प्रताप–रवि-किरणों की ज्वालाओं में ॥
यदि सूर्य-वंश का सत्य डिगा, ब्रह्माण्ड भस्म करडालूँगा ।
अपने रहते, अपने कुल पर मैं आँच नहीं आने दूँगा ॥
सत्य डिगाना है नहीं कुछ लड़कों का खेल ।
चढ़ ही पायेगी नहीं कभी मँढ़े यह बेल ॥
चला सूर्य के तेज से भिड़ने मुनि का तेज ।
लेकिन, यह पथ है नहीं सरल सुमन की सेज ॥
विचलित हो सकता नहीं कभी सूर्य का वंश ।
मेरे कुल से सत्य का पृथक् न होगा अंश ॥"
इतना कहकर होगये रवि जब अन्तर्ध्यान ।
उसी रात जो कुछ हुआ, सुनिए वह धर ध्यान

हरिश्चन्द्र महिपाल ने देखा अद्भुत स्वप्न ।
चौंक उठे वह शयन से हुए विचार-निमग्न ॥
सम्बोधन करके कहा रानी से तत्काल—
"तारे देवी, सुनो तो–मेरे मन का हाल ॥
कर्तव्य-क्षेत्र में दृढ होकर साहस के साथ उतरना है ।
अबतक हम जिये सत्य पर हैं, अब सत्य पे हमको मरना है ॥
यह राज-पाट कौशिक मुनि को करचुका दान हूँ सपने में ।
बोलो, क्या राय तुम्हारी है–इस धर्म कार्य के करने में ?"
तारा बोली–"स्वप्न में राज किया यदि दान—
तो फिर इससे और क्या होगा कार्य महान !"
लगी सोचने, फिर ज़रा–सी कुछ आँखें मूँद ।
तभी धरा पे गिर पड़ीं–आँखों से दो बूँद ॥
"यह क्या ? आँसू ?" बोल उठे हरिश्चन्द्र तत्काल ।
"देवी, क्यों किस वास्ते–दिल को हुआ मलाल ?
तारा बोली–"कुछ बात नहीं, यह ख़ुशी के आँसू छलके हैं
जब दान दिया तो जल-स्वरूप–यह भी पृथ्वी पर ढलके हैं ॥
हे नाथ, आपके साथ आज यह सुयश मिला बड़भागिनि हूं ।
मैं इस सुकार्य में सहमत हूँ, सहधर्मिणि हूँ, अर्द्धाङ्गिनि हूँ ॥
यद्यपि है जग में बड़ा–निर्धन का सम्मान ।
किन्तु, अलौकिक बात है–करना राज-प्रदान ॥
जिसने सपने में दान दिया, मैं उसकी नारि कहाऊँगी
तुम धन देकर दानी होगे, मैं बिना दिये यश पाऊँगी ॥"
नृप बोले–"इस उत्तर की ही रानी, थी तुमसे आश मुझे ।
पर सत्य पालने मे भासित होता है सर्वविनाश मुझे ॥

मैं पड़ा हुआ द्विविधा में हूं, सपना अत्यन्त भयानक है ।
'अथ'से 'इति' तक उसका कहना, भीषणतापूर्ण कथानक है ॥"
"होने दो" तारा बोल उठी–'इसकी मुझको पर्वाह नहीं ।
कर्तव्यशील संकट में भी दिल से करते हैं आह नहीं ॥
मैं तो वर्णन कर चुकी निज मन का मन्तव्य ।
प्राण जायँ पर करूँगी, पालन निज कर्तव्य ॥

❀ गाना ❀

यही है नारी का उत्कर्ष ।
सदा दे पति को शुभ्र विमर्ष ॥
आती सम्पति सदा सुमति से, मिटती विपति हज़ार ।
पतिव्रता का नियम यही है–हो पति पर बलिहार ॥
करे पति-पूजन नित्य सहर्ष ।
सदा दे पति को शुभ्र विमर्ष ॥
नारी घर की रानी है और नर उसका सरताज ।
दोनों हों जब एक राय के सुख के सोजें साज ॥
यही है ऋषियों का निष्कर्ष ।
सदा दे पति को शुभ्र विमर्ष ॥"

--:o:--

वामाङ्गी के वचन सुन नृपति हुए सन्तुष्ट ।
मनोभाव भी होगए परामर्श से पुष्ट ॥
सूर्योदय पर कर दिया जनता में ऐलान ।
"कौशिक मुनि को स्वप्न में राज दे दिया दान ॥"
मन्त्री ने आकर कहा–"करिये पुनः विचार ।
इस निर्णय से नगर में है अति हाहाकार ॥
राजन्, सपने की बातों में, होता है कुछ भी तत्व नहीं ।
इसलिये कभी ज्ञानी-ध्यानी, देते हैं उन्हें महत्व नहीं ॥"

"लेकिन,"-नृप बोले-"क्षत्री यदि सपने में भी कुछ कहता है-
तो प्राण जायँ या बने रहें, वह उसपर अविचल रहता है ॥
दे चुका दान मैं सपने में, आजीवन इसे निभाऊँगा ।
मुनिवर का सेवक बनकर के-अब से यह राज्य चलाऊँगा ॥"
मन्त्री बोले-"यह अनुचित है है राजनीति-अनुसार नहीं ।
करडाले राज दान अपना, यह राजा का अधिकार नहीं ॥
थाती है राज्य-रिआया की, राजा उसका संचालक है ।
सन्तान प्रजा है राजा की राजा उसका प्रतिपालक है ॥
जो बात कि परम्परा से है, क्यों उसको आप मिटाते हैं ?
किसलिए हमारे शीशों से-छाया का छत्र उठाते हैं ?"

राजा बोले-"जगत् भी है यह स्वप्न-समान ।
फिर क्यों उसको मानता है संसार महान ?

सपने में प्राणी भरमाता-और उसे समझता अपना है ।
जब सपने में अपना है तो अपने में भी तो सपना है ॥
सब सपना है-अपना सब कुछ, यह बात हो चुकी निश्चय है ।
निर्धारित इस निश्चय ही पर मन्त्रीवर, मेरा निर्णय है ॥

❀ गाना ❀

"विजयी वह ही इस दुनिया में होते हैं ।
जो कभी धर्म और सत्य नहीं खोते हैं ॥
पर-हित और पर-उपकार है जिनके मन में ।
है दया नम्रता जिनके हृदय-भवन में ।
निष्काम कर्म करते हैं जो जीवन में ।
उनके ही-डङ्के बजते हैं त्रिभुवन में ।
यश और कीर्ति का बीज वही बोते हैं ।
जो कभी धर्म और सत्य नहीं खोते हैं ॥"

—०— (राधेश्याम)

अगले दिन आये वहाँ श्रीकौशिक मुनिराज ।
'राजन्, पूरा कीजिए एक मनोरथ आज ॥
यज्ञ-हेतु दरकार हैं मुद्रा पाँच हज़ार ।
देदेवें तो साधु पर हो अनन्त उपकार ॥"

नृप बोले-"स्वगात महामुने, यह परम अनुग्रह मुझ पर है ।
मुद्रायें हैं क्या चीज़ भला, सेवा में तन मन तत्पर है ॥
मेरा जो भी है दुनिया में, वह सब सन्तों के अर्पन है ।
साधुओं-ब्राह्मणों की सेवा-मेरे जीवन का जीवन है ॥
मन्त्रीवर, राजकोष में से-मुनिराई की झोली भरदो ।
दरकार हों जितनी मुद्रायें, वह यज्ञहेतु अर्पण करदो ॥"

बोले विश्वामित्र तब-सुनिए नृपति उदार ।
राजकोष पर आपका-है क्या अब अधिकार ?
नहीं किया था आपने क्या यह कल ऐलान ?
'कौशिक मुनि को स्वप्न में राज्य देदिया दान॥'

क्षत्रियकुल-कमल-दिवाकर नृप, यह क्या फ़रमान देरहे हो ?
जब कोष आपका नहीं रहा तो क्योंकर दान देरहे हो ?
यह सच है याचक खड़ा देख; रहता है नहीं होश तुमको ।
सन्तुष्ट दान से करूँ इसे, आता है यही जोश तुमको ॥
पर, यहाँ उलझनें दो हैं जो फ़ौरन सुलझा देनी होंगी ।
पहले यह राज्य मुझे देकर फिर मुद्रायें देनी होंगी ॥"

"एवमस्तु" कह नृपति ने तुरत उतारा ताज ।
विधिपूर्वक मुनिराज को देडाला सब राज ॥
"मुद्रा का भी" फिर कहा-"करदूँगा भुगतान ।
मुनिवर, आशीर्वाद दें, रहे दास की आन ॥"

यह कह, अपने गले से—अभी उतारा हार ।
मुनि बोले "होचुका है इसपर भी अधिकार ॥"
दानी नृप सचमुच हुए इस क्षण ज़रा अधीर ।
ऋण निबटाने के लिए क्या हो अब तदबीर ?
फिर कहा—"प्रभो क्या चिन्ता है? सुत और पत्नी के भूषण हैं ।
यदि मेरा हार राज्य का है तो ऋण में वही समर्पण हैं ॥"
दाता की देख महत्ता यह वास्तव में ऋषिवर चकराए ।
अबतक जिसक़दर परीक्षा ली उसको सोचा तो सकुचाए ॥
लेकिन, फिर पूरे साहस से-होगये खड़े युद्धस्थल में ।
देखूँगा सुदृढ रहेगा यह कबतक अपने सत के बल में ॥
"सुत और पत्नी के भूषण भी" बोले—"होचुके पराए हैं ।
इसलिए कि राजकोष से ही धन लेकर वे बनवाए हैं ॥
मुनिनायक का यह तर्क देख; पड़गए भूप असमंजस में ।
आपड़ा धर्मसङ्कट ऐसा, बिजली-सी दौड़ी नस नस में ॥
इतने में मन्त्री बोल उठा -"किसलिए नाथ घबराते हैं ?
यह सेवा पूर्ण करेंगे हम, कारण सेवक कहलाते हैं ॥
अबतक वेतन लेकर हमने, हे स्वामी, जो कुछ जोड़ा है ।
घर के खर्चों से बचा-बचा; बूढ़ेपन को रख छोड़ा है ॥
वह धन होवेगा धन्य आज—यदि काम आपके आएगा ।
प्रभुवर, इससे अच्छा अवसर—आज्ञाकारी कब पाएगा ?
स्वामी यदि चिन्तित होते हैं तो सेवक पहले चिन्तित है
बगिया के फूल आपकी ही इस समय आपको अर्पित हैं "
गरज कहा मुनिराय ने—"हेच है यह तजवीज़ ।
इस बगिया के फूल भी हैं मेरी ही चीज़ "

मन्त्री बोले- 'आपका क्या उनार अधिकार ?
वह तो वेतन में मिले-मुझको हैं सर्कार ॥"
मुनि बोले-"सर में अभी बाकी उसका खब्त ।
तो मैं अपने हुक्म से करता हूं वह जब्त ॥"
नृप बोले-"अर्पण हुआ जब सब धन और गेह—
तो केवल रहगई है हरिश्चन्द्र की देह ॥
यह ही अब भेंट आपके है, इसको ही बेच लीजियेगा ।
जो द्रव्य प्राप्त हो उससे ही सेवक को उऋण कीजियेगा ॥"
मुनिराई बोल उठे-"राजन् क्यों इतना तुम अकुलाते हो ?
एक तुच्छ बात पर इस प्रकार सङ्कट अत्यन्त उठाते हो ?
मेरे ऋण का है अगर पटना कुछ दुश्वार—
तो फिर यह ही उचित है-करदो तुम इन्कार ॥'
"इन्कार" कह उठे हरिश्चन्द्र-"मुनिनायक, मैं इन्कार करूँ ?"
जो जीवनभर में नहीं किया, वह अब मिथ्या व्यवहार करूँ ?
चन्द्रमा आग बरसाए, या अङ्गारे गिरें हिमाचल से ।
तारे टकरायें आपस में सूर्योदय हो अस्ताचल से ॥
बालू से तेल निकल आये, गङ्गा की धार पलट जाए ।
विन्ध्याचल चाहे तिल-तिल हो, या ध्रुव कीली से हट जाए ॥
रेखायें कर की मिटजायें या यह संसार बदल जाये ।
लेकिन, नामुमकिन है मुनिवर; मेरा इक़रार बदल जाये ॥"
सन्नाटे में आगए मुनि-सुनकर यह बैन ।
लेकिन, च्चण में करलिये लाल वर्ण के नैन ॥
बोले-"दिखला रहा है क्यों यह कोरी शान ?
मट्टी में मिलजायगा सत्पन का अभिमान ॥"

लेकिन, समझादें आप मुझे-यह नया दान किस विधि का है ?
वह क्योंकर पात्र दान का है-होचुका स्वामि जो निधिका है ?
इसलिए हुआ सङ्कोच मुझे, वर्ना, हैं यह जेवर हाज़िर
जेवर तो क्या हैं, सेवा में-ख़ुद रोहित राजकुँवर हाज़िर ॥"

रोहिताश्व की सुनी जब मर्मभरी तक़रीर ।
पलभर को होगये मुनि-मन ही मन गम्भीर ॥
जब सब जेवर देदिए रही न पास छदाम ।
तब मुनि को नृप ने किया रानी-सहित प्रणाम ॥

मुनि बोले-"नचत्रा ब्राह्मण, नृप, साथ तुम्हारे जायेगा ।
देदेना इसको मुद्राएँ यह पास हमारे लायेगा ॥"
यद्यपि वह आज्ञा देते थे, पर दिल उनका घबराता था ।
इसलिए कि सत्य-तराज़ू में नृप पूरा तुलता जाता था ॥

तारा और रोहित-सहित होकर के कंगाल ।
राज-भवन से चलदिए हरिश्चन्द्र भूपाल ॥

साहस-तुरंग पे बैठे थे व्रत का पटका था बँधा हुआ ।
थी चमा खड्ग कर में उनके और छत्र धर्म का लगा हुआ ॥
माथे पर मुकुट तेज का, तो आभा का जामा तन पर था ।
तप, धैर्य, अहिंसा, व्रतपालन, धृति, दया, शौर्य यह जेवर था ॥
रानी बैठीं सेवा-रथ में संरचक रोहित बालक था ।
सद्गति और सुमति दासियाँ थीं, नृप का सत-व्रत संचालक था ॥
कर रहा जयध्वनि पुण्य और यश उनपर चँवर डुलाता है ।
सौ यज्ञ पूर्ण जो करता है, वह इसी शान से जाता है ॥

"रङ्क होगए राव से"-यह बोले अल्पज्ञ ।
सूक्ष्मदर्शियों ने कहा-"यही है सौवाँ यज्ञ ॥"

इतने में आई वहाँ मजमे की आवाज़ ।
"हमें छोड़कर जारहे—कहाँ ग़रीबनवाज़ ?
मुनिराई की हम प्रजा बनें, यह बात हमें मंज़ूर नहीं ।
दासत्व मानने को उनका—होसकते हम मजबूर नहीं ॥"
नृप बोले—"मेरी इच्छा है मुनिवर को राजा मानो तुम ।
प्यारो, मुझसे है प्रेम अगर तो मेरा कहना मानो तुम ॥
आशीर्वाद दो सब मिलकर सत्पथ पर दृढ़ होजाऊँ मैं ।
अपने जीवन से दुनिया को साबित यह कर दिखलाऊँ मैं—

'चन्द टरै सूरज टरै, टरै जगत्-व्यवहार ।
पै दृढ़ श्रीहरिचन्द को टरै न सत्य विचार ॥"
(भारतेन्दु)

※ गाना ※

शक्ति दे मुझको वह भगवान ।
सत्य पर होजाऊँ बलिदान ॥
ऋषि-मुनि भी इस मार्ग में हुए हैं डाँवाडोल ।
कठिन मार्ग है सत्य का, रखना है पग तोल ॥
तभी होगा अपना कल्यान ।
सत्य पर होजाऊँ बलिदान ॥
दृढ़ रहना संकल्प पर, ठाना यह ही आज ।
सूर्य ! तुम्हारे हाथ है—सूर्यवंश की लाज ॥
प्रभो, देना यह ही वरदान ।
सत्य पर होजाऊँ बलिदान ॥",

—:o:—

सरयूतट पर रात्रि को नृप ने किया निवास ।
चारों दिशि होरही थी माता प्रकृति उदास ॥

रह सके नहीं तारे नभ में, यह दृश्य देख टूटने लगे ।
सरयू की छाती तड़क गई, जल के सोते फूटने लगे ॥
रो उठी रात, पड़ गई ओस—वृक्षों के फूलों-पत्तों पर ।
नगरी में स्यापा छाया था बूढ़े जवान और बच्चों पर ॥
आखिर बीती रात वह आया प्रातःकाल ।
चमके द्विगुण प्रताप से रवि कर ऊँचा भाल ॥
दुनिया जागी तो समाचार यह किरणों-द्वारा ज्ञात हुआ ।
सपने में धन देनेवाला नृप युग-युग तक विख्यात हुआ ॥
कह उठा समीर—"जगत् देखे—प्रणवीर बली क्षत्री यह है
मेघों ने कहा गरज करके—"सच्चा सूरजवंशी यह है ॥"
पतझड़ के उपरान्त ज्यों आजाए ऋतुराज—
त्यों काशी होनेलगी शोभा-पूरित आज ॥
पार्वती जी ने किया शिव से यही सवाल ।
"विश्वेश्वर, क्या नगर का बदल रहा है हाल ?"
"प्राणप्रिये ! यह बात है" कहने लगे महेश ।
"सद्वादी, दानी व्रती हरिश्चन्द्र अवधेश—
मुनिवर विश्वामित्र को मुद्रा पाँच हजार ।
देकर होना चाहते हैं ऋण से उद्धार ॥
कौशिक ने जो अवधि दी, होगी आज समाप्त ।
लेकिन, अबतक हो नहीं सका उन्हें धन प्राप्त ॥"
यह सुनकर बोली पार्वती—"सत्-मर्य्यादा रखनी होगी ।
भगवन् ! नृप व्रत से डिगे नहीं, तदबीर वही करनी होगी ॥
वह आया शरण आपकी है, इसलिए उसे अपनायें प्रभो !
जैसे हो, उसकी नैया को सङ्कट से पार लगायें प्रभो !!"

शङ्कर बोले—"हाँ, हाँ बेशक, लेकिन, घटनायें घटने दो ।
सब भेद प्रकट होजायेगा—माया का पट तो हटने दो ॥"

उसी रोज़ सन्ध्या-समय—नृप पहुँचे बाज़ार ।
जहाँ बेचने थे उन्हें—पत्नी और कुमार ॥

इस तरह मनुज की बिक्री की तब भारत में थी प्रथा नहीं ।
स्वाधीन देश में ऋषियों के थी क्रीत दास की व्यथा नहीं ॥
इसलिए किसी ने बात न की, समझे, पागल-सौदाई है ।
सुत और पत्नी को बेच रहा, यह मानव नहीं क़साई है ॥

बड़ी व्यग्रता, हो उठे नृप मन ही मन व्यस्त ।
इस उलझन से होगई उनकी हिम्मत पस्त ।

उनके सर आफ़त का पर्वत उस समय टूटनेवाला था ।
अवलम्बित जिस पर धीरज था, वह सूत्र छूटनेवाला था ॥
दिल बैठा जाता था उनका दोनों आँखें पथराती थीं ।
ऋण चुकाने की तर्कीबें सब उलटी पड़ती जाती थीं ॥

अस्ताचल को कर दिया रवि ने भी प्रस्थान ।
"अभी चलदिये, कुलपते", बोले सत्य-निधान ॥

❀ गाना ❀

वचनवीरों का अपना सत्यपालन, देखते जाओ ।
लुटाते धर्म पर हैं किस तरह धन, देखते जाओ ॥
तड़पने की नहीं आज्ञा, न है फ़रियाद का मौक़ा ।
परीक्षक ने है डाली कैसी उलझन, देखते जाओ ॥
न अपना सत्य छोड़ेंगे, न मुँह हम प्रण से मोड़ेंगे ।
निछावर आन पर करदेंगे तन-मन देखते जाओ ॥
कभी रविवंश के बच्चे-न होते प्रण के हैं कच्चे ।
मिटा देंगे हम अपना सत् पै जीवन देखते जाओ ॥"

रह सके नहीं तारे नभ में, यह दृश्य देख टूटने लगे।
सरयू की छाती तड़क गई, जल के सोते फूटने लगे॥
रो उठी रात, पड़ गई ओस–वृक्षों के फूलों-पत्तों पर।
नगरी में स्यापा छाया था बूढ़े जवान और बच्चों पर॥

आखिर बीती रात वह आया प्रातःकाल।
चमके द्विगुण प्रताप से रवि कर ऊँचा भाल॥

दुनिया जागी तो समाचार यह किरणों-द्वारा ज्ञात हुआ।
सपने में धन देनेवाला नृप युग-युग तक विख्यात हुआ॥
कह उठा समीर–"जगत् देखे–प्रणवीर बली क्षत्री यह है"
मेघों ने कहा गरज करके–"सच्चा सूरजवंशी यह है॥"

पतझड़ के उपरान्त ज्यों आजाए ऋतुराज—
त्यों काशी होनेलगी शोभा-पूरित आज॥
पार्वती जी ने किया शिव से यही सवाल।
"विश्वेश्वर, क्या नगर का बदल रहा है हाल?"
"प्राणप्रिये! यह बात है" कहने लगे महेश।
"सद्वादी, दानी व्रती हरिश्चन्द्र अवधेश—
मुनिवर विश्वामित्र को–मुद्रा पाँच हजार।
देकर होना चाहते हैं ऋण से उद्धार॥
कौशिक ने जो अवधि दी, होगी आज समाप्त।
लेकिन, अबतक हो नहीं सका उन्हें धन प्राप्त॥"

यह सुनकर बोली पार्वती–"सत्-मर्य्यादा रखनी होगी।
भगवन्! नृप व्रत से डिगे नहीं, तदबीर वही करनी होगी॥
वह आया शरण आपकी है, इसलिए उसे अपनायें प्रभो!
जैसे हो, उसकी नैया को सङ्कट से पार लगायें प्रभो!"

शङ्कर बोले-"हाँ, हाँ बेशक, लेकिन, घटनायें घटले दो ।
सब भेद प्रकट होजायेगा-माया का पट तो हटने दो ॥"

उसी रोज़ सन्ध्या-समय—नृप पहुँचे बाज़ार ।
जहाँ बेचने थे उन्हें—पत्नी और कुमार ॥

इस तरह मनुज की बिक्री की तब भारत में थी प्रथा नहीं ।
स्वाधीन देश में ऋषियों के थी क्रीत दास की व्यथा नहीं ॥
इसलिए किसी ने बात न की, समझे, पागल-सौदाई है ।
सुत और पत्नी को बेच रहा, यह मानव नहीं क़साई है ॥

बड़ी व्यग्रता, हो उठे नृप मन ही मन व्यस्त ?
इस उलझन से होगई उनकी हिम्मत पस्त ।

उनके सर आफ़त का पर्वत उस समय टूटनेवाला था ।
अवलम्बित जिस पर धीरज था, वह सूत्र छूटनेवाला था ॥
दिल बैठा जाता था उनका दोनों आँखें पथराती थीं ।
ऋण भुगताने की तर्कीबें सब उलटी पड़ती जाती थीं ॥

अस्ताचल को कर दिया रवि ने भी प्रस्थान ।
"अभी चलदिये, कुलपते", बोले सत्य-निधान ॥

※ गाना ※

वचनवीरों का अपना सत्यपालन, देखते जाओ ।
लुटाते धर्म पर हैं किस तरह धन, देखते जाओ ॥
तड़पने की नहीं आज्ञा न है फ़रियाद का मौक़ा ।
परीक्षक ने है डाली कैसी उलझन, देखते जाओ ॥
न अपना सत्य छोड़ेंगे, न मुँह हम प्रण से मोड़ेंगे ।
निछावर आन पर करदेंगे तन-मन देखते जाओ ॥
कभी रविवंश के बच्चे-न होते प्रण के हैं कच्चे ।
मिटा देंगे हम अपना सत् पै जीवन देखते जाओ ॥"

काशीपति की आगई सुता वहाँ तत्काल ।
हरिश्चन्द्र ने कहदिया उससे सारा हाल ॥
उसके हाथों ही बिके—रानी और कुमार ।
मिलीं नृपति को इस तरह मुद्रा पाँच हजार ॥
हमदम बनकर आनन्द-भोग सम्पति में दम्पति करता था ।
दम पति का पत्नी भरती थी, दम पति पत्नी का भरता था ॥
दम बखुद छुटरहे हैं दोनों, विपदा ने की नाकों दम है ।
हर क़दम पे दम निकला जाता दम-बदम मिटरहा दमखम है ॥
रानी को सन्तोष था पति पर हुई निसार ।
राजा ख़ुश थे, होगये ऋषि-ऋण से उद्धार ॥
छुट गया हो राज-ताज जिससे, जिसकी धन-दौलत लुटती हो
नयनों का तारा छुटता हो, प्राणों की प्यारी छुटती हो ॥
उफ़ मुँह से उसने नहीं किया, आँसू भी गिरा न लोचन से ।
गिरता कैसे, कुछ पास नहीं, बिनगया सभी जब निर्धन से ॥
रानी से बोले नृपति—छोड़ दीर्घ निःश्वास ।
"देवी, रखना सत्य पर जीवन में विश्वास ॥
व्यवहार-परीक्षा ख़त्म हुई, अब धर्म-परीक्षा देंगे हम ।
है प्रेम परस्पर दोनों में तो पूरे ही उतरेंगे हम ॥
तुम हो यदि सच्ची पतिव्रता, मैं सच्चा पत्नी-व्रतधारी—
तो निश्चय इसी जिन्दगी में मिलजायेंगे हम-तुम प्यारी ।"
रानी और कुमार ने—जभी नवाये शीश ।
भर आया नृप का हृदय बोले—"जय जगदीश !
एक और आदेश है, रखना उसको याद ।
इस वियोग से हो नहीं मन में कभी विषाद ॥

गाना

आख़िरी वक़्त भी यह ध्यान न जाने पाये ।
मर मिटें सत्य पै यह आन न जाने पाये ॥
सर कटायेंगे मगर धर्म नहीं छोड़ेंगे ।
टेक पै दृढ़ हैं कि ईमान न जाने पाये ॥
लात मारेंगे प्रलोभन पै सदा दुनिया के ।
आर्यवीरों का यह अभिमान न जाने पाये ॥
चढ़ के सूली पै भी कहदेंगे उपासक सत् के ।
जान जाये, यह अनुष्ठान न जाने पाये ॥
सत्य के लोक को जाना है इसी जीवन में ।
ध्यान से 'चन्द्र' यह सोपान न जाने पाये ॥"

मुनिवर ने आकर कहा—"हरिश्चन्द्र भूपाल !
मुद्रायें दिलवाइये, बीता निश्चित काल ॥"
नक्षत्रा ने भेंट कीं मुद्रा पाँच हज़ार ।
कौशिक जी को देखकर विस्मय हुआ अपार ॥

कारण जो जाल बिछाया था-राजा का सत्य डिगाने को ।
वह अब उनके ही गले पड़ा-उनका अभिमान मिटाने को ॥
खिसियाई हँसी हँसे मुनिवर, बोले—"ख़ुश हूँ ख़ुश किया मुझे ।
बेशक तुम सच्चे दानी हो मुँहमाँगा धन देदिया मुझे ॥
लेकिन, मन में सोचिए ज़रा, राजन्, यह रक़म अधूरी है ।
नक्षत्रा ने जो-मेहनत की, बाक़ी उसकी मज़दूरी है ॥
कल सन्ध्या होने से पहले— उसको सौ मुद्रा देदेना ।
देता हूं तुमको धन्यवाद, आख़िरी दक्षिणा देदेना ॥"

नृप हठधर्मी देखकर मन में हुए अधीर ।
फिर मुनि के प्रस्ताव को सोचा हो गम्भीर ॥

"जाने दूँगा मैं नहीं—अब भी अपनी शान ।
वेचूँगा निज देह को, हो यह ऋण भुगतान ॥

❀ गाना ❀

इसपै मचले हैं सत्य डिगायेंगे वह ।
मेरी छाती पै बिजली गिरायेंगे वह ॥
वह अगर आगे बढ़े—तलवार अपनी खोलकर ।
आएए मक़तल में हम भी अपनी छाती खोलकर ॥
कितना खञ्जर को रक्त पिलायेंगे वह ।
मेरी छाती पै बिजली गिरायेंगे वह ॥
हुक्म है उफ़ भी न करना—वर्ना, होंगी सख्तियाँ ।
काटलेने को छुरी दी जा रही हैं धमकियाँ ॥
अब तो तीर पै तीर चलायेंगे वह ।
मेरी छाती पै बिजली गिरायेंगे वह ॥

इतने में आया वहाँ—डोमों का सर्दार ।
उसको सेवा के लिए—सेवक था दर्कार ॥
हरिश्चन्द्र कहने—लगे—"सुनिए ऐ सर्दार ।
सौ मुद्रा के मूल्य में सेवक है तैयार ॥"
वह बोला—"मरघट में रहकर मेरा कर सदा उघाना तुम ।
दो टके और गजभर कपड़ा लेकरके, मृतक जलाना तुम ॥
जो डिगे सत्य से कभी अगर तो अच्छा है परिणाम नहीं ।
मेहनत से काम वहाँ करना बनना तुम नमकहराम नहीं ॥"
नक्षत्र को मिलगए मुद्रा सौ तत्काल ।
बिके डोम के हाथ श्रीहरिश्चन्द्र भूपाल ॥
यहीं खत्म होती नहीं है लेकिन यह बात ।
होने को है और भी अभी बहुत उत्पात ॥

मुनि के कुण्ठित होगए—जब साधारण अस्त्र ।
उठालिए तब हाथ में योगशक्ति के शस्त्र ॥
सोचा—"अब इस ढंग से होगा मेरा वार ।
त्राहि-त्राहि कर उठेगा— जिसे देख संसार ॥
अबतक मैं भिक्षुक-तपसी था, लेकिन, अब रुद्र बनूँगा मैं ।
थर-थर काँपेंगे दिग्दिगन्त—वह कठिन परीक्षा लूँगा मैं ॥
पृथ्वी क्या, रवि-शशि के समेत सारा ब्रह्माण्ड हिलादूँगा ।
मैं योगशक्ति-द्वारा अपनी नभ से पाताल मिलादूँगा ॥
मुझसे लोहा लेनेवाला—है कौन वीर भूमण्डल में ?
है भीषण ज्वाला छुपी हुई मेरे इस काठ-कमण्डल में ॥"
सूर्योदय होनेलगा, आया स्वच्छ प्रभात ॥
उधर तपस्वीराज का शुरू हुआ आघात ॥
गए हुए थे तोड़ने—बालक उस दिन फूल ।
रोहित भी था साथ में, दैव हुआ प्रतिकूल ॥
मुनि ने काला साँप बन डसा उसे तत्काल ।
तारा से जाकर कहा—बच्चों ने सब हाल ॥
माता के सर पर गिरा—मानो एक पहाड़ ।
'हाय' ! शब्द के साथ ही खाई वहीं पछाड़ ॥
तड़पी, विलपी, छाती पीटी, सर टकराया दीवालों से ।
सन्तप्त हृदय ऐसा रोया, आकाश हिलउठा नालों से ॥
बोली—"इन आँखों का तारा—आशा के नभ से टूटा है ।
जीती थी जिसको देख-देख, वह कोष मृत्यु ने लूटा है ॥
है लाल काल के गालों में, लेकिन, माँ अब भी जीवित है ।
चिन्ता भी जिससे चिन्तित है, वह सङ्कट आज उपस्थित है ॥"

राजकुँवरि भी आगई—इतने में उस ओर।
अकुलाकर कहनेलगी—"क्यों करती है शोर ?
जी नहीं उठेगा रोहिताश्व, रोने-धोने, चिल्लाने से।
पगली, क्या हासिल होना है ? मुर्दे की लाश सड़ाने से ?
जा, लेजा इसको मरघट पर, कर दाहकर्म इसका जाकर।
फिर गृह यह शुद्ध कराना है मुझको तुझसे ही धुलवाकर॥"
धन-सम्पति के गर्व में दुनिया के धनवान।
प्रायः करते हैं नहीं—दीनों का कुछ ध्यान॥
राजकुँवरि के हुक्म को सुनकरके तत्काल।
चली जलाने के लिए—तारा अपना लाल॥
गङ्गातट पे बना था—एक जगह शमशान।
हरिश्चन्द्र बैठे वहाँ—करते थे हरिध्यान॥
मन में पैदा होरहे थे वैराग्य विचार—
"है पानी का बुलबुला यह संसार असार॥
मैं राजा था, फिर रङ्क हुआ, अब एक डोम का नौकर हूं।
मुर्दा जो यहां जलाते हैं, उनसे वसूल करता कर हूँ॥
हा! समय बिगड़ जाता है जब तब चक्कर खूब खिलाता है।
यह बड़े-बड़े साम्राज्यों की गहरी बुनियाद हिलाता है॥"
इतने में पैदा हुआ—फिर मन में एक ज्ञान।
"बुरा भला निज कर्म से बनता है इंसान॥
भंगी का नौकर हो तो क्या ? लेकिन, यदि नौकर सच्चा है—
तो बेईमान नृपति से भी कुछ अंशों में वह अच्छा है॥
कर्तव्य और सच्चाई से जो भी जग में गिर जाते हैं।
वे मान-प्रतिष्ठा खोकरके—दर-बदर ठोकरें खाते हैं॥

❀ गाना ❀

अनोखो दुनिया की चतुरङ्ग।
खड़े हुए हैं रण में गज, रथ, फ़र्ज़ी और तुरङ्ग।
डटे हुए हैं उस बिसात पर घोड़े रङ्ग-बिरङ्ग।
चले हैं करने भारी जङ्ग॥
प्यादा जब फ़र्ज़ी होजाता—नया दिखाता रङ्ग।
टेढ़ी, चाल चले इतराकर बढ़-चढ़कर बेढङ्ग।
न समझे राजा को भी मङ्ग॥
टेढ़ा, तिर्छा, आगे, पीछे, धाता है मातङ्ग।
किसी चाल पर पिट जाता है, फिर रहती न उचङ्ग।
शिथिल होजाते सारे अङ्ग॥
रथ होजाता अभी अकारथ, मरते अभी तुरङ्ग।
साधन-बिना शाह तब होकर बेबस और अपंग।
हाथ से खोदेता औरंग॥
समय बिगड़ जाने पर करते—साधारण जन तंग।
निबल शाह को प्यादा भी शह देकर करता दंग।
रंग जिससे होजाता भंग॥
बहुत खेल यह खेलचुका तू, मचा चुका हुड़दंग।
सफल बनाले अब जीवन को होकर के यकरंग।
'चन्द्र' कर सन्तों का सत्संग॥

—:o:—

इतने में ही सुनपड़ी रोने की आवाज़।
ध्यानावस्थित नृपति का बिगड़ गया सब साज़॥

बोले—"अबले, क्यों रोती है? यह सब संसार बबूला है।
वह रोता और चिल्लाता है—जो परमेश्वर को भूला है॥
प्रभु की इच्छा से सदा जीव दुनिया में आता-जाता है।
वह बन्धन से छुट जाता है जो ईश्वर में चित लाता है॥"

झुँझलाकर वह कह उठी–"नहीं सुहाता ज्ञान ।
मुझको तो होरहा है सूना सकल जहान ॥
वह दर्द उठा है इस दिल में दो टूक होगया यह दिल है ।
जग से होता है दिल बद्दिल, ऐसी मुश्किल पर मुश्किल है ॥
भवसागर में डगमगा रही—नैया मेरे अस्तित्व की है ।
माँ, कहनेवाला नहीं रहा, पदवी टूटी मातृत्व की है ॥'
पुनर्मिलन का किया था विधि ने आज विधान ।
एक दूसरे को मगर नहीं सके पहचान ॥
दिल उसका उधर तड़पता था, मन इनका इधर मचलता है ।
वह प्रकट शोक में व्याकुल थी पर इनको गुप्त विकलता है ॥
दिल तो दिल से मिलने को था, आँखें आँखों से मिली नहीं ।
क्षण भर को मौन रहे दोनों, उस समय जुबानें हिली नहीं ॥
नृप बोले–"प्रभु पुत्र को करदें मुक्ति प्रदान ।
क्रिया कर्म का कर यहाँ जल्दी से सामान ॥
दो टके और गज भर कपड़ा, कर अपना जब लेलूँगा मैं—
तब तेरे मुर्दा बालक को मर्घट पर जलने दूँगा मैं ॥
निज कर से कर देकर, करदे अन्त्येष्टि अभी इस बालक का ।
अबले, अब ले सुधि इस शव की, सुमरन कर जग के पालक का॥"
सुनकर कर का नाम वह अबला हुई अधीर ।
टप टप भू पर गिर पड़ा फिर नयनों से नीर ॥
बोली–'दो टके कहाँ से दूँ ? मुझपर जब एक टका न रहा ।
अब नहीं खयाल टके का है, अब ध्यान मुझे पट का न रहा ॥
इस घटना का खटका होता तो संचित बहुत टके होते ।
किस्मत यदि नहीं झटकती तो पटके में टके टके होते ॥"

मर्मभरी इस बात को सुनकर के भूपाल ।
क्षणभर को तो होगए मन ही मन बेहाल ॥
फिर बोले-"है गले में राजचिह्न का हार ।
उसपर भी कह रही है—हूं निर्धन लाचार ?"
बोली-"हार निहारनेवाले तुम हो कौन ?
इसमें तो कुछ भेद है नहीं रहूँगी मौन ॥
यह चिह्न त्रिशंकु के कुल का अवधेश्वर ही लख सकते हैं ।
प्यारी की ऐसी गुप्त वस्तुः प्राणेश्वर ही लख सकते हैं ॥"
नृप बोले-"हैं, तारे! तारे!! यह क्या दुर्दशा तुम्हारी है ?"
वह चरणों में गिरकर बोली-"दासी विपदा की मारी है ॥"
पुनर्मिलन की ख़ुशी में गये ज्ञान सब भूल ।
धीरे-धीरे हृदय में उठा विरह का शूल ॥
ढीट मारकर रोपड़े—वे ज्ञानी भूपाल ।
"हाय पड़ा बेकफ़न है मेरे आगे लाल ॥
जिसके नसीब की बराबरी करपाया स्वयं नसीब नहीं ।
उसका नसीब ऐसा बिगड़ा-है उसको कफ़न नसीब नहीं ॥
लेकिन, बिन कफ़न दाह करदूँ, यह नियम नहीं तोड़ूंगा मैं ।
विधना भी मुझे आज्ञा दें तो सत्य नहीं छोड़ूंगा मैं ॥"
रानी को भेजा मगर भिक्षा-हित तत्काल ।
रोहित के गम में हुए लेकिन ख़ुद बेहाल ॥
चेतगई-मुनिराज के ज़ुल्मों की जब ज्वाल ।
सद्वादी के सत्य से डोल उठे दिक्पाल ॥
यह रण इस हद तक पहुँचा जब तक शेष केंचुली त्याग चले
चतुरानन चतुराई भूले, कमलों से भँवरे भाग चले

वैकुण्ठ हिला खलभली मची, पय उबल गया पयसागर का ।
सद्वादी-दानी भूपति पर तब ध्यान गया कमलावर का ॥
नारद ने किया निवेदन यह- "कब सुधि लोगे प्रभु, प्यारों की?
क्या नहीं कान में भनक पड़ी मुनिवर के अत्याचारोंकी?"

विश्वम्भर ने तब कहे मुख से वचन ललाम—
"देवर्षे, करचुका हूँ सहायता का काम ॥"
देववृन्द ने तब लखा अति विस्मय के साथ ।
थे भूपति की मदद पर प्रभु के चारों हाथ ॥

वह चक्र-सुदर्शनवाला कर तत्पर सर पर रक्षा में था ।
और गदा धारनेवाला कर दानी नृप का दिल थामे था ॥
जिस कर में पद्म सोहता है, आशिष देने को ऊँचा है ।
कहता था हाथ शंखवाला—"सद्वादी का सत् सच्चा है ॥"

उसी समय लाए पकड़ तारा को कुछ लोग ।
राजकुँवर के हनन का था उसपर अभियोग ॥
काशीश्वर का हुक्म था "क़त्ल करे चाण्डाल ।
सर इसका तन से जुदा किया जाय तत्काल ॥"
बढ़े परीक्षारूप में जब यों अत्याचार ।
सूर्यदेव के तब रहा दिल में नहीं क़रार ॥

ऐसी नृशंसता जब देखी—तेवर तन गए दिवाकर के ।
सोचा—"यह माया नष्ट करूँ-मैं अङ्गारे बरसाकरके ॥"
फिर सोचा "कहाँ बहकता हूं ! वास्तव में यह अपनी जय है ।
मुनिराज विफल ही नहीं आज, उनके घमण्ड का भी क्षय है ॥
मुझको यह पूरा निश्चय है रानी तारा निर्भय होगी ।
उस हरिश्चन्द्र की राजा की उस रविवंशी की जय होगी ॥"

राजाज्ञा से होगए—हरिश्चन्द्र मजबूर ।
हत्यारिन का वध करें, किया तुरत मंजूर ॥
पर तारा को देखकर मन में हुए अधीर ।
तड़प उठा आहत हृदय, लगा तीर पर तीर ॥
बोले—"तारे ! मेरी तारे, तू सूर्यवंश की नारी है ।
मुझको आश्चर्य होरहा है—किसलिए हुई हत्यारी है ?"
तारा बोली—"हे प्राणनाथ, यह अन्तिम विपदा टालो तुम ।
हूं फँसी हुई दुखसागर में, उसमें से शीघ्र निकालो तुम ॥"
"राजाज्ञा से"—कह उठे—"हुआ प्रिये, लाचार ।
नारी-हत्या-कर्म भी करता हूं स्वीकार ॥"
बोली—"मरने से नहीं डरती हूं भर्तार !
लेकिन, दुनिया कहेगी—मैं थी पापिन नार ॥
रह-रहकर होरहा है—यह ही मन में सोच ।
कैसे मन से मिटेगा—मेरे यह संकोच ॥
रोहित तेरी यह माता भी पीछे ही पीछे आती है ।
हे नाथ, चरण छूलेने दो, दासी दुनिया से जाती है ॥
तब नृप का भी मन पिघल उठा, सोचा—"वध से इन्कार करूँ।"
फिर सोचा—"धर्म न छोड़ूंगा—इसलिए इसे स्वीकार करूँ ॥
विधना निर्दोषी अबला पर इस तरह खड्ग चलवायेगा ?
अन्याय कराकर भी क्या तू जग का स्वामी कहलायेगा ?"
वह बोली—"मेरी साड़ी से प्राणेश्वर, कपड़ा फाड़ो तुम ।
होजाय न मेरा मोह प्रबल; आँखों पर पट्टी बाँधो तुम ॥"
पट्टी बाँधी आँख पर कर में ली तलवार ।
बोले—"मरने के लिए तारे, हो तैयार ॥

सब की रक्षा की अगर मैंने है भगवान् ।
देना मेरी प्रिया को, तो तुम स्वर्ग-स्थान ॥"

सद्वादी ने सतवन्ती पर सत्‌रक्षा-हित जब वार किया ।
मुनिवर ने सम्मुख से आकर फौरन ही रोक प्रहार लिया ॥
"निश्चय सद्वादी, दानी नृप, तू सूर्यवंश में सूरज है ।
जय सतोगुणी की जग में है रज तो सत के पग की रज है ॥"

मुनिवर ने नृप को दिया ज्योंही यों आशीश ।
नृप ने मुनि के चरण में तभी रखदिया शीश ॥
रोहिताश्व को भी मिला तत्क्षण जीवन दान ।
वापिस सारा होगया राज-पाट-सामान ॥
पट्टी आँखों से रखी—नृप ने जभी उतार ।
देखा मुस्कारहे थे सम्मुख जगदाधार ॥

डोमों का मुखिया, राजसुता और जितने भी अधिकारी थे ।
थे सभी देवता सुरपुर के—जो आज मनुज-तन-धारी थे ॥
सुरपति ने निज पद देने का सद्वादी को सुविचार किया ।
कुलपति का वचन निभाने को नृप ने वह अस्वीकार किया ॥

सत्य-परीक्षा में हुए भूपति जब उत्तीर्ण ।
नये ढंग से अवध में हुए तभी अवतीर्ण ॥
हृदय खोलकर प्रजा ने किया खूब सत्कार ।
'चन्द्र' हुआ हरिश्चन्द्र का घर-घर जय-जयकार ॥

श्रीराधेश्याम-गीताञ्जलि

(लेखक—प० राधेश्याम कथावाचक)

ऊपर दिए गए नाम की पुस्तक भी 'श्रीराधेश्याम-गीतावली' की तरह गीतों की पुस्तक है। 'गीतावली' की नाईं इसके भी हर एक गीत के साथ एक भूमिका लगी हुई है।

गीतों की भूमिकाओं में पण्डितजी ने अपने जीवन में घटनेवाली, या अपने अनुभव में आनेवाली, उन अनेक घटनाओं का ज़िक्र किया है जिनसे उन्हें उस विशेष गीत के लिखने की प्रेरणा मिली है।

वे घटनाएँ प्रायः हैं तो वैसी ही जैसी कि हर आदमी पर गुज़रती हैं, पर उन सब से 'आँखमिचौनी' खेल कर कविता करना पण्डित राधेश्यामजी का ही काम था।

आप इन गीतों को पढ़ेंगे तो देखेंगे कि दुनिया के दुरंगेपन का पण्डितजी ने कैसा पर्दाफ़ाश किया है, कठिनाइयों से ख़ौफ़ न खाकर क़लम की नोक से किस तरह उन पर फब्तियाँ कसी हैं और उनसे 'ठठोली' की है।

'हाथ के कंगन' को 'आरसी' में मत देखिए। पुस्तक मंगाकर ख़ुद पढ़िए और झूमिए। मूल्य १ रु० ५० नए पैसे

पता—

श्रीराधेश्याम पुस्तकालय, बरेली

लेखक—

साहित्यभूषण, हिन्दीप्रभाकर

पण्डित खुशीराम शर्मा 'विशारद'

मीराबाई

सम्पादक—

नेपाल गवर्नमेंट से "कथावाचस्पति" की पदवीप्राप्त—

कीर्तनकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—

प० राधेश्यामकथावाचक

प्रकाशक—

पाँचवीं बार २०००] सन् १९६१ ई० [मूल्य ४४ नये पैसे

मुद्रक—प० रामनारायण पाठक, श्रीराधेश्यामप्रेस, बरेली

प्रार्थना

न ठुकराओ मुझको हर बार ।
अपनाओ अब तो हे गिरिधर, मानूँगा उपकार ॥
ढोता आता हूँ युग-युग से जन्म-मरण का भार ।
हो न सकूँगा बिना सहारे भवसागर के पार ॥
आशा-तृष्णा की लहरों का कबतक सहूँ प्रहार ।
शिथिल हुई है जीवन-नैया डोल-डोल मँझधार ॥
'मीरा' के मोहन हो जाओ एक बार साकार ।
सुध-बुध बिसरें सुनते-सुनते मुरली की झनकार ॥
शुद्ध स्वर्ण-सा बन जाऊँ मैं तजकर सकल विकार ।
जन्म-जन्म की साध मिटाऊँ होकर एकाकार ॥

ॐ

जिसके पावन प्रेम पर रीझे ब्रजगोपाल ।
जिसके अन्तर से उठी-कृष्ण-विरह की ज्वाल ॥
हँस-हँसकर जिसने किया घोर हलाहल पान ।
मनमोहन के नाम पर झेले कष्ट महान ॥
द्वापर की गोपियों सा जिसमें प्रेम अपार ।
कलियुग की नारियों का बनी है जो शृङ्गार ॥
अपनी भारत-भूमि को है जिसपर अभिमान ।
उस मीरा ही का करें आओ अब गुणगान ॥
रतनसिंह राठौर थे रजपूतों की शान ।
रक्खा अपने वंश का सदा उन्होंने मान ॥
पूर्ण मेड़ता-भूमि पर था उनका अधिकार ।
प्राणों सम निज प्रजा को करते थे नित प्यार ॥

वे देश धर्म पर तिल-तिलकर जलनेवाले परवाने थे ।
माँ की वेदी पर मचल-मचल मरनेवाले दीवाने थे ॥
रैयत के सुख पर ही अपना सर्वस न्योछावर करते थे ।
खुद कष्ट अनेकों सहते थे, औरों की विपदा हरते थे ॥

पति ही के समतुल्य थी पत्नी महा उदार ।
सरल हृदय में प्रणय की बहती थी मृदु धार ॥
उन दम्पति ही के हुई मीरा-सी सन्तान ।
दीप्त हुआ जिस ज्योति से सारा राजस्थान ॥

राणा के पिता राव 'दूदा' बूढ़े और भोले भाले थे।
श्रीकृष्ण-नाम की माला में निशिदिन रहते मतवाले थे॥
राणा तो रण प्रांगण ही में अक्सर निज समय बिताते थे।
दूदा जी घर पर तरह-तरह मीरा का मन बहलाते थे॥
वे कृष्णप्रेम के मधुर गान मीरा को नित्य सुनाते थे।
सुन-सुनकर उनको बार-बार, उसके लोचन भर आते थे॥

दूदा जी के संग का पड़ा प्रभाव महान।
भक्ति रङ्ग में बालिका रंगी गई अनजान॥

दूदा जी की ही तरह नित्य मीरा अब हरिगुण गाती थी।
गिरिधर जी की मूर्तियाँ बना निज कर से उन्हें सजाती थी॥
बस्ती की अन्य लड़कियाँ जब गुड़ियों से खेला करती थीं।
मीरा निर्मित हरि-प्रतिमायें मीरा का मन तब हरती थीं॥
धीरे-धीरे अज्ञात-प्रेम अधिकार जमाता जाता था।
उसके चित का चितचोर को चुपचाप चुराता जाता था॥
उस भोलीबालिका को ई किञ्चित् अपनी हालत का ध्यान न था।
अर्पण हो चुका हाय! सर्वस, इसका उसको कुछ ज्ञान न था॥
लहरों में प्रेम-पयोनिधि की गोतों पर गोते खाती थी।
विस्तीर्ण प्रणय के पथ में वह आगे ही बढ़ती जाती थी॥

एक दिवस आये वहाँ—श्रीहरिदास सुजान।
विधि पूर्वक जिनका किया राणा ने सम्मान॥

हरिदास साधु हरि की प्रतिमा अपनी झोली में रखते थे।
उस प्रतिमा को आराध्य मान; निशिवासर पूजन करते थे॥
मोहन की वह मनहर प्रतिमा अनुपम थी और निराली थी।
किस शिल्पकार ने क्या जाने कैसे साँचे में ढाली थी॥

शिर पर था सुन्दर मोर-मुकुट, वनमाल गले में सजती थी ।
अधरों पर सुधाभरी मुरली बरियाई मन को हरती थी ॥
कटि पर शोभित था पीताम्बर घंटिका बहार दिखाती थी ।
श्यामल छवि ब्रज के राजा की बरबस मदमस्त बनाती थी ॥
प्रत्येक अङ्ग कुछ मादक था, प्रत्येक अदा कुछ बाँकी थी ।
करने को वशीकरण सब जग जगपति की अद्भुत झाँकी थी ॥

मीरा की उस मूर्ति पर ज्योंही पड़ी निगाह ।
तैर-तैर कर थक गई, मिली न छवि की थाह ॥
क्षणभर में उस रूप पर डाला सर्वस वार ।
लाकर पहरा हो दिया फूलों का एक हार ॥
फिर सोचा—"ले जाएँगे साधु इन्हें तो साथ ।
पास न मेरे रहेंगे क्या यह जीवननाथ ?"
भोली-भाली बालिका होकर आत्मविभोर ।
निज जननी से इस तरह बोली—फिर कर जोर ॥

"माँ, मेरी सभी मूर्तियों से मुझको यह ज्यादा भाते हैं ।
इन प्रेमचन्द्र का रूप देख; लोचन चकोर बन जाते हैं ॥
यदि यह मेरे हो जायें तो पल-पल पर बलि-बलि जाऊँगी ।
स्वर्णासन पर बिठला इनको उर-आसन पर बिठलाऊँगी ॥"

बात काटकर साधुवर बोले "बेटी, धन्य ।
ब्रजनन्दन से है तुझे—सचमुच प्रेम अनन्य ॥
पर; तुझको यह श्रवण कर होगा सोच अपार ।
इस प्रतिमा से मुझे भी—है प्राणाधिक प्यार ॥
रखता हूँ आराध्य को मैं नित अपने पास ।
कर न सकूँगा इसलिए पूरी तेरी आस ॥"

इतना कहकर चल दिये साधु महाशय, हाय !
जाते-जाते कर गये—प्रेमिनि को निरुपाय ॥
तड़प-तड़प कहने लगी—मीरा "हे चितचोर !
यह वियोग की पीर तो है अत्यन्त कठोर !!

❀ गाना ❀

बिहारी मेरा घर भी ब्रज बना देते तो क्या होता ?
मुझे भी बाँसुरी अपनी सुना देते तो क्या होता ?
अभी तुम सामने आए, अभी फिर होगये ओझल।
प्रभो, यह बीच का पर्दा हटा देते तो क्या होता ?
मेरे नटवर, मेरे गिरिधर, मेरे गोपाल मुरलीधर !
मुझे भी गोपिकाओं में मिला देते तो क्या होता ?
सुना है तुमने वृन्दावन में दावानल बुझाई है।
मेरी भी आग हृत्तल की बुझा देते तो क्या होता ?
दयामय, मैं तुम्हारे पास आने को तरसती हूँ।
तुम्हीं स्वयमेव निज मारग बता देते तो क्या होता !"

—०—

तड़प रहे थे यहाँ जब यों मीरा के प्राण।
हिले वहाँ, वह—जिन्हें जग कहता है पाषाण ॥
हों भक्त अगर बेचैन कहीं तो चैन न वे भी पाते हैं।
भक्तों की व्याकुलता त्रिलोक खुद भी व्याकुल हो जाते हैं ॥
फिर मीरा की यह टेर भला हो सकती थी निष्फल क्योंकर ?
मीरा आकुल थी-तो गिरिधर होते न भला विह्वल क्योंकर ?
पूजा में हरिदास के नेत्र मुँदे तत्काल।
लगे देखने-स्वप्न में कहते हैं गोपाल—

"हे साधक उस मीरा का भी निज मन में तनिक विचार करो ।
मेरी उस सरल पुजारिन की आशाएँ यों मत छार करो ॥
सोचो तो-कब तक उसको मैं यों व्याकुलचित रख सकता हूँ ?
कबतक यों अपने दर्शन से उसको वञ्चित रख सकता हूँ ?
मैं केवल पास तुम्हारे ही बोलो-कैसे रह सकता हूँ ?
मैं हूँ अनन्त, मैं हूँ असीम, बन्धन कैसे सह सकता हूँ ?
जाओ झटपट मेरी प्रतिमा-मेरी मीरा को दे आओ ।
सीमा होचुकी तड़पने की अब अधिक न उसको तड़पाओ ॥
पाषाणमूर्ति का मोह छोड़; कण-कण में मुझे निहारो तुम ।
कर छिन-भिन्न झूठे बन्धन निज दोनों लोक सुधारो तुम ॥"

इतना कहकर होगए हरि तो अन्तर्द्धान ।
आँख खुली तो साधुवर हुए बड़े हैरान ॥
मन ही मन करते हुए-मीरा का गुणगान ।
राणा के प्रासाद को किया तुरत प्रस्थान ॥
मीरा से मिल, हर्ष का रहा न वारापार ।
राणा से फिर इस तरह बोले साधु उदार ॥

"बड़भागी हो तुम रतनसिंह मीरा सी कन्या पाई है ।
है धन्य कोख उस जननी की जिससे यह बाला जाई है ॥
गोकिल की कोई गोपी यह-फिर भूमण्डल पर आई है ।
जिसके तन-मन में प्राणों में रम रहा कृष्ण ब्रजराई है ॥
मनमोहन के भक्तों में यह-अति ऊँचा आसन पाएगी ।
द्वापर की राधा के समान-कलियुग में मानी जाएगी ॥
जीवनभर भक्तिभाव की यह पावन सुरसरी बहायेगी ।
आखिर अपना अस्तित्व मिटा-निज प्रियतम में मिल जायेगी ॥

मीरा से फिर इस तरह प्रकट किए उद्गार ।
"बेटी, तेरे प्रेम से मैं भी बना उदार ॥
भक्ति-भावना देखकर तेरी अकथ अपार ।
खिंच आए हैं आप ही तेरे नन्दकुमार ॥
अर्पण करता हूँ तुझे—ले निज जीवनप्राण ।
मीरे ! रखना हर घड़ी मेरे प्रभु का ध्यान ॥

प्राणों से भी प्यारा जिनको मैंने जीवन में समझा है ।
आत्मा से भी ऊँचा जिनको मैंने निज मन में समझा है ॥
उन गिरधर उन वंशीधर को अब तेरे अर्पण करता हूं ।
बेटी, प्रतिक्षण यह याद रहे अपना सब तुझे सौंपता हूं ॥
आरती, भोग शृङ्गार आदि अब से तुझको करना होगा ।
भोलीभाले ठाकुरजी को मन मन्दिर में धरना होगा ॥
इन नित्य राग के रसिया को—कर नृत्य रिझाना है मीरे !
यह कीर्तन के शैदाई हैं, यह भूल न जाना हे मीरे !!"

इस प्रकार निज हाथ से दे प्रतिमा अभिराम !
साधु महोदय चल दिए—कह जय राधेश्याम !!
मीरा के मन में उठी अनुपम हर्ष हिलोर !
निरख-निरख घनश्याम को नाच उठा मनमोर !!

"मोहन, हे मेरे मनमोहन, क्यों मुझसे मुखड़ा मोड़ा था ?
क्यों अपनी इस चिरदासी को रोता ही तुमने छोड़ा था ?
मैं जन्म-जन्म से सरिता सम मिलने को बढ़ती आती हूं ।
मेरे अनन्त सागर, लेकिन तुममें न कभी मिल पाती हूँ ॥
अब प्रेम डोर से बाँध तुम्हें—हत्तल के मध्य बिठाऊँगी ।
भागोगे ? भागोगे कैसे ? जब नयनों बीच रमाऊँगी ॥

जिस प्रतिमा में व्याप्त था मीरा का संसार ।
जिस बिन जीवन भी उसे लगता था निस्सार ॥
उसी मूर्ति को मानकर अपना प्राणाधार ।
नित उसकी छवि पर- लगी होने वह बलिहार ॥
निर्जन में अपने गिरिधर से वह अपने मन की कहती थी ।
नित मनमोहन के ध्यान बीच—खोई-खोई-सी रहती थी ॥
सखियाँ कर विधिविधि से सिंगार उससे मिलने को आती थीं ।
दिखला दिखला गहने-कपड़े उसके मन को ललचाती थीं ॥
पर, जग का कोई आडम्बर उसको न तनिक भी भाता था ।
रह-रह मोहन का पीताम्बर आँखों के बीच समाता था ॥
मनमोहन के मनमोहन को मनमोहक नृत्य दिखाती थी ।
करने को मन की व्यथा व्यक्त प्रायः वह पद्य सुनाती थी ॥
नित्यप्रति प्रभु की मूरति को वह अपने गीत सुनाती थी ।
निज नयनों के निर्मल मोती चरणों में भेंट चढ़ाती थी ॥
'मोहन'—'मोहन' की किसी समय जब टेर लगाती थी मीरा ।
सुननेवालों तक के उर में करुणा उपजाती थी मीरा ॥
आकर यदि कोई चतुर सखी—अहवाल सुनाती थी अपना ।
तब रो रो सिसक-सिसक मीरा यों हाल सुनाती थी अपना ॥

* गाना *

"आली री, मोरे नयनन बान पड़ी ।
चित्त मोरे साँवरी सूरत—उर-बिच आन गड़ी !
कब की ठाढ़ी पन्थ निहारूँ अपने भवन खड़ी ॥
कैसे प्राणपिया बिन राखूँ जीवनमूल-जड़ी ?
'मीरा' गिरिधर हाथ बिकानी लोग कहैं—बिगड़ी ॥"

—:o:—

इसी तरह बढ़ता गया—मीरा का उन्माद ।
प्रभु-पद-पद्म पराग का लगी चाखने स्वाद ॥
प्रियतम-प्रतिमा में सदा रहती थी लवलीन ।
निशिवासर हो रही थी अतिशय कृश और क्षीन ॥
अस्तव्यस्त, बने सदा काले-काले बाल ।
बतलाते थे सभी को उसके मन का हाल ॥
समझा-समझाकर हुई माता भी लाचार ।
किन्तु, न वह कुछ कर सकी—पुत्री का उपचार ॥
निज कन्या को देखकर व्याकुल और बेहाल ।
मन में चिन्तित हो उठे रत्नसिंह महिपाल ॥
सोचा—"कर दें शीघ्र ही इसका कहीं विवाह ।
शायद, यों कम होसके उर-अन्तर का दाह ॥"

राणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र श्रीभोजराज थे बलधारी ।
निज मातृभूमि चित्तौड़ उन्हें-प्राणों से ज्यादा थी प्यारी ॥
सब भाँति रूप-गुण-शील-पूर्ण राणा ने जब पाया उनको ।
तब मीरा से करने विवाह अपने घर बुलवाया उनको ॥

हर्षपूर्ण मेड़ता ने देखी वह प्रिय रात ।
सज-धज कर मेवाड़ से आपहुँची बारात ॥
रणबाँके सीसोदिये उधर बने मेहमान ।
इधर उठे राठौरगण करने को सम्मान ॥
स्वागत में घर-घर बँधे तोरण वन्दनवार ।
मानो खुद सत्कार ही करता है सत्कार ॥

ब्राह्मण वेदध्वनि करते हैं, वेदी पर शोभा छाई है ।
मागध, चारण, वन्दीगण ने 'जय-जय' की झड़ी लगाई है ॥

शोभित है वर तो—पर, कन्या ? देती न कहीं दिखलाई है ।
इस अवसर पर भी, भला कहाँ मीरा ने देर लगाई है !!
वह—अरे ! सामने-मन्दिर में—वह ही तो मीराबाई है ।
गिरकर गिरिधर के चरणों में जिसने सुधि-बुधि बिसराई है ॥
है कौन दूसरी रमणी यह ? जो उसी ओर को जाती है ?
यह तो मीरा की जननी है, इस तरह उसे समझाती है ॥

* गाना *

"विवाह की शुभ घड़ी को तू—यहाँ बैठे बिताती है ?
अभी तक इन निकम्मी मूर्तियों ही को सजाती है ?
वहाँ बारात वर के साथ बैठी लग्नमण्डप में !
यहाँ तू अपने मोहन से लगन अपनी लगाती है !!
वे जीते-जागते गिरिधर तेरे वेदी पै बैठे हैं ।
फिर इन प्रतिमा के गिरिधर को तू क्यों मस्तक झुकाती है ?
सयानी हो चली है तू—नहीं नादान बच्ची अब ।
क्यों राणाकुल के भूषण को न निज भर्ता बनाती है ?
सदा भर्ता की सेवा ही उचित है आर्यनारी को ।
भटक निज धर्म से क्यों व्यर्थ ही जीवन गिराती है ?
ऐ मेरी लाड़ली, हठ—हर समय शोभा नहीं देती ।
अधिक देरी लगाई तो—पिता की लाज जाती है ॥"

:०:—

मीरा ने निज मात से कहा नवाकर माथ ।
"मेरे तो भर्तार हैं ब्रजवल्लभ, ब्रजनाथ ॥
क्षत्रियबालायें एक बार—वरदायक वर को वरती हैं ।
अपना मन-सुमन एक ही के चरणों में अर्पण करती हैं ॥
मैंने भी बालकाल से गिरिधारी ही को अपनाया है ।
जीवन का साथी मान, उन्हें—तन मन के बीच रमाया है ॥

इसी तरह बढ़ता गया—मीरा का उन्माद ।
प्रभु-पद-पद्म पराग का लगी चाखने स्वाद ॥
प्रियतम-प्रतिमा में सदा रहती थी लवलीन ।
निशिवासर हो रही थी अतिशय कृश और क्षीन ॥
अस्तव्यस्त बने सदा काले-काले बाल ।
बतलाते थे सभी को उसके मन का हाल ॥
समझा-समझाकर हुई माता भी लाचार ।
किन्तु, न वह कुछ कर सकी—पुत्री का उपचार ॥
निज कन्या को देखकर व्याकुल और बेहाल ।
मन में चिन्तित हो उठे रत्नसिंह महिपाल ॥
सोचा—"कर दें शीघ्र ही इसका कहीं विवाह ।
शायद, यों कम होसके उर-अन्तर का दाह ॥"

राणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र श्रीभोजराज थे बलधारी ।
निज मातृभूमि चित्तौड़ उन्हें-प्राणों से ज़्यादा थी प्यारी ॥
सब भाँति रूप-गुण-शील-पूर्ण राणा ने जब पाया उनको ।
तब मीरा से करने विवाह अपने घर बुलवाया उनको ॥

हर्षपूर्ण मेड़ता ने देखी वह प्रिय रात ।
सज-धज कर मेवाड़ से आपहुँची बारात ॥
रणबाँके सीसोदिये उधर बने मेहमान ।
इधर उठे राठौरगण करने को सम्मान ॥
स्वागत में घर-घर बँधे तोरण वन्दनवार ।
मानो खुद सत्कार ही करता है सत्कार ॥

ब्राह्मण वेदध्वनि करते हैं, वेदी पर शोभा छाई है ।
मागध, चारण, वन्दीगण ने 'जय-जय' की झड़ी लगाई है ॥

शोभित है वर तो–पर, कन्या ? देती न कहीं दिखलाई है ।
इस अवसर पर भी, भला कहाँ मीरा ने देर लगाई है !!
वह–अरे ! सामने-मन्दिर में–वह ही तो मीराबाई है ।
गिरकर गिरिधर के चरणों में जिसने सुधि-बुधि बिसराई है ॥
है कौन दूसरी रमणी यह ? जो उसी ओर को जाती है ?
यह तो मीरा की जननी है, इस तरह उसे समझाती है ॥

❀ गाना ❀

"विवाह की शुभ घड़ी को तू–यहाँ बैठे बिताती है ?
अभी तक इन निकम्मी मूर्तियों ही को सजाती है ?
वहाँ बारात वर के साथ बैठी लग्नमण्डप में !
यहाँ तू अपने मोहन से लगन अपनी लगाती है !!
ये जीते-जागते गिरिधर तेरे वेदी पै बैठे हैं ।
फिर इन प्रतिमा के गिरिधर को तू क्यों मस्तक झुकाती है ?
सयानी हो चली है तू–नहीं नादान बच्ची अब ।
क्यों राणाकुल के भूषण को न निज भर्ता बनाती है ?
सदा भर्ता की सेवा ही उचित है आर्यनारी को ।
भटक निज धर्म से क्यों व्यर्थ ही जीवन गिराती है ?
ऐ मेरी लाड़ली, हठ—हर समय शोभा नहीं देती ।
अधिक देरी लगाई तो—पिता की लाज जाती है ॥"

:०: —

मीरा ने निज मात से कहा नवाकर माथ ।
"मेरे तो भर्तार हैं व्रजवल्लभ, व्रजनाथ ॥
क्षत्रियबालायें एक बार—वरदायक वर को वरती हैं ।
अपना मन-सुमन एक ही के चरणों में अर्पण करती हैं ॥
मैंने भी बालकाल से गिरिधारी ही को अपनाया है ।
जीवन का साथी मान, उन्हें–तन मन के बीच रमाया है ॥

अब तुम्हीं बताओ- दूजे से क्योंकर सम्बन्ध बढ़ाऊँ मैं ?
उर तो है एक, दूसरे को कैसे उसमें बिठलाऊँ मैं ?
ऐसे वर को क्या करूँ जन्मे और मर जाय ।
वर वरिए गोपाल जी जन्म सफल हो जाय ॥ (मीरा)
माँ, करना प्रेम कन्हैया से तुमने ही तो सिखलाया था ।
मेरे पति हैं गिरिधर गोपाल, यह तुमने ही बतलाया था ॥
अब मुझसे क्या अपराध हुआ, जो मेरी प्रीति छुड़ाती हो ?
वर्षों की कठिन साधना का क्षण में अस्तित्व मिटाती हो ॥"
माँ बोली-"गोपाल तो सबके प्राणाधार ।
समझ जगत् की दृष्टि से राणा को भर्तार ॥
सामाजिक रीतों में मीरे, मनमानी करना अनुचित है ।
कुल की यों हँसी कराने पर अपना अनहित ही अनहित है ॥
क्या बीत रही है मेरे ऊपर-यह कैसे तुझको बतलाऊँ ?
किस तरह कलेजा चीर अपना-अपनी मीरा को दिखलाऊँ ?
आँसुओं की माता के देखो, बच्चों की हठ छोड़ो बेटी !
चलकर राणा कुलभूषण से अपनी गाँठें जोड़ो बेटी ॥"
आकुलता लख मात की-मीरा हुई अधीर ।
बोली-"नयनों से न यों अम्ब, बहाओ नीर ॥
उपजा है तुमसे जननि, यह शरीर साकार ।
अतः तुम्हारा सर्वथा है इस पर अधिकार ॥
अब मुझको आदेश है माता का स्वीकार ।
चाहे जिसको सौंप दो-मेरी देह असार ॥
किन्तु, रहेगा मन सदा मनमोहन के साथ ।
नाथ रहेंगे सर्वदा वे ही ब्रज के नाथ ॥"

यह कह, मीरा ने किया—वेदी को प्रस्थान ।
छुपे हुए थे हृदय में,—हृदयेश्वर भगवान ॥
शास्त्रोक्त रीति से पूर्ण हुईं—रस्में विवाह की जब सारी ।
राणा जी ने की विदा सुता—प्राणों से प्यारी सुकुमारी ॥
छोड़ा मीरा ने पितृगेह छोड़ी चिर परिचित फुलवारी ।
छोड़े निज मात-पिता रोते, छोड़ीं रोती सखियाँ सारी ॥
पर, छोड़ न सकी हाय! प्रेमिनि, मनमोहन गिरिवरधारी को ।
ले चली साथ में श्वशुरालय—अपने उन श्यामविहारी को ॥
रत्नों-वस्त्रों की दौलत जब—रुखसत पर बांधी जाती थी—
तब मीरा उधर पिटारी में निज गिरिधर को अपनाती थी ॥
मारग में भी पूजा करती, विधिपूर्वक भोग लगाती थी ।
जगती तब उन्हें जगाती थी, सोती तब उन्हें सुलाती थी ॥
यद्यपि गढ़ चित्तौड़ था—सब सुख का भण्डार ।
मीरा का उन सुखों से—था न कुछ सरोकार ॥
जिस आश्रम में सुख और वैभव- मनमोहक दृश्य दिखाते हैं ।
यौवन की मदिरा पी-पीकर जिस आश्रम में इठलाते हैं ॥
जिस आश्रम की पावन महिमा पुनि-पुनि ऋषियों ने गाई है ।
करने प्रवेश उस आश्रम में—आई अब मीराबाई है ॥
पर, क्या गृहस्थ के जादू ने उसपर अधिकार जमाया है ?
क्या दुनियावी सुख-स्वप्नों ने मीरा का चित्त लुभाया है ?
जी नहीं, पूर्ववत् ही वह तो अपने मोहन की योगिनि है ।
श्री भोजराज को पाकर भी विरहिनि है और वियोगिनि है ॥
निशि-दिन रहता था उसे गिरिधर ही का ध्यान ।
गिरिधर ही के सामने गाती—थी यों गान ॥

※ गाना ※

"दीनानाथ, दयानिधि स्वामी, कौन जतन कर तुम्हें रिझाऊँ ?
गङ्गा तुम्हारे पग सों निकसी, शुद्ध नीर मैं कहाँ से लाऊँ ?
अनहद बाजे बजैं तिहारे, झाँझ शंख मैं कहा बजाऊँ ?
कोटि भानु एक नख की शोभा, दीप कहा मैं तुमहिं दिखाऊँ ?
चार वेद तो तुमने भाखे, कहा स्वामि मैं गाय सुनाऊँ ?
लक्ष्मी दासी है चरणन की, द्रव्य कौन-सा तुमहिं चढ़ाऊँ ?
सारी वसुधा नाथ तिहारी, अपनी कर मैं कहाँ से लाऊँ ?
'मीरा' के प्रभु गिरिधरनागर, जन्म-जन्म की दासी कहाऊँ ?'

—:०:—

भोजराज के हो चले सकल मनोरथ छार।
पा न सका वह तनिक भी प्राणप्रिया का प्यार॥
जीवनसहचरी बनाने को—उसने जिसको अपनाया था।
कल्पनाजगत् में नित्य नए अरमानों को उपजाया था॥
उस भार्या को अपनाकर भी भर्ता सूनापन भर न सका।
क्षणभर भी दो दो बातें वह अपनी मीरा से कर न सका॥
प्रस्ताव प्रेम का लेकर वह—जब मीरा के ढिंग जाता था—
तो उसके हृतल पर शासन मनमोहन का ही पाता था॥
सम्मुख ही उसके प्रेमसिन्धु लहराता था उमड़ाता था।
पर एक बूंद भी उसमें से वह प्यासा कभी न पाता था॥
एक दिवस कह ही दिया—"प्रिये सुनो तो बात।
तुम हरि ही के ध्यान में रहती हो दिन रात॥
बीते हैं कितने वर्ष किन्तु, मुखर न प्रेम दिखलाया है।
क्षणभर को भी यह घायल मन तुमने न कभी बहलाया है॥
इस आकुल मन की कथा तुम्हें जब कभी सुनाने आता हूं—
तो बीन तुम्हारे और अपने मोहन को हायल पाता हूँ॥

इस रूपशिखा का पर्वाना बनकर इस पर मँडराता हूँ ।
पर, प्रिये तुम्हारे हृदय-मध्य-में ठौर न तिलभर पाता हूँ ॥
इस चिर अशान्ति कीज्वाला में कबतक मुझको झुलसाओगी ?
अपने इस प्रेम-पुजारी को क्या नहीं कभी अपनाओगी ?"

मीरा बोली–"क्यों मुझे लज्जित करते नाथ ?
पति-चरणों में नित्य ही झुका है मेरा माथ ॥

माँ बाप ने करके देह-दान यह हाथ तुम्हें पकड़ाया है ।
मैंने शरीर के नाते से–तुमको ही स्वामि बनाया है ॥
पर, मन की बात छोड़ दीजे वह तो गिरिधर की सम्पति है ।
गिरिधर-राणा से भी पहले-मीरा का बना प्राणपति है ॥
जिस पावन प्रेमपुरी के तुम मुँह से बनते हो अधिकारी ।
पहले ही निज अधिकार जमा बैठे हैं उस पर गिरिधारी ॥
इसलिए-बनो तुम भी उनके, उर-व्यथा न रहने पायेगी ।
तुम भी गिरिधरगोपाल भजो तो चिर अशान्ति मिट जाएगी॥"

राणा–उर में इस तरह जगे भक्ति के भाव ।
मीरा के दृढ़ प्रेम का पड़ा महान प्रभाव ॥

मीरा की भाँति भोज भी अब–गिरिधर पर जाते वारी थे ।
पर, उनकी पूजा करके भी-मीरा के प्रेम-पुजारी थे ॥
मीरा का रङ्ग एक ही था, यह रङ्ग दुरङ्गा रखते थे ।
गिरिधर की पूजा करते थे मीरा को देखा करते थे ॥

एक रात निज सामने-रख गिरिधर गोपाल ।
नाची मीरा प्रेम से — बजा-बजा करताल ॥
इतने में आए वहाँ—भोजराज बलधाम ।
बेन्द होगया तब तलक–उसका नृत्य ललाम ॥

केवल सुनली उन्होंने नूपुर की झनकार ।
किन्तु, न लोचन लख सके वह मोहक व्यापार ॥
एक झलक, बस एक ही, एक झलक की रेख !
किसी तरह उस नृत्य को वे भी सकते देख !!
इसी झलक का हृदय में लिए हुए अरमान ।
मीराजी से इस तरह बोले भोज सुजान ॥

"हे प्रिये, अभी पल भर पहले- आवाज नाच की आती थी ।
बूँदों बूँदों में अमृतसिन्धु - नूपुर-बदली बरसाती थी ॥
मैं क्षण भर भी वह नृत्य देख, अपने को पुलकित कर न सका ।
रस के सागर से-नयनों में-हा एक बूँद भी भर न सका ॥
दिखलादो, देवी, एक बार, फिर नृत्य अनोखा दिखलादो ।
मेरे जीवन के तरु में भी वह अमृत पियाला ढुलकादो ॥

मीरा उस क्षण मुग्ध थी गा गिरिधर का गान ।
भोजराज के अङ्क में गिरी गँवाकर ज्ञान ॥

बोली-"हे नाथ, नृत्य मेरा लख सकते फकत बिहारी हैं ।
उनके ही लिए सुरक्षित यह, वे ही इसके अधिकारी हैं ॥
उनके अतिरिक्त और कोई - यह भेंट नहीं ले सकता है ।
बस, एक उन्हीं के चरणों में उपहार रूप यह चढ़ता है ॥"

राणा बोले-'धन्य है- तेरा प्रेम अनन्य ।
तुझे प्राप्त कर होगया राणाकुल भी धन्य ॥

मैंने माना मनमोहन ही केवल उसका अधिकारी है ।
पर, क्षणभर उसे निरखने की लालसा मुझे भी भारी है ॥
तुम चाहो तो इस भिक्षुक की आशा पूरी कर सकती हो ।
स्वर्गीय नृत्य की तनिक भीख दृग् झोली में भर सकती हो ॥"

मीरा बोली—"नृत्य से करो न इतना प्यार ।
अतिशय मँहगा पड़ेगा तुमको यह व्यापार ॥"
भोजराज बोले—"प्रिये हूँ सब विध तैयार ।
धन, दौलत, तन, प्राण भी दूँगा इसपर वार ॥
माँगो मीरे, माँग लो, जी चाहा वरदान ।
पलभर के इस नृत्य पर है सब कुछ कुर्बान ॥"
मीरा बोली—"नाथ, फिर कर लो सोच-विचार ।
हो न जाय प्रण-पालना कहीं तुम्हें दुश्वार ॥"
वे बोले—"सीसोदिया कुल की है यह आन ।
प्रण जा सकता है नहीं जायें चाहे प्रान ॥"
तब मीरा कहने लगी—"अच्छा, सुनिए नाथ !
करती हूँ कुछ प्रार्थना—तुम्हें नवाकर माथ ॥
अब तलक तुम्हारी सेवा भी कुछ अधिक न मैं कर पाई हूँ ।
बचपन से अपने गिरिधर पर आकर्षित होती आई हूँ ॥
अब भी ख्वाहिश है एक यही, इच्छा है यही भिखारिन की ।
गिरिधर-चरणों पर चढ़ जाए बस अन्तिम भेंट पुजारिन की ॥
माँ बाप ने जैसे अर्पण की—तुमको यह मेरी काया है ।
निज वस्तु समझ; राणाकुल की—ज्यों मुझको भेंट चढ़ाया है
त्योंही तुम भी इस मीरा को अब गिरिधर के अर्पण करदो ।
अपनी पूजा का पुष्प समझ; मोहन के चरणों में धरदो ॥
पत्नी का भाव—सदा ही को—दिल से निकाल दो राणा जी ।
गिरिधर की शरण—हमेशा को बस मुझे डाल दो—राणा जी ॥
पत्नी न समझ, जब गिरिधर की दासी मुझको समझोगे तुम—
तो मेरा वह एकान्त नृत्य, राणा जी, देख सकोगे तुम ॥"

मीरा के यह वचन सुन—हुए भूप बेहाल ।
उर-अन्तर में वेग से धधक उठी एक ज्वाल ॥
करता था उनका हृदय—पत्नी से अनुराग ।
कैसे सकते थे भला इस विध उसको त्याग ?
सह न सके वह धकधक यह वियोग-प्रस्ताव ।
व्यथित हृदय में हो चला उनके गहरा घाव ॥
पड़ी बीच ही में- रही 'नृत्यदरस' की बात ।
भोजराज का होगया कुछ दिन मे तनपात ॥
हाय ! नृत्य की झलक के, अरे, जले अर्मान ।
आखिर लेकर ही रहा—तू राणा के प्रान ॥
भोज समझ पाए नहीं, मीरा का इनकार ।
सचमुच ही महँगा पड़ा उनको वह व्यापार ॥

अब लोकलाज का ध्यान छोड़, विह्वल होजाती थी मीरा ।
तन्मय होकर, मनमोहन को नित नृत्य दिखाती थी मीरा ॥
गूँजा करता था देवालय नित उसकी मादक तानों से ।
उन मीठे-मीठे गानों से, मनमोहन के अफसानों से ॥
हरिभक्त, वैष्णव, साधु, सन्त, उसके मन्दिर में आते थे ।
कीर्तन की ध्वनि ऐसी उठती, सब दिग्दिगन्त हिल जाते थे ॥

❀ गाना ❀

"म्हारे जनम मरण के साथी, थानें नहिं बिसरूं दिनराती ।
ऊँची चढ़-चढ़ पन्थ निहारूँ, सुनियो सजन सँघाती ।
तुम देख्यां बिन कल न पड़त है जानत म्हारो छाती ॥
पल-पल थारी छवि निहारती, निरख-निरख सुख पाती ।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, चरणन में चढ़ जाती ॥

मिले भोज के बाद अब–'विक्रम' को अधिकार ।
वे—मीरा के ढङ्ग से- हुए बहुत बेज़ार ॥
पुरुषों में हरिकीर्तन करना–क्षणभर भी उन्हें न भाता था ।
मीरा दुष्टा है, यही भाव, अन्तर में जमता जाता था ॥
फिर राजकर्मचारी भी तो उस ज्वाला को भड़काते थे ।
नित नई कथाएँ गढ़-गढ़कर राणा के लिए सुनाते थे ॥
आज्ञाएँ आने लगीं–अब- मीरा के पास ।
किन्तु न मीरा ने तजा सन्तों का सहवास ॥
आखिर विक्रम एक दिन–करके लोचन लाल ।
बोले "मीरा, गही है—तूने टेढ़ी चाल ॥
हम ख़ूब समझते हैं-तूने-जैसा यह स्वाँग रचाया है ॥
अपने भी लिए गिराया है, कुल को भी दाग़ लगाया है ॥
आखिरी मर्तबा कहता हूँ, यह ढङ्ग न छोड़ेगी अपना —
तो जल्दी ही इस दुनिया से–नाता ही तोड़ेगी अपना ॥"
मीरा पर इस गरज का पड़ा न तनिक प्रभाव ।
भक्तिनदी के मध्य थी उसकी जीवन-नाव ॥
बोली "राणा, शान्त हो करलो भूल कबूल ।
दाग़ नहीं कुल में लगे कल्पवृक्ष के फूल ॥
पर-पुरुष समझ, जिन सन्तों को मीरा से दूर भगाते हो !
जिनके पावन चरित्र में तुम—मनमाने दोष लगाते हो ॥
उनको इन आँखों से देखो यह आँखें उन पर वारी हैं ।
वे सबके सब पुरुषोत्तम हैं, सबके सब श्यामविहारी हैं ॥
मीरा सत्सङ्ग साधुओं का–सर रहते छोड़ नहीं सकती ।
दुनिया से नाता टूट जाय, यह नाता तोड़ नहीं सकती ॥

❀ गाना ❀

मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई ।
दूसरा न कोई राणा, सकल लोक जोई ॥
भाई छोड़ा बन्धु छोड़ा छोड़ा सगा सोई ।
दधि मथ घृत काढ़ लियो, डार दई छोई ॥
अँसुवन जल सींच-सींच, प्रेम बेल बोई ।
फैल फूल बढ़न लागी, आनँद फल होई ॥
शङ्ख, चक्र, गदा पद्म, कण्ठ माल जोई ।
जाके सिर मोरमुकुट, मेरो पति सोई ॥
सन्तन ढिग बैठ बैठ लोक लाज खोई ।
अब तो बात फैल गई, जाने सब कोई ॥
भगत देख राज़ी हुई, जगत देख रोई ।
'मीरा' प्रभु लगन लागी, होनी हो सो होई ॥"

—०—

समझा-समझा थक गये—राणा विविध प्रकार ।
तब यह सोचा—"भक्तिनी का करदें संहार ॥"
विश्वासी मानव बुला, कहा—"सुनो धर ध्यान ।
आज सौंपता हूं तुम्हें—मैं—एक कार्य महान ॥
है मीरा की मृत्यु में—इस कुल का कल्यान ।
जाउ कराओ शीघ्र ही उसे हलाहल पान ॥"
विश्वासी ने उठा तो लिया गरल का पात्र ।
काँप उठा एक बारगी—लेकिन उसका गात्र ॥
मन में सोचा—"हुक्म को मैं सब विध तैयार ।
किन्तु भक्त की पालना—करते हैं कर्तार !"
मीरा से जाकर बोला वह—पाहन-सा हृदय कड़ा करके—
"चरणामृत भेजा है नृप ने—वृन्दावन से मँगवा करके ॥"

मीरा बोली—"तो क्या सचमुच-राणा हरि के आसक्त हुए ?
मैं धन्य हुई, मेरे रक्षक—मेरे गिरिधर के भक्त हुए॥"
यह कह चरणामृत लेने पर जब ध्यान दिया मीरा जी ने।
तो—"ठहरो, यह विष है भाभी", यह शब्द सुना मीरा जी ने॥
चौंकी मीरा सम्मुख देखा—'ऊदा चिल्लाती आती है।
'भाभी, ठहरो, भाभी, ठहरो'—यह टेर लगाती आती है॥

पलभर में मीरा-निकट 'ऊदा' पहुँची आन।
बोली—"भाई ने किया आज अनर्थ महान॥
खीज तुम्हारे ढङ्ग से हो अत्यन्त कठोर।
चरणामृत के नाम से भेजा है विष घोर॥
करती आई हूँ सदा जब मैं तुमसे प्यार।
होने देती किस तरह फिर यह अत्याचार ?
ज्ञात हुई जिस दम मुझे विक्रम की यह चाल।
तुम्हें बचाने के लिए दौड़ पड़ी तत्काल॥
देखो, खुद देखो इसे, मूर्तिमान् है काल।
झलक रही है नीलिमा इसमें अति विकराल॥"
मीरा भक्तिन ने कहा—"ऊदे न हो निरास।
यह चरणामृतनाम से आया मेरे पास॥

शङ्का है तुझे नीलिमा की तो ले मैं इसे मिटाती हूँ।
नीला क्यों है यह चरणोदक, इसका कारण समझाती हूँ॥
जब कालिन्दी जल मोहन के श्यामल चरणों को धोता है—
तो उनकी कुछ नीलिमा चुरा, वह भी तो नीला होता है॥
इस श्यामल जल में गिरिधर के चरणों ही की श्यामलता है।
इसमें और उन पदपद्मों में—लख पड़ती कितनी समता है॥

श्रीहरि के सबसे बड़े भक्त - श्रीमहादेव कहलाते हैं।
श्रीहरि-प्रसाद के नाम से वे क्यों गरलपान कर जाते हैं ?
यह तत्त्व नहीं समझोगी तुम, समझाना भी तो मुश्किल है।
साधारण जग को हरिलीला बतलाना भी तो मुश्किल है॥
तुम गरल अमृत कह रहीं जिन्हें, एक ही सिन्धु में रहते हैं।
फिर क्या कारण है सिन्धुराज सुखदुख न उनका सहते हैं ?
सूरत से तो सारे मनुष्य—एक ही भाँति बाहर से हैं।
लेकिन, अति अच्छे, अधिक बुरे, क्यों दीख रहे भीतर से हैं ?
भीतर की शक्ति लखोगी तो - यह बात समझ में आएगी।
उस गिरिधर को जब पालोगी तो सब शङ्का मिट जाएगी॥
कुल-अपयश है हरिभक्ति कहीं, पर सुकृत किसी को है वह ही।
है गरल-किसी के लिए गरल पर अमृत किसीको है वह ही॥
हो चाहे अमृत, गरल चाहे, एक ही ने उन्हें बनाया है।
मेरे आगे तो हरि का यह चरणामृत होकर आया है॥
कैसे हरिचर्णामृत त्यागूँ ? हरिनाम पै जब मैं जीती हूँ।
आगे-पीछे की वह जानें मैं तो यह प्याली पीती हूँ॥"

मीरा ने विषपात्र वह सादर लिया उठाय।
ऊदा कहती ही रही "भाभी ! भाभी ! हाय॥"
एक घूँट में कर गई वह भीषण विष-पान।
'जयगिरिधरगोपाल' कह, 'जयजगपति भगवान॥'
गरल अमृत ही होगया, धन्य प्रेम अनुरक्ति।
धन्य भक्त की भावना, धन्य भक्ति की शक्ति॥
मीरा कितनी भक्त थी, सही यही पहचान।
जान बूझकर विष पिया, किंतु न निकले प्रान॥

खुद मीरा ने ही लिखा इस घटना पर गीत ।
झलक ई है उसी ने स्वयं प्रीति की रीति ॥

* गाना *

"राना ज़हर दियो मैं जानी ।
जैसे कञ्चन दहत अगन में-होत अधिक छविखानी ।
गिरिधर हँसा स्वयं कर गये अलग दूध और पानी ॥
लोकलाज कुलकान जगत् की दी बहाय ज्यों पानी ।
अपने कुल का पर्दा करले, मैं अबला बौरानी ॥
तरकश तीर लगो मेरे हियरे में हरि हाथ बिकानी ।
'मीरा' प्रभु गिरिधर भजिबे को—सन्तचरण लिपटानी॥"

—:o:—

विश्वासी से जब सुना विक्रम ने सब हाल ।
उर अन्तर में क्रोध की बढ़ी और भी ज्वाल ॥
सोचा—"भेजूँगा अभी महाभयङ्कर व्याल ।
देखूँ, रक्षा करेंगे—कैसे गिरिधरलाल ॥"
यही हुआ, भेजा वहाँ उसने काला नाग ।
क्रोध राक्षस इस तरह उठा यकायक जाग ॥
बन्द पिटारी में गया—जब वह विष का धाम ।
पूछा "क्या है"? तो कहा—'है यह शालग्राम ॥
मीरा भक्तिनि ने किया उससे भी अनुराग ।
नाच नाच गाने लगी वह अपना यह राग ॥

* गाना *

डब्बे में शालग्राम, बोलत काहे नहियाँ ।
हम बोलत तुम बोलत नाहीं काहे ली मौन गुसइयाँ ॥
यह भवसागर अगम बढ्यो है काढ़ि लेउ गह बहियाँ ।
'मीरा' के प्रभु गिरिधरनागर, चरणकमल लिपटइयाँ'

—:o:—

यह भी खाली होगया-राणा जी का वार ।
बना भयङ्कर व्याल वह मौलसिरी का हार ॥
मीरा ने उस मृदुमाला से-मनमोहन का शृङ्गार किया ।
कुछ सुमनों से कुछ भावों से निज प्रियतम का सत्कार किया ॥
बोली-"हे जीवनधन, तुमने अपनी भक्तिन को मान दिया ।
इस जन्म-जन्म की दासी को सचमुच अमरत्व प्रदान किया ॥
पर गिरिधर, निज साकार रूप, तुमने न अभी दिखलाया है ।
मुरली का कोई मादक स्वर, सम्मुख आ नहीं सुनाया है ॥
युग युग से दर्शन की खातिर, यह दोनों आँख तरसती हैं ।
सावन-भादों की सी झड़ियाँ इनसे दिनरात बरसती हैं ॥
करुणाकर, अपनी दासी पर बस अब इतनी करुणा करदो ।
प्रत्यक्ष दरश देकर मुझको, पूरी मन-अभिलाषा करदो ॥

❀ गाना ❀

म्हाने चाकर राखो जी, गिरिधरलाल, चाकर राखो जी ।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठि दर्शन पासूँ ।
वृन्दावन की कुञ्ज गलिन में, तेरी लीला गासूँ ॥
म्हाने चाकर राखो जी ॥ १ ॥
हरे हरे नित बन्न बनाऊँ, बिच बिच राखूँ क्यारी ।
साँवरिया के दर्शन पाऊँ पहन कुसुमी सारी ॥
म्हाने चाकर राखो जी ॥ २ ॥
जोगी आया जोग करन कूँ तप करिबे सन्यासी ।
कृष्ण-भजन को ग्वाला आया, वृन्दावन का बासी ॥
म्हाने चाकर राखो जी ॥ ३ ॥
मीरा के प्रभु गहिर गंभीरा, सदा रहे हो धीरा ।
आधी रात अब दर्शन दीजो, प्रेम-नदी के तीरा ॥
म्हाने चाकर राखो जी ॥ ४ ॥

—:o:—

मीरा के दृढ़ प्रेम पर रीझ गए घनश्याम ।
कहते हैं—आने लगे वे मीरा के धाम ॥
अर्ध निशा में एकदिन राणा के कुछ दास ।
बोले—"कोई इस समय है मीरा के पास ॥
बाहर से हमने सुना—किसी पुरुष का बोल ।
चलो, आज खुल जायगी—भक्तिन की सब पोल ॥"
सुनते ही, विक्रम उठे—ले नंगी तलवार ।
पहुंच गए तत्काल ही मीरा जी के द्वार ॥
सुना सभी ने ध्यान से—लगा-लगाकर कान ।
धीमी-धीमी आरही थी मुरली की तान ॥
मीरा भी कह रही थी—"जय-जय कृष्णकुमार ।"
नाथ, लगाई किसलिए तुमने इतनी बार ?"
बोले विक्रम रोष से—"जरा खोल तो द्वार ।
मैं भी देखूँ ! कौन है तेरा कृष्णकुमार ॥
चौंकी मीरा धरा पर टूट गिरा वह द्वार ।
गरजे राणा, "कहाँ है तेरा कृष्णकुमार ?"

मीरा ने कहा—"सभी दिशा तो मेरे ही श्यामबिहारी हैं ।
इन आँखों में वे ही नर हैं, बाकी जो भी हैं नारी हैं ॥
तुम पूछ रहे हो, कहाँ हैं वे ? अब वे मनमोहन चले गए ।
अबतक तो सम्मुख थे मेरे, पर अब वृन्दावन चले गए ॥
राणा जी तुमसे एक विनय अब हाथ जोड़कर करती हूँ ।
अपराध क्षमा करना मेरे, मैं चरणों में शिर धरती हूँ ॥
इस रोज रोज के झगड़े को खुद ही मैं आज चुकाती हूँ ।
तुम राज करो महाराज यहाँ, मैं तो वृन्दावन जाती हूँ ॥

❀ गाना ❀

गिरिधर के घर जाऊँ; राणा जी मैं तो गिरिधर के घर जाऊँ।
मेरी उनकी प्रीति पुरानी, उन बिन पल न रहाऊँ।
जहाँ बिठावें तहाँ ही बैठूँ, जहाँ कहें बिक जाऊँ॥
जो पहरावें सोई पहरूँ, जो दें सोई खाऊँ।
"मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर देखत रूप लुभाऊँ॥'

—o—

खोज-खोजकर हर तरफ विस्मय हुए हताश।
किन्तु, न पूरी हो सकी उनके मन की आश॥
पाठकों, लिखें हम आगे क्या ? इस जगह लेखनी हारी है।
भगवान्-भक्त की गाथा में; शारद तक को लाचारी है॥
गिरिधर आते थे—या मीरा ख़ुद गिरिधरमय होजाती थी।
कुछ हो, हम इतना कहते हैं—मीरा मोहन को पाती थी॥
इस घटना के भेद को समझ न सके नृपाल।
बोले—"मीरे, है तेरी इसमें कोई चाल॥
आते हैं तेरे निकट यदि तेरे भगवान।
वह सुनाते हैं तुझे यदि वँशी की तान—
तो क्यों दिखलाते नहीं वे मुझको दीदार ?
देख रहा हूँ हर तरफ मैं भी आँख पसार॥"
मीरा ने कहा—"उधर देखो पलके पर मोहन पौढ़े हैं।
क्या ख़ूब फबीला पीताम्बर अपने काँधे पर ओढ़े हैं॥
यह प्रेमपियासे भक्तों को वंशी की तान सुनाते हैं।
पर भक्ति-विहीन मनुष्यों को नित भीषण रूप दिखाते हैं॥
इनमें ही अमृत गरल सब है, है माला यह और व्याल यही।
सन्तो के नित प्रतिपाल यही, दुष्टो को प्रतिक्षण काल यही॥

❀ गाना ❀

"आए आए जी हमारे महाराज आए, निज भक्त के काज बनाए ।
तज वैकुण्ठ तज्यो गरुडासन, पवनवेगि उठि धाए ॥
जब ही दृष्टि पड़े नँदनन्दन, प्रेमभक्ति-रस प्याए ।
'मीरा' के यह लोभी नयना, चरणकमल उलझाए ॥"

—ः—

राणा आगे को बढ़े, गए पलँग की ओर ।
खींच लिया यकबारगी—पीताम्बर का छोर ॥

पीताम्बर हटते ही इनकी तन-मन की सुधि-बुधि विसराई ।
वह सर्प पिटारीवाला ही बस पड़ा नृपति को दिखलाई ॥
मीरा ने कहा—"चलो राणा यह ही तो मुरली वाला है ।"
राणा ने कहा—"पिटारी का यह तो वह विषधर काला है !!"
मीरा बोली—"क्या कहते हो ? यह साँवलशाह रँगीला है ।"
राणा ने कहा—"नहीं मीरा, यह वही साँप जहरीला है ॥"
श्रोताओ, है विचित्र गाथा, जो कुछ भी है, कमाल है वह ।
मीरा को जो सामलिया है, राणा के लिए व्याल है वह ॥

राणा ने सोचा अरे ! बढ़ी यहाँ तक बात ।
जादू-टोनों से लगी करने यह उत्पात ॥
इस घटना से और भी चिढ़ वह गया नृपाल ।
मीरा को चित्तौड़ से—आखिर दिया निकाल ॥
मीरा की खुद इस तरह पूर्ण होगई आस ।
वह तो चित से चाहती थी वृन्दावनवास ॥

❀ गाना ❀

"बसिबो वृन्दावन को नीको ।
घर-घर ठाकुर घर-घर तुलसी, दरस विहारी जी को ।
निर्मल नीर बहे यमुना को, भोजन दूध दही को ॥
रतनसिहासन आप विराजें-मुकुट मोरपंखी को !
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर भजन बिना नर फीको ॥"

—:o:—

वृन्दावन में और भी बढ़ा उग्र उन्माद ।
मीरा मतवाली हुई कर कर हरि की याद ॥
गहरी कदम्ब की छाया में ढूँढा उसने बनवारी को ।
उन श्यामल श्यामल कुञ्जों में खोजा निज श्यामविहारी को ॥
घाटों घाटों में-प्यारे के दर्शन को दौड़ी जाती थी ।
हाटों बाटों की रज तक को आदर से हृदय लगाती थी ॥
व्रज की गौओं को-ग्वालों को वह अपने निकट बुलाती थी ।
पहरों उन सबको निरख निरख नयनों से नीर बहाती थी ॥
कहती थी-"व्रजवालो, तुमने एक मुरलीवाला देखा है ?
टुक तिर्छी सी चितवनवाला एक कमलीवाला देखा है ?
आता था कभी इसी पथ से, इन दिनों न क्या वह आता है ?
बतलाओ तो-गौएँ लेकर किस ओर भला वह जाता है ?'
"कालिन्दी, प्यारी कालिन्दी, प्यारे मनमोहन की प्यारी !
तूही बतला दे, देखा है क्या तूने वह गिरिवरधारी ?'
इन प्रश्नों का पर उसे उत्तर देता कौन ?
रह जाते थे चर-अचर सःघ साधकर मौन ॥

मीरा मतवाली दर्शन को—मन्दिर में कहीं जो जाती थी—
तो 'राधावर' 'राधावल्लभ' 'राधामोहन' को पाती थी ॥
'श्रीराधेश्याम' हर जगह ही उसको दिखलाई पड़ते थे ।
पर अपने श्रीगिरिधर नागर व्रजभर में उसे न मिलते थे ॥
वृन्दावन के मनमोहन तो राधा के प्रेम-पुजारी हैं ।
मीरा ने देखा-यहाँ नहीं, मीरा के गिरिवरधारी हैं ॥
"जब अपने मोहन नहीं यहाँ तो रहकर भी क्या करना है ?"
आखिर यह सोचा-"इससे तो अच्छा इस व्रज में मरना है ॥"

विरह-व्यथा में एक दिन होकर विकल अधीर ।
मीरा बढ़ती ही गई कालिन्दी के तीर ॥
परिचित सा तब शब्द एक-आया उसके पास ।
"बेटी, बेटी, खो न यूँ—अन्तर से विश्वास ॥

मीरा ने देखा-शब्द नहीं, अमरत्व यकायक आया है ।
नैराश्य तिमिर में-सद्गुरु ने-आशा का दीप जलाया है ॥
पहचान लिया, दौड़ी, पहुँची-"गुरुदेव, तुम्हीं हो सुखकारी ।
तुमने ही मुझको बचपन में सौंपे थे अपने गिरिधारी ॥
क्या गिरिधर स्वयं तुम्हीं हो ? जो 'हरिदास' रूप में आए थे ।
मुझको गिरिधर की मूर्ति सौंप; व्रज में फिर आन समाए थे ॥
अच्छा, वह ही हो मनमोहन, तो मनमोहन ही बन जाओ ।
काली कमलीवाला अपना—वह ग्वाल रूप तो दिखलाओ ॥"

मीरा का यह प्रेम लख हँस बोले हरिदास ।
"बेटी, तुमको भेजता हूँ अब हरि के पास ॥

यह वृन्दावन श्रीजी का है, मीरा का है यह धाम नहीं ।
'राधावर' यहाँ मिलेंगे नित, पर मीरा के घनश्याम नहीं ॥

निज ठाकुर से मिलना है तो द्वारका पधारो हे देवी !
'रणछोड़' रूप में वहाँ हैं वे, बस वहीं सिधारो हे देवी !
आशीर्वाद यह मेरा है तुम वहाँ श्याम को पाओगी ।
प्यारे के चरणों में गिरकर प्यारे में लय हो जाओगी ॥
अच्छा जाओ जाओ मीरे; अमरत्व सदा को प्राप्त करो ।
सच्चे नरपति को पाकर तुम—नरलीला वहीं समाप्त करो ॥"

पथ-बाधा का हृदय में किया न तनिक विचार ।
मीरा चल दी द्वारिका पाने पिय का प्यार ॥
अब सुनिए मेवाड़ की कुछ थोड़ी सी बात ।
मीरा-बिन उस देश में शुरू हुए उत्पात ॥

अत्यन्त विकट दुष्काल पड़ा, पत्ते तक सूख गये वन के ।
टुकड़े-टुकड़े को चीख उठे—बच्चे तक आँगन-आँगन के ॥
फल, शाक, अन्न क्या, घास नहीं, पशु-जीवन तक बेमानी था ।
पानी का इतना तोड़ा था, बस, आँखों ही में पानी था ॥
दूसरा कोप भी और चला—घर-घर में बीमारी फैली ।
कोई भी बचा नहीं जिससे, वह बड़ी महामारी फैली ॥
वैद्यों से औषध मिलना क्या, खुद वैद्य तलक बीमार हुए ।
राणा क्या करें उपाय वहाँ, जब राणा तक लाचार हुए ॥

रोकर ऊदा ने गहे निज भाई के पाँव :
"जिससे सुख था, उठ गई वह ही शीतल छाँव ॥

भैया, मीरा थी महाशक्ति, सच्ची श्रीहरि की भक्तिनि थी ।
थी पावन ज्योति मेड़ता की, मेवाड़ राज की जीविन थी ॥

तुम अब अपराधी हो उसके तो कैसे कोप न आएगा ?
ग़फ़लत में पड़े रहोगे तो मेवाड़ खत्म हो जाएगा ॥"

राणाजी को जँच गए-ऊदा के यह बैन ।
मीराजी की याद में सजल होगए नैन ॥
ठीक उसी क्षण गगन में घटा उठी एक आन ।
साफ हुआ दिल-तो क्षमा बोल उठे भगवान ॥
मीराजी की खोज को विक्रम चले तुरन्त ।
इधर कृपा मेवाड़ पर कर उट्ठे भगवन्त ॥
धीरे-धीरे देश में आने लगा सुकाल ।
बीमारी से भी बचे सभी वृद्ध और बाल ॥
राणा विक्रमसिंह ने ढूँढा सब ब्रजधाम ।
मीरा का दर्शन उन्हें मिला न कोई ठाम ॥
आखिर थककर होगए—जब वह भी लाचार ।
कहा किसी तब साधु ने—"याँ से जाउ सिधार ॥
इस श्रीजी के धाम में—क्या मीरा का काम ?
उसे देखना है अगर, जाउ द्वारकाधाम ॥"
यह सुनते ही प्रेम में होकर अधिक विभोर ।
राणाजी भी चलदिए—पुरी द्वारका ओर ॥
पहुँचे तो यह द्वारका, किन्तु, होगई वार ।
मीरा तबतक होचुकी थी भवनिधि से पार ॥
"मीरा! मीरा!!" कह जभी पहुँचे यह सस्नेह ।
चरणों में रणछोड़ के पाई खाली देह ॥
ब्रज की सब गोपी जहाँ—छोड़ चुकी हैं गात ।
है गोपी तालाब से—अब भी जो विख्यात ॥

वहीं कहीं पर देह भी वह होगई विलीन।
इस प्रकार भक्तिनि हुई हरि-चरणों में लीन॥
राणा ने इस विध दिया- निज चित को विश्राम।
वहीं बनाया कहीं पर-मन्दिर एक ललाम॥
'मीरा-मन्दिर' आज भी यादगार है खास।
भक्तों का आनन्द जो-सन्तों का उल्लास॥
यह तो निश्चय है-बड़े सबसे हैं भगवान।
पर, भक्तों का भी नहीं-कम कुछ जग में मान॥
हम तो अपने हृदय का रखते हैं उद्गार।
मीरा को हैं समझते राधा का अवतार॥
भक्तो, आओ प्रेम से लेना है यह नाम।
"जय गिरिधर गोपाल प्रभु, जय-जय राधेश्याम॥
भक्त और भगवान का लो अब मिलकर नाम।
यह ही कीर्तन हृदय को दे सच्चा विश्राम—

❀ गाना ❀

जय मीरा के 'गिरिधर नागर'—
जय तुलसी के 'सीताराम'॥
जय नरसी के सामलिया—
जय सूरदास के 'राधेश्याम'॥
जय कबीर के 'अलख निरञ्जन'—
गौरचन्द्र के 'हरि-हरि' नाम॥
सभी नाम हैं नारायण के—
भक्तों को देवे विश्राम॥

=❀ इति ❀=

राधेश्याम भक्तमाल

संख्या—१०

लेखक—

स्वर्णपदकादि प्राप्त

श्रीयुत सीताराम सेठ

कलकत्ता।

भक्त-अम्बरीष

सम्पादक—

नेपाल गवर्नमेण्ट से "कथावाचस्पति" की पदवीप्राप्त—

श्रीसंगीतकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—

पं० राधेश्याम कथावाचक

प्रकाशक—

पांचवीं बार २०००] सन् १९६० ई० [मूल्य ४४ नये पैसे

मुद्रक—पं० रामनारायण पाठक, श्रीराधेश्याम प्रेस, बरेली।

निवेदन

इस कथा के लिखने में मैंने कविरत्न—प० राधेश्याम जी कथावाचक के 'ईश्वर-भक्ति नाटक' से सहायता ली है।

चेष्टा तो की है कि कथा नाटक की प्रतिध्वनि हो, सफलता कहाँतक हुई है यह पाठकों के निर्णय पर है। यदि पाठकगण कुछ भी आनन्द का अनुभव करेंगे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

कलकत्ता } सीताराम सेठ

* प्रार्थना *

हे हरे, हे हरे, हे हरे, हे हरे!
अपने सेवक की सुधि लीजिए साँवरे॥
कमलावर, कमला-रमण, कमलापति, कमलेश।
हरिए अपने दास का मायाजनित क्लेश।
हे हरे, हे हरे, हे हरे, हे हरे॥
सरल, सलोने, सोहने, सुन्दर साँवलशाह।
करिए अपने दास पर अपनी मेहर निगाह।
हे हरे, हे हरे, हे हरे, हे हरे॥

—o—

कथा प्रारम्भ

श्रीगणपति का नाम ले, गुरुवर का धर ध्यान ।
अम्बरीष हरिभक्त का कहता हूं आख्यान ॥
पुरी अयोध्या के हुए श्रीनाभाग नरेश ।
जिनके शासन-काल में, रहा न किंचित् क्लेश ॥

इनकी ही पहली रानी के-सुत-अम्बरीष हरिभक्त हुए ।
संसारी सुख तजकर, केवल हरि-सेवा में अनुरक्त हुए ॥
इतना अनुराग बढ़ा हरि से, हरदम हरिनाम सुमरते थे ।
हरि-कीर्तन में कुछ विघ्न न हो, इसलिए विवाह न करते थे ॥
राजा की इच्छा प्रबल देख परवश होकर लाचारी से ।
कर लिया विवाह कटार भेज, पद्मा नामक सुकुमारी से ॥
दूसरी सुकेशी रानी का बालक मणिकान्त कहाता था ।
वह घोर नास्तिक था उसको ईश्वर का नाम न भाता था ॥
थी उमा नाम्नी स्त्री उसकी, आस्तिक थी और उदार थी वह ।
स्वामी के इन आचरणों से अत्यन्त दुखी लाचार थी वह ॥

वृद्धावस्था को हुए, प्राप्त जभी नाभाग ।
सोचा—"सुत को राज्य दे, करदूँ सर्वस त्याग ॥"

पर अड़चन यह थी—अम्बरीष जेठा सुत निरा पुजारी था ।
मणिकान्त प्रथम तो छोटा था, फिर नास्तिक अत्याचारी था ॥

मणिकान्त की मातु सुकेशी भी, नृप के पीछे थी पड़ी हुई ।
"मेरा ही बेटा राजा हो"—इस हठ पर हो थी अड़ी हुई ॥
इस चिन्ता से जब हुए—राजा बहुत उदास ।
पहुँचे वह रानी सहित, अम्बरीष के पास ॥
इनके आने का हुआ उसको जरा न ध्यान ।
हरि-मन्दिर में मग्न हो, गाता था वह गान ॥

❀ गाना ❀

"मन मोरा अब घनश्याम सों लागा ।
रंग बिरंगी गुड़ियों का-रँग, ब्याह भये पर त्यागा ।
जब प्रीतम-रँग रँगी चुनरिया, रहा न पचरँग धागा ॥
हंसों की गति हंस ही जानें, जान सकें कब कागा ?
पारस छाँड़ि गहे जो पथरी, सो नर महा अभागा ॥"

—:—

दृश्य देख यह, और भी जली सुकेशी मात ।
अवसर पाकर छेड़ दी राजा से यों बात ॥
"क्यों, देख रहे हैं महाराज? कुछ इसे राज की चिन्ता है?
अपने ठाकुर जी के आगे, यह नहीं किसी को गिनता है ॥
हम लोग यहाँ हैं खड़े हुए—इसको भी उसको ध्यान नहीं ।
इससे तो है मणिकान्त श्रेष्ठ, जिसमें किंचित् अभिमान नहीं ॥"
यह सुनकर नाभाग ने कहा तुरन्त पुकार—
"अम्बरीष हम खड़े हैं, यह तो करो विचार ॥"
आवाज पिता की सुनते ही, वह भक्त जागसा जाता है ।
"श्रीपिता और श्री माता जी"—कह करके शीश नवाता है ॥
फिर कहता है—"दर्शन करिए क्या खूब चतुर्भुज राजे हैं ।
दो हाथों में हैं शंख, चक्र, दो गदा पद्म से साजे हैं ॥

हैं नहीं भुजाये यह चारों, मानों हैं चार दिशायें यह°।
चाहें तो मार्ग भटकतों को, क्षणभर में अभी दिखायें यह ॥"
बोल उठे नाभाग नृप-यह सुनकर तत्काल ।
"भक्ति तुम्हारी देखकर, हूँ प्रसन्न मैं लाल ॥
पर लीन भक्ति में ही रहना, चाहिए नहीं युवराज तुम्हें ।
है उचित इसी के स थ साथ, देखना राज का काज तुम्हें ॥"
यह सुनकर अम्बरीष बोले-"इसका केवल यह उत्तर है ।
श्रीत्रिभुवनपति की सेवा तो, इस तुच्छ राज से बढ़कर है ॥
यदि यह चाहें तो पलकों में, सारा ब्रह्माण्ड मसल डालें ।
राजा को रंक, रंक को फिर राजा में तुरत बदल डालें ॥
दुनिया है इन पर टिकी हुई, दुनिया के हैं जी जान यही ।
जीवन हैं चन्द्रदेव के तो, श्रीसूर्यदेव के प्रान यही ॥"
इतने में मणिकान्त भी आ पहुँचा तत्काल ।
बोला-"धुन लग रही है? अब भी वह ही हाल ?"
तब अम्बरीष बोले-"आओ ! आगे बढ़ यहाँ पधारो तो ।
मेरे प्रभु की बाँकी झाँकी, नयनों से ज़रा निहारो तो ॥"
मणिकान्त लगा कहने तुरत-"झकियाँ निहारा करो तुम्हीं ।
दिन-रात यहाँ बैठे बैठे आरती उतारा करो तुम्हीं ॥
ऐसी पाखण्डभरी बातें, तुम जैसों ही को भाती हैं ।
हम जैसे राजकुमारों को, बिल्कुल भी नहीं सुहाती हैं ॥
क्या दीपक ज़रा दिखाने से वैकुण्ठलोक मिल सकता है ?
घण्टे के ज़रा हिलाने से वैकुण्ठलोक मिल सकता है ?"
यह सुनककर अम्बरीष बोले-"भाई तुम यह क्या कहते हो ?
ईश्वर और ईश्वर-भक्तों की क्यों ऐसी निन्दा करते हो ?"

मणिकान्त बोल उट्ठा-' निन्दा ? जो कह डालूँ वह थोड़ा है ।
ईश्वर का नाम कल्पना है, जो भक्तों ने रख छोड़ा है ॥
यह ढोंग ढोंगियों का ही है, अपना व्यक्तित्व पुजाने को ।
ईश्वर का कुछ अस्तित्व नहीं क्यों तुम ठग रहे ज़माने को ?"
उत्तर में बोले अम्बरीष -"है तुमको ज़रा तमीज़ नहीं ।
ईश्वर है सगुण और निर्गुण तुम कहते हो कुछ चीज़ नहीं ?"
मणिकान्त लगे कहने फिर यों,-"कुछ सगुण न निर्गुण ईश्वर है।
मेरे मत से तो प्रकृति और उसके गुण पर सब निर्भर है ॥
तत्त्वों का है यह खेल सभी; कल्पना अन्य क्यों लाते हो ?
देखा ही नहीं उसे अब तक, बस खाली खीर पकाते हो ॥"
तब बोले अम्बरीष-"तुम पर है तर्क भरे, व्याख्यान यही ।
मेरे तो, प्रकृति और गुण सब; जो कुछ भी हैं भगवान यही ॥
नर के क्या पशु पक्षी तक के; यह ही तो भाग्य-विधाता हैं ।
जो इनका नाम नहीं लेता, उस तक के भोजनदाता हैं ॥"
वह बोला-"तुम्हीं भजो इनको, अपने भवफन्द छुड़ाने को ।
हम तो दुनिया में आये हैं,-दुनिया की मौज उड़ाने को ॥"
अम्बरीष कहने लगे-"फिर ? मरने के बाद ?
क्या होगा परलोक में, यह भी है कुछ याद ?"
मणिकान्त लगा कहने चिढ़कर-"यह केवल एक बहाना है ।
है लोक तथा परलोक यहीं सुख भोगो फिर मर जाना है ॥
मौजों में आज गुजर जाये; कल वर्षा हो कि रहे सूखा ।
भोजन की थाली पाकर भी, वह पागल, जो कि रहे भूखा ॥"
इतना कह, जब गया वह ठट्ठा खूब उड़ाय ।
रानी से नाभाग ने कहा तभी दुख पाय ॥

"मैं असमंजस में हूँ रानी, इस कारण तुम्हीं विचार करो ।
है बड़ा भक्त, छोटा नास्तिक, दूँ किसे राज्य का भार कहो ?
रानी तब बोली—"जेठे ने जब सर्वस हरि पर वारा है—
तो छोटा सुत ही राजा हो, वह भी तो पुत्र तुम्हारा है ॥"
राजा बोले—"मत घबराओ, चिन्ता का बन्धन तोड़ूंगा ।
मन्त्री से राय मिला इसका, फ़ैसला प्रजा पर छोड़ूंगा ॥"
इतने में अम्बरीष बोले—"मेरे हित, चित्त न म्लान करें ।
हे पिता, आप छोटे ही को, यह अपना राज प्रदान करें ॥

मेरा तो बस राज है, यह ही जगदाधार ।
अरब खरब की सम्पदा डारूँ इन पर वार ॥"
राजा रानी चलदिए, जब सुनकर यह बैन ।
अम्बरीष ने मूर्ति से कहा मिलाकर नैन ॥
"प्रभुवर, नवधा भक्ति दे, रखिये अपने पास ।
बस यह ही दें—मैं रहूँ, सदा आपका दास ॥

❀ गाना ❀

इस तन में रमा करना, इस मन में रमा करना ।
वैकुण्ठ यही तो है, इसमें ही बसा करना ॥
हम मोर बन के मोहन, नाचा करेंगे बन में ।
तुम श्याम घटा बनकर, उस बन में उठा करना ॥
होकर के हम पपीहा—पी-पी रटा करेंगे ।
तुम स्वाति बूँद बनकर प्यासे पै दया करना ॥
हम 'राधेश्याम' जग में तुमको ही निहारेंगे ।
तुम दिव्य ज्योति बनकर—नयनों में रहा करना ॥

—:१:—

करते थे यों नित्य ही, अम्बरीष गुणगान ।
अब वह सुनिए, रह गया कहना जो आख्यान ॥
वह पद्मा, पतिव्रता नारी, ब्याही कुमार द्वारा जब से ।
पतिपरमेश्वर का नहीं हुआ, साक्षात किसी दिन भी तब से ॥
हर रोज बड़े तड़के उठकर, हरि-मन्दिर में जाती थी वह ।
श्रीठाकुर जी की सब पूजा सामग्री धर आती थी वह ॥
उसने सोचा–"है ढंग यही–उनकी नजरों में आने का ।
यह भी तो सीधा रस्ता है—अपने ठाकुर को पाने का ॥"
इसी तरह पर मास जब बीत गए दो चार ।
अम्बरीष करने लगे, मन में तभी विचार ॥
"है कौन भक्त जो मन्दिर में तड़के ही उठकर आता है ?
पूजन की सब सामग्री को चुपचाप ठीक कर जाता है ?
कल नियत समय से पहले ही हरिमन्दिर में जाऊँगा मैं ।
उस चोर-भक्त को निश्चय तब उस जगह पकड़ पाऊँगा मैं ॥
दूसरे दिवस तड़के ही उठ, यह जभी नहा करके आये ।
पूजन-सामग्री धरी देख, चौंके और जरा सटपटाये ॥
पर जल की झारी थी न वहाँ, यह देख विषाद मिटा मन का ।
सोचा "जब तक जल लाये वह आरम्भ करूँ मैं कीर्तन का ॥

❀ गाना ❀
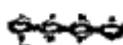
रँग रँगरेजवा–क्यों न रँग ।
ऐसो चटक रंग रँग रँगरेजवा रँगवे ही रंग चढ़े ॥
जीवनरूपी चादर मोरी, कर्म के दाग, लगे ।
या चादर को ऐसी रँग दे, कबहूँ न रँग उतरे ॥"

—०—

ध्यान मग्न होरहे थे जब यों राजकुमार
सुनी तभी यक ओर से यह मीठी झनकार ॥

❀ गाना ❀

"मेरे जीवन की माला के जीवन-धन तार तुम्हीं तो हो।
इस हार में जो उपहार को है, कर रहे विहार तुम्हीं तो हो॥
जभी पिरोती बैठकर मैं धागे में फूल।
तभी विरह के और भी चुभते तन में शूल॥
देखना डोर न यह टूटे, हाथ से डोर न यह छूटे।
माला और मालावाली का सारा शृंगार तुम्हीं तो हो॥"

—०—

इस गायन ने करदिया इनको अस्तव्यस्त।
भक्तिभाववाला हुआ, प्रेम-भाव में मस्त॥
गानेवाली सामने आपहुँची तत्काल।
हाथों में झारी लिए और सुमन की माल॥
दिल मचल गया,दृग नाच उठे, देखा जब सुन्दर नारी को।
विचलित करती थी गुप्त शक्ति कोई इस भक्त पुजारी को॥
बोले—"हे बाले, कौन हो तुम? किसलिए यहाँ पर आई हो?
यह झारी और सुमन माला किस अभिप्राय से लाई हो?"
वह बोली—"हैं यहीं पर, मेरे भी भगवान।
लाई हूँ यह भेंट मैं करने उन्हें प्रदान॥
मेरे ठाकुर, मेरे स्वामी, मेरे भगवान यहीं तो हैं।
सर्वस्व देदिया जिनको वह मेरे श्रीमान् यहीं तो हैं॥
मेरा मन-मन्दिर सूना है, इसमें राजेंगे राजेश्वर।
माला इस कारण हूँ लाई पहनेंगे इसको प्राणेश्वर॥"

यह बोल उठे–"देवी जाओ, क्यों, आई मुझे सताने को ?
मेरे आकाश-सदृश चित पर, निज उजियाली फैलाने को ॥
परपुरुष से करते हुए बात तुम मन में नहीं लजाती हो ?
हरिभक्त नारिव्रतधारी को, क्यों यह अनुराग दिखाती हो ?
अच्छी आई भक्तिन बनकर, पूजा में विघ्न मचा डाला।
निज प्रेमवायु के झोंके से मेरा हृत्सिन्धु हिला डाला ॥"
वह बोली–"अजी पुजारीजी, यह भक्ति तुम्हारी खण्डित है ।
हो कैसे नारीव्रतधारी ? नारी पतिसुख से वञ्चित है ॥
उस पत्नी में है दोष अगर, तो मैं सेवा को तत्पर हूँ ।
गुण-आगरि रूप-उजागरि हूँ, मनमोहिनि हूँ, अति सुन्दर हूँ ॥"

यह कह सारी शीस से सरकाई तत्काल ।
लगी निरखने प्रेम से नयन-नयन में डाल ॥
क्षणभर को उस हृदय में सुलग उठी यक आग ।
गुप्त भावना प्रेम की गई यकायक जाग ॥

सोचा–"यह मुझे चाहती है, तो क्या मैं भी चाहूं इसको ?
यह वरमाला जो लाई है, मन्दिर में स्वीकारूँ इसको ?"
इतने में अन्तस्थल बोला–"क्यों धर्ममार्ग से हटते हो ?
तुम किसी सती की थाती को, किसलिए निछावर करते हो ?"

यही सोचकर होगए भक्तराय बेहाल ।
कहा कामनी से तभी मन को ज़रा सँभाल ॥

"मैं क्वाँरा नहीं, विवाहित हूँ, तुम मुझको क्षमा करो देवी ।
जिस हालत में रहता हूँ मैं, उसमें ही रहने दो देवी ॥
यदि गौरव इसमें है घर का घर में पतिभक्ता नारी हो—
तो यह भी परमावश्यक है, पति भी नारी-व्रत-धारी हो ॥"

"लेकिन मैं तो हृदय से हूँ तुम पर बलिहार।"
यह कह वह आगे बढ़ी गले डालने हार ॥
"हूँ मैं भी पतिभक्ता नारी, मन से प्रभु तुम्हें वर चुकी हूं।
किस तरह छोड़ सकती हूँ—जब सच्चा संकल्प कर चुकी हूं ?
जैसे कमला को श्रीहरि हैं, जैसे गिरजा को शंकर हैं।
वैसे ही इस दासी के भी—हे नाथ आप प्राणेश्वर हैं ॥"
इन वाक्यों से होगए अम्बरीष निस्तब्ध।
"क्या जानें क्या कर रही है मेरी प्रारब्ध ?
इससे भी नेह हो चुका है, उसको भी छोड़ नहीं सकता।
मन को भी रोक नहीं सकता, व्रत को भी तोड़ नहीं सकता ॥
हूं बीच कुएँ और खाई के, किस तरफ़ जाइए? क्या करिए ?
कुछ नहीं सुझाई देता है, हे हरि मेरी रक्षा करिए ॥"
इन्हीं विचारों में हुए क्षणभर को बेहाल !
भूतल पर गिरने लगे बेसुध हो तत्काल ॥
तभी गह लिया दौड़कर बाला ने वह हाथ।
"अब इन चरणों से मुझे पृथक् न करिए नाथ ॥"
पड़े कान में जिस समय, करुणापूरित बोल।
भक्त-हृदय होने लगा, फिर कुछ डाँवाडोल ॥
लेकिन दिल पर क़ाबू करके, बोले—"यह अन्तिम आज्ञा है।
मैं तुमको व्याह नहीं सकता मेरी तो पत्नी पद्मा है ॥
शङ्कर को जैसे पार्वती श्रीहरि को जैसे कमला है।
वैसे ही प्यारी मुझको भी, मेरी अर्द्धाङ्गिनि पद्मा है ॥
उस सती साध्वी देवी को जीवनभर छोड़ नहीं सकता।
क्षत्री हूँ अपना पत्नीव्रत हर्गिज़ भी तोड़ नहीं सकता ॥

छेद नहीं गिर को सके ज्यों सूजे की नोंक।
त्यों इस हृत्पाषाण को लग न सकेगी ओंक॥"
देखा पति के हृदय में जब यों प्रेम अपार।
सोचा—"हो जाऊँ प्रकट, कर कोई उपचार॥"
बोली-"पाषाण-हृदय को मैं या तो अब मोम बनाती हूँ।
वर्ना अपने प्राणेश्वर पर अपना अस्तित्व मिटाती हूँ॥
प्राणेश्वर, इस कटार द्वारा, हो जाती हूँ बलिहार यहीं।"
घबराकर अम्बरीप बोले-"यह भी मुझको स्वीकार नहीं॥"
वह बोल उठी-"जब यह कटार, एक नारी को वर सकती है-
तो फिर श्रीचरणों के आगे संहार नहीं कर सकती है!"
यह सुनकर दौड़े भक्तराज, छीनी कटार घबराकर के।
देखा निज नाम लिखा उसपर, तब तो चौंके पुलकाकर के॥
"हैं! पद्मा पतिव्रते पद्मा! क्या दूँ इस अवसर पर तुझको?
मैं तुझे पकड़ने आया था, पर तूने जकड़ लिया मुझको॥
यह दिन सचमुच सुन्दर दिन है, अवसर शुभ अवसर आया है।
प्यारे ने प्यारी को पाया, प्यारी ने प्यारा पाया है॥
आओ, अब मिलकर एक बार सानन्द प्रभाती गायें हम।
जिसने यह भाग्य जगाया है, उस प्रभु के लिये जगायें हम॥

❀ गाना ❀
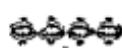
जागिए जगदाधिराज आज बड़ी देर भई।
रजनी को नाश भयो, रवि की प्रभा फैल गई।
किसी का प्रेम फला और किसी की भक्ति फली॥
खिला हृदय का कमल और खिली मन की कली।
छायो है आनन्द आज है उमँग नई नई॥"

—०—

अब आगे जो कुछ हुआ सुनिए वह वृत्तान्त ।
राजा बनने के लिए पागल था मणिकान्त ॥
दुर्वासा ऋषि मिल गए एक दिवस दैवात् ।
कहा सुकेशीतनय ने अभिवादन पश्चात् ॥
"मुनिराई, भाई अम्बरीप बनते जाते पाखण्डी हैं ।
ऋषियों की निन्दा करते हैं इतने हो चले घमण्डी हैं ॥
नित पक्ष भक्ति का लेकरके वे जनता को बहकाते हैं ।
मद की मदिरा इतनी पीली तप को अति तुच्छ बताते हैं ॥
यह न हो–समझकर पुण्य कहीं व कार्य पाप का कर डालें ।
ले पक्ष भक्ति का तपसीवर, अपमान आपका कर डालें ॥
हैं आप कि जिनके तप-बल से, चौदहों भुवन थर्राते हैं ।
आकाश,अग्नि,पृथ्वी,बिजली,रवि,शशि तक चौंधा जातेहैं॥"
यह सुनते ही कह उठे–मुनिवर तेजनिधान ।
"जाता हूँ और देखता हूँ उसका अभिमान ॥"
अम्बरीप के सामने पहुँचे ऋषि तत्काल ।
चरणों में गिर कर कहे उसने वचन रसाल ॥
"क्या ख़ूब मुकुट के बदले में, शुभ जटाजूट फैलाये हैं ।
मेरे भगवान् त्रिलोचन बन, मेरे मन्दिर में आये हैं ॥"
ऋषि बोले–"जाहिर में तो तू इन चरणों में शिर धरता है ।
पर सुनता हूँ चुपके-चुपके तप की अति निन्दा करता है ॥"
वे बोले–"किसी प्रपञ्ची ने मिथ्या कह दिया कहीं होगा ।
सेवक से तो सपने में भी ऐसा दुष्कर्म नहीं होगा ॥"
दुर्वासा बोले–"तो क्या तू, तप ही को श्रेष्ठ समझता है ?
और भक्ति-मार्ग को तजकर के तप के पथ पर चल सकता है?

तपसी वह है जो नई सृष्टि यदि चाहे रचदे चुटकी में ।
उत्पत्ति और संहार सभी रहते हैं उसकी भृकुटी में ॥
सुन, भार सृष्टि का जगधारी तप के ही बल से धारे हैं ।
तू जिसके सदा सहारे है, वह तप के सदा सहारे हैं ॥

असमञ्जस में पड़ गए अम्बरीष तत्काल ।
लेकिन यों कहने लगे अपनी दशा सँभाल ॥

"मुनिराज, भक्ति में तो जप तप यज्ञादि सभी आजाते हैं ।
फिर खण्डन और मण्डन कैसा ? क्यों व्यर्थ आप रिसियाते हैं॥
मुनि बोले-"रिसयाना कैसा ? मेरा शृङ्गार रिसाना है ।
शास्त्रार्थ करूँगा मैं तुझसे, देखूँ तू कितना स्याना है ॥"
तब अम्बरीष फिर बोल उठे-"शास्त्रार्थ करूँगा मैं क्योंकर ?
मैं तो अपने हरि के सिवाय कुछ भी न जानता हूँ मुनिवर ॥
यदि भक्ति भक्त में पूरी है तो हरि उसके हो जाते हैं ।
फिर तो वे खम्भ फाड़कर भी भक्तों का मान बढ़ाते हैं ॥"
मुनि बोले-"अब मैं जान गया तू तप का बड़ा विरोधी है ।
लेकिन तुझको मालूम नहीं दुर्वासा कितना क्रोधी है ?
इसलिए शपथ में देता हूँ तुझको तेरे परमेश्वर की ।
है भक्ति बड़ी या तप ? बतला, कर देर न इसमें दमभर की ॥"
इतना सुनते ही अम्बरीष सोचने लगे अपने मन में ।
इसका उनको उत्तर क्या दूँ ? पड़ गई जान अब उलझन में ॥
यदि कहता हूँ है भक्ति बड़ी तो इनका दिल दुख जायेगा ।
यदि तप को बड़ा बताता हूँ तो मेरा मन अकुलाएगा ॥
जो कुछ हो सच ही बोलूँगा, यह निश्चय कर बोले-"भगवन् ।
भगवान् विष्णु के पाने का है भक्ति बड़ा उत्तम साधन ॥"

मुनि बोले–"देखूँगा तब तो यह भक्ति कहाँ तक लड़ती है ।
इसके कारण तुमको कितनी अपत्ति झेलनी पड़ती है ॥
तू भी अपनी भक्ति का दिखला प्रबल प्रताप ।
जल पृथ्वी पर डालकर देता हूँ मैं शाप ॥
जल जायँ खेतियाँ हरी भरी सूखें सब कूप और ताल यहाँ ।
कर उठे अयोध्या त्राहि त्राहि, वह भीषण पड़े अकाल यहाँ ॥"
मुनि जब यह कहकर चले गए तब इनको पश्चात्ताप हुआ ।
कालान्तर में धीरे-धीरे, बिल्कुल यह सच्चा शाप हुआ ॥
सब ओर नगर में अन्न-बिना, अति दारुण हाहाकार हुआ ।
पत्ते और छाल चबाने को जनता का दल लाचार हुआ ॥
अकुला उट्ठे सब प्रजावृन्द खायें कबतलक पत्तियों को ?
ताका उन भूखे जीवों ने कोठार और राजबत्तियों को ॥
बोले–"कोठारी से जाकर, यह सब कोठार हमारा है ।
वास्तव में हम ही मालिक हैं, इसपर अधिकार हमारा है ॥"
इतने ही में आगए क्रोधित हो मणिकान्त ।
सबको कोड़े मारकर किया क्रोध निज शान्त ॥
जब अकालपीड़ित गिरे खा कोड़े की मार ।
सिसक सिसक करके लगे करने आर्त पुकार ॥
"हे जगत्पिता ! अब तूही सुन, यह आहें अपने बेटों की ।
उस ओर मार है कोड़ों की इस ओर मार है पेटों की ॥
यदि मैया यहाँ बिलखती है तो बच्चा वहाँ तड़पता है ।
मुँह जरा किसी ने भी खोला तो कोड़ा तड़ से पड़ता है ॥"
अम्बरीष भी आ गए उसी जगह तत्काल ।
व्याकुल होकर रोपड़े देखा जब यह हाल ॥

"कोठारी, यह कोठार कहो, किसलिए बन्द कर छोड़ा है ?"
वह बोला—"ऐसी आज्ञा है, दूसरे—प्रश्न भी थोड़ा है॥"
"मैं आज्ञा देता हूँ, खोलो, थोड़ा भी है तो क्या डर है ?
इन सबका पेट भरो पहले, हम सबका मालिक ईश्वर है॥"

इतना कह हरिभक्त ने खोला स्वयं कुठार ।
अम्बरीप के नाम की गूँजी जयजयकार ॥
इतने में रानी सहित आपहुँचे महिपाल ।
कहा तभी मणिकान्त ने लूटमार का हाल ॥
रानी बोली—"जिस तरह इसे लुटाया आज ।
राजा हो देगा लुटा कल को यूँही राज ॥"
अम्बरीप कहने लगा—"जिसका यह कोठार ।
अब भी उसके पास में है उसका भण्डार ॥

जिसने कोठार भरा था यह जिसकी यह चीज कहाती थी ।
भूखों की सूरत में वह ही लेगया कि जिसकी थाती थी ॥
जो चींटी को कनभर देता, हाथी को मनभर देता है ।
वह दीनानाथ दयासागर यों दीनों की सुधि लेता है ॥"

बोल उठे मणिकान्त तब छोड़ दीर्घ निश्वास ।
"इन बातों पर कर नहीं सकते हम विश्वास ॥

प्रत्यक्ष प्रमाण बिना हम यह झूठी कल्पना जानते हैं ।
आँखों से देखा नहीं जिसे उसको हम नहीं मानते हैं ॥
अपने जगदीश्वर जगपति से कोठार अभी यह भरवाओ ।
वर्ना अपना खटराग छोड़ मेरी पंगत में आजाओ ॥"

कहे जभी मणिकान्त ने ऐसे तीखे बैन ।
अम्बरीप बोले तभी—कर ऊपर को नैन ॥

"हे करुणानिधि कुछ कान करो, इस समय आन पर अटकी है।
नास्तिकता ने मंझधारा में श्रद्धा की नैया पटकी है॥
मुझको तो है विश्वास, मगर शंका है मेरे भाई को।
अस्तित्व दिखाकर प्रभु अपना, रखिए अपनी प्रभुताई को॥"

आर्तिहरण के कान में जब यों पड़ी पुकार।
धीरे-धीरे भर चला वह खाली कोठार॥
अपनी कृपा-कटाक्ष से रखा भक्त का मान।
अन्तिम बोरा खुद लिए आए श्री भगवान॥
भक्त और भगवान् का देख यह चमत्कार।
जन-मण्डल आनन्द में बोल उठा जयकार॥
उस दिन इस उपलक्ष में होकर मुदित अपार।
मन्दिर में उत्सव किया नृप ने विविध प्रकार॥
छोटे राजकुमार पर पड़ा विशेष प्रभाव।
मन्दिर में लाया उन्हें आस्तिकता का चाव॥
बड़े प्रेम से पहुँचकर अम्बरीष के पास।
बोले-"भैया, होगया आज मुझे विश्वास॥

बेशक है जग में शक्ति कोई जिसने यह सृष्टि रचाई है।
वह दृश्य आज का लख करके आस्तिकता मुझमें आई है॥
लेकिन, कहता हूं मन की मैं, क्या है यह जान नहीं सकता।
पीतल के बने खिलौने को परमात्मा मान नहीं सकता॥
सारी दुनिया जिस-जिस ढब से, उस प्रभु की पूजा करती है।
वह सब तत्त्वों की पूजा है मेरी मति-गति यह कहती है॥"

अम्बरीष कहने लगे उत्तर में तत्काल।
"किसे खिलौना कह रहे? उसे, जो है जगपाल?

निश्चय तुम पूरे नहीं, हुए, अबतक, आधे या पौने हो।
यह मूरति नहीं खिलौना है, सच यह है तुम्हीं खिलौने हो॥
तत्वों का तर्क कर रहे हो, इन बातों में कुछ सार नहीं।
उस निराकार की पूजा तो होती बगैर आधार नहीं॥
पृथ्वी, आकाश, वायु, ज्वाला, जल में भी रहते हैं वह ही।
भक्तों के और भावुकों के मन में भी रमते हैं वह ही॥
ब्रह्मा की वाणी में वह ही, शङ्कर की वही जटाओं में।
पुज रहे हमारे ही प्रभु हैं हे भाई, दशों दिशाओं में॥"

प्रश्नोत्तर के रूप में हुआ वार्तालाप।
नास्तिकता पर लग गई आस्तिकता की छाप॥
फिर भी शंका कर उठे छोटे राजकुमार।
अम्बरीप ने तब कहा मुँदरी एक उतार॥
"यह क्या है ? है मुद्रिका ? सोना भी है भ्रात।
इसी दृष्टि से सुलझती सब शंका की बात॥

जो मुँदरी इसे समझते हैं, वह तो पीतल ही जानते हैं।
जो सोना समझे बैठे हैं, वह ईश्वर-रूप मानते हैं॥
इस जटिल समस्या की वास्तव मणिकान्त भ्रात है पूर्ति यही।
पीतल की भी है मूर्ति यही, ईश्वर की भी है मूर्ति यही॥
जब आस्तिक तुम्हें बनाया तो, अपना भी तुम्हें बनायेंगे।
इस पीतल ही की प्रतिमा में, प्रभु अपनी झलक दिखायेंगे॥"

पक्ष शिथिल निज देखकर बोल उठे मणिकान्त।
"आज हृदय मेरा हुआ भैया कुछ-कुछ शान्त॥
लेकिन, कहना है मुझे एक जरूरी बात।
ढोंगी कहती है तुम्हें सारी दुनिया भ्रात॥

लाञ्छन है—'भक्ति के पर्दे में, करना कुछ काज चाहते हैं ।
ज़ाहिर में त्याग दिखाते हैं, वास्तव में राज चाहते हैं' ॥
भाई की सुन-सुनकर निन्दा, मैं मन ही मन में कुढ़ता हूँ ।
अपमान आपका देख देख किस तरह शान्त रह सकता हूँ ?"

"कुढ़ने की है कौन सी इन बातों में बात ?
तुमसे अधिक न और है, प्यारा जग में भ्रात ॥
दिखलाऊँ तुमको भला, हृदय किस तरह चीर ?
अम्बरीष यह कह हुए—क्षणभर को गम्भीर ॥
तब बोले मणिकान्त यों—"यदि सच्चा अनुराग ।
तो निज प्रभु के नाम पर राज दीजिये त्याग ॥"

उमड़ा तब भक्त—"सुनो भाई, फिर कहता हूँ मैं आज अभी ।
भगवान् साक्षी हैं मेरे चाहता नहीं मैं राज कभी ॥
जाकरके पास पिता जी के, अन्तिम निश्चय करलूँगा मैं ।
यदि प्रजा राज मुझको देगी, तो भी तुमको देदूँगा मैं ॥"

बोल उठे-मणिकान्त सब देख सफल निज चाल ।
"धन्य-धन्य है आपका बेशक हृदय विशाल ॥"
सहन हो सका पर नहीं भावी को यह तौर ।
विधना के मन और है, जग के मन कुछ और ॥
वचन जभी देने लगे—मार हाथ पर हाथ ।
पद्मा ने आकर तभी कहा—"ठहरिये नाथ—

जिसको हम राज समझते हैं, वह तो रैयत की थाती है ।
रैयत ही उसकी रक्षा को, राजेश्वर हमें बनाती है ॥"
यह सुनकर अम्बरीष बोले—"पद्म, क्यों व्यर्थ झगड़ती हो ?
दर्बार में श्रीत्रिभुवनपति के क्यों तुच्छ राज पर लड़ती हो?"

"नहीं नाथ ऐसा नहीं है मेरा मन्तव्य ।"
बोली वह—"मैं कहरही थी नृप का कर्तव्य ॥
जो जनता श्रद्धा से हमको, नित आँखों पर बिठलाये है ।
अपनी रक्षा और उन्नति-हित, हम सबपर आँख लगाये है ॥
उसको उस प्यारी जनता को, क्या नाथ आँख दिखलायें हम ?
थाती रक्षा करने से, क्यों अपनी आँख चुराएँ हम ?
अवधेश ने अवधपुरी से यदि, ली फेर कहीं अपनी आँखें ।
डालेंगी बहा नई सरयू रो-रोकर जनता की आँखें ॥"
तुरत सुकेशी आगई—करके आँखें लाल ।
"आँख उठाये, यह भला किसकी यहाँ मजाल ?"
फिर अपने लड़के से बोली—"हैं कहाँ तेरी लड़के आँखें ?
जो मेरा दूध पिया तूने, तो ले निकाल लड़के आँखें ॥
आँखों के एक इशारे से मैं राजा तुझे बनाऊँगी ।
इन आँखों ही की छाया में, वह राजमुकुट पहनाऊँगी ॥"
पद्मा बोली—"कहरहीं मातेश्वरि क्या आप ?"
कहा सुकेशी ने तभी—बैठी रह चुपचाप ॥
आँखों की खोदी लाज आज, अब तू आँखें मटकाती है ।
सुनले, अब यही-सुकेशी फिर डङ्के की चोट सुनाती है ॥
मैं अम्बरीप के शीष ताज देखूंगी नहीं इन आँखों से ।
उसके पहले बरसादूँगी, अङ्गार यहीं इन आँखों से ॥"
पद्मा की आँखें भर आईं, दो बिन्दु गिर गये पृथ्वी पर ।
पर उधर हुआ एक अट्टहास यह पड़ा प्रभाव राक्षसी पर ॥
बोली—"मैंने जय पाली है, यह उसी विजय के आँसू हैं !"
इतने में कहा उमा ने आ—"यह महाप्रलय के आँसू हैं ॥

महासती की आँख से गिरा जिस जगह नीर।
माता अब तो बहेगा—वहाँ प्रेम का क्षीर ॥
इस समय नीति और प्रीत सहित हम सबका न्याय यहीं होगा।
जेठा भाई मौजूद है तो छोटा युवराज नहीं होगा ॥"
"होगा, युवराज यही होगा" इस भाँति सुकेशी, बोल उठी।
सौतेली माँ का डाह देख, मन्दिर की धरती डोल उठी ॥
फिर शब्द हुआ—"क्षत्रिय होकर क्यों तूने नाम डुबाया है?
मणिकान्त! राज के लिए यहाँ तू भीख माँगने आया है?
यह भिक्षुक नहीं ताज देगा, वह रैयत नहीं ताज देगी—
ले उठा हाथ में यह कटार, अब यह ही तुझे राज देगी ॥"
उसने सोचा—"क्या करना है, सम्मुख यह जटिल समस्या है।
है इधर आज्ञा माता की, और उधर भ्रात की हत्या है ॥
निर्दोषी है, सन्तोषी है, दे चुके हैं अपना राज मुझे।
यह पाप नहीं मुझसे होगा, फिर चाहे मिले न ताज मुझे ॥"
सौती माँ के हृदय में भभक रही थी ज्वाल।
गर्जन कर मणिकान्त से बोली फिर तत्काल ॥
"बढ़ और इसी कटार से करदे काम तमाम।
वर्ना, समझूँगी तुझे कायर-दूधहराम ॥"
धीरे से आगे बढ़ा, ले कटार मणिकान्त।
लेकिन फिर झिझका जरा, था अति हृदय अशान्त ॥
उधर भक्ति पर देखकर ऐसी दशा कराल।
प्रभु ने भेजा चक्र निज रक्षा को तत्काल ॥
रूप भयंकर धारकर प्रकटा चक्र समग्र।
रंग-भंग यों देखकर हुए सभी जन व्यग्र ॥

गिड़गिड़ा के बोले भक्तराज—"ठहरो हे चक्र दुहाई है।
जैसा भी है यह बुरा-भला, आखिर तो मेरा भाई है॥
मैं हाथ जोड़कर कहता हूं हो बाल न बाँका भाई का।
यह भी हो चुका भक्त मन से उन जगदीश्वर जगराई का॥"

किया अहिंसा ने जभी हिंसा का संहार।
चक्रराज गायब हुए हो करके लाचार॥
इस घटना से और भी निखर उठे मणिकान्त।
गङ्गाजल सा विमल हो हृदय हुआ निर्भ्रान्त॥
उसी दिवस की रात्रिका अब सुनिए कुछ हाल।
अम्बरीष से स्वप्न में बोले दीनदयाल॥

"अब मैं कहता हूं भक्तराज यह राज तुम्हें लेना होगा।
मेरी प्रसन्नता की खातिर अपनी हठ तज देना होगा॥
माया में रहकर मुक्त रहे, वह ज्ञानी समझा जाता है।
राजा होकर जो भक्त बना, वह उत्तम भक्त कहाता है॥"

अम्बरीष कहने लगे—"सुनिये श्री महाराज।
मैं तो पहनूंगा नहीं, यह काँटों का ताज॥

धिक्कार है सिंहासन को जब, सौती माँ को दुखदाई हो।
सरताज, ताज किस काम का है—जब छुटता अपना भाई हो?
प्रभु बोल उठे-"हे भक्तराज, यह काज तो करना ही होगा।
निश्चय यह पन्थ महादुस्तर, पर इसपर चलना ही होगा॥

एक और भी बात है, उसे सुनो धर ध्यान।
मेरे पद के बाद है, इस पद का ही मान॥

* गाना *

नरों में श्रेष्ठ नृपाल कहाता ।
न्यायी होना धर्म है उसका, वेद-शास्त्र बतलाता ।
न्यायी होकर भक्त भी हो तो, और भी वह बढ जाता ॥
नर-मण्डल रक्षा को अपनी नरपति उसे बनाता ।
इसीलिए तो अंग वह मेरा कहने में है आता ॥"

आँख खुली तो भक्त ने मन में किया विचार ।
मेरे प्रभु कहरहे हैं-'करो राज स्वीकार' ॥
सोचा--"यह पद पाकर प्राणी जग में रागी बन जाता है।
लेकिन मेरे प्रभु कहते हैं, यह ही पद श्रेष्ठ कहाता है ॥
अच्छा, जैसी उनकी इच्छा पालूँगा सदा वचन उनका !
तन उनका है, मन उनका है, धन उनका, सिंहासन उनका ॥"
उसी दिवस दर्बार में बोले कोशलराय—
"सभासदो निष्पक्ष हो प्रकट करो निज राय ॥"
एक साथ सब कह उठे—"सुनिए हे सरताज !
बड़े पुत्र ही के लिए देवें पद युवराज ॥"
यह सुनकर रानी हुई-ज्वाला सी विकराल ।
बोली उस दर्बार में अपनी खड्ग निकाल—
"यह राजमुकुट तब अम्बरीष माथे पर धरने पायेंगे—
जब राज, ताज, दर्बार आदि, सब नष्ट-भ्रष्ट होजायेंगे ॥
यह अवधपुरी कल के दिन का सूरज न देखने पायेगी ।
इस रजधानी की रात्रि आज—बस कालरात्रि बन जायेगी ॥
इस समय सूर्य से प्रथम अस्त—यह सूर्यवंश हो जायेगा ।
कोशलपुर क्या, सम्पूर्ण जगत् आज ही ध्वंस होजायेगा ॥
अपनी सब आज पराजय है, या आज विजय ही का दिन है ।
है नहीं आज का दिन मानो उत्पत्ति प्रलय ही का दिन है ॥

हम दोनों की अर्थियाँ बना अब यहीं चिता पर जलवाओ-
तब अम्बरीष के माथे पर, यह राजमुकुट तुम पहनाओ ॥"
सुनकर नाभाग लगे कहने-"जब प्राणों पर ठन जायेगी।
तीसरी चिता फिर मेरी भी, बस इसी जगह बन जायेगी ॥
बेटे के होते की मैंने, जो नई बुढ़ापे में शादी।
हा! उसी पाप के फलस्वरूप होरही आज यह बर्बादी ॥

अच्छा, यदि है हठ, यही तो दो फेंक कटार।
जो तुम कहती हो वही करता हूँ स्वीकार ॥"
छोटे राजकुमार ने, कहा उस समय आय।
नहीं पिता जी यह नहीं हो सकता अन्याय ॥
भक्तराज तो दे चुके—खुद ही मुझको राज।
लेकिन पहनेंगे वही उनका ही है ताज ॥"

माँ बोली-"यह क्या करते हो? हे संहारक यह पागलपन।"
राजा बोले-"आश्चर्य, आज नास्तिक में इतना परिवर्तन!"
मणिकान्त कह उठे-"रहने दे, माँ पागलपन के ताने को!"
राजा बनना चाहिए जिसे, आया हूँ उसे बनाने को ॥
हे पितृदेव, मैं नास्तिक था, फिर मुझमें आस्तिकता आई।
आस्तिकता से विश्वास बढ़ा—तब प्रतिमापूजा मनभाई ॥
थी बुद्धि तर्कना युक्तभरी, उसने भ्रम में था भरमाया।
पर प्रभु ने करके कृपा स्वयं, इस तरह दास को अपनाया ॥

पहले तो देखा उन्हें भरते हुए कुठार।
फिर धारा में चक्र की, जी भर लिया निहार ॥"

सुन अम्बरीष बोले "हे हरि, यह लीला कितनी प्यारी है!
तर्कों का रहा समर्थक जो, वह तेरा बना पुजारी है ॥"

मणिकान्त लगे कहने—"हाँ, हाँ, अब तत्त्व समझ में आया है।
तत्त्वों में महातत्त्व होकर मेरा ही नाथ समाया है॥"
अम्बरीष कहने लगे—सुनकरके यह बात।
"तुम तो आगे बढ़ गए मुझसे भी हे भ्रात॥
यह बोले "आगे तुम्हीं भ्रात, मैं अब भी एक झमेला हूँ।
पहले तो छोटा भाई था, फिर शत्रु हुआ, अब चेला हूँ॥"
माँ बोली—"ताज पहन बेटा मेरा यह अन्तिम कहना है।
वह भाई को पहना बोले—"यह मैंने ही तो पहना है॥
धन, धाम धरा सम्बंधीगण, सबसे ही रिश्ता छोड़ा है।
लौ लगी है अब अपने हरि से, उनसे ही नाता जोड़ा है॥

❀ गाना ❀

मैं तोड़ चुका विश्व के धन-धाम से नाता।
निष्काम का होता ही नहीं काम से नाता॥
रक्खा है अब न ऐश न आराम से नाता।
दौलत से न नाता है, न है दाम से नाता॥
है भूल रखना हाड़ से और चाम से नाता।
नाता जो किसी से हो तो हरिनाम से नाता॥"

—:०:—

देखा माँ ने कार्य में इस प्रकार जब विघ्न।
भय, लज्जा और शोक से हो उट्ठी उद्विग्न॥
बेटे पर झुँझला उठी, बोली—"दूधहराम!
मिट्टी तूने कर दिया बना बनाया काम॥
मैं रण में सचमुच हार गई तूने ही मुझे हराया है।
तूने ही राज ताज के हित दुनिया का बुरा बनाया है॥
पति रूठें छूटें सम्बंधी लेकिन पत छूट नहीं सकती।
कर चुकी प्रतिज्ञा जो कुछ मैं आजीवन टूट नहीं सकती॥

क्षत्राणी करती नहीं सहन कभी भी हार ।
यह कटार अब करेगी मेरा बेड़ा पार ॥"
यह कह अपने वक्ष में मारी खेंच कटार ।
सभा-भवन में होगया तत्क्षण हाहाकार ॥
मन्त्रीगण और सभासदगण, इस घटना से शोकाकुल थे ।
राजा, रानी का अन्त देख, मन ही मन में अति व्याकुल थे ॥
रोकरके बोले अम्बरीष "क्या हुई दुर्दशा माँ की है !"
मणिकान्त कह उठे-"वह भी उसप्यारे की बाँकी भाँकी है ॥"
सुने सुकेशीतनय के वचन जभी गम्भीर ।
अम्बरीष कहने लगे-होकर जरा अधीर ॥
"मंगल में हो ही गया महा अमङ्गल आज ।
मुझको होती है घृणा पाकर ऐसा राज ॥
दीनबन्धु, अशरणशरण, प्रणतपाल भगवान ।
यह मुहूर्त है राज्य का या भीषण बलिदान ?
माँ मरी पड़ी है पृथ्वी पर हैं पिता शोक में गड़े हुए ।
भाई सन्यासी होता है, दर्बारी हैं चुप खड़े हुए ॥
इस कठिन परिस्थिति में भगवन् यदि मुझसे राज कराओगे-
तो हठ है यही भक्त की भी माता को अभी जिलाओगे ॥"
विनती दीनदयाल ने की तत्क्षण स्वीकार ।
मृतक देह में होचला प्राणों का संचार ॥
जगते ही रानी ने देखा जेठा सुत खड़ा चरण में है ।
वह ताज-लड़ रही थी जिसपर-अब उसके पड़ा चरण में है ॥
बोली-"बेटे, बस क्षमा करो मैं तुम पे वारी जाती हूँ ।
वह ताज तुम्हारा प्रमुदित हो तुमको ही आज पिन्हाती हूँ ॥"

राजमुकुट से भक्त का हुआ सुशोभित भाल ।
करतल-ध्वनि से गूँज उठा सभाभवन तत्काल ॥
आगे कहना है हमें अब यह ही वृत्तान्त ।
गृह तजकर जैसे हुए सन्यासी मणिकान्त ॥
सुना उमा ने रात्रि में शान्तिपूर्ण यक राग ।
गायक को होचुका था—दुनिया से वैराग ॥

※ गाना ※

"गगन से भूमि तक, जिस रोज़ ध्वनि छायेगी सोहं की ।
तभी अनहद के तारों से, सदा आयेगी सोहं की ॥
लहर गंगा की भी जब रागिनी गायेगी सोहं की ।
तभी अनहद के तारों से सदा आयेगी सोहं की ॥
प्रगति जब शून्य में आवाज़ पहुँचायेगी सोहं की ।
तभी अनहद के तारों से सदा आयेगी सोहं की ॥
सुरति में जिस समय मस्ती सना आयेगी सोहं की ।
तभी अनहद के तारों से सदा आयेगी सोहं की ॥"

—०—

गायन सुन पहुँची उमा जब गायक के पास ।
देखा स्वामी लेरहे थे उसके सन्यास ॥
अपनी आशाओं की बगिया इस तरह उजड़ती देखी जब ।
अभिलाषाओं की मधुर वेल उस जगह उजड़ती देखी जब ॥
तब धैर्य छोड़कर बोल उठी "सागर किस नई तरंग में है ?
बोलो, बोलो, हे उमानाथ, दिल किस रँग में किस ढँग में है ?"
देखी प्रतिमा प्रेम की हृदय हुआ बेहाल ।
वैरागी पर पड़ चला फिर माया का जाल ॥
बोले—"प्यारी, इन केशों के उपवन ही में मैं विचरूँगा ।
तेरे होठों की वाणी को गंगा की लहरें समझूँगा ॥"
फिर बोले—"नहीं, कदापि नहीं, पागल फिर धोखा खाता है ।
इस हाड़ माँस की पुतली को आनन्द-मूर्ति बतलाता है !!"

यह कहकर फेर लिया निज मुख फिर कुछ बाहर को चलते हैं।
पत्नी को पास देखकर फिर कुछ मनोविचार बदलते हैं॥
"इस प्रेममयी को त्याग आज, ले सकता मैं सन्यास नहीं।
जीवन कैसे सुखमय होगा? जब जीवन-सङ्गिनि पास नहीं॥"
फिर बोले—"चल, तज इसे, तोड़ मोह का जाल।
अपने निश्चित मार्ग पर पैर बढ़ा तत्काल॥
वह बोली "स्वामिन्! ईश्वर से विच्छिन्न न माया होती है।
क्या अलग कभी सूरज से भी, सूरज की आभा होती है?
हे उमानाथ, यह उमा आज रम चुकी आपके मन में है।
लय हुई आत्मा मेरी भी इस सन्यासी-जीवन में है॥
छोड़ूंगी साथ नहीं स्वामिन्, भगवे कपड़े लाती हूँ मैं।"
आकरके कहा सुकेशी ने—"वह कपड़े पहनाती हूँ मैं॥"
इतने में पद्मा आ पहुँची, बोली कुछ मन में सकुचाकर—
"जो अभी स्वप्न में देखा था, प्रत्यक्ष वही देखा आकर॥"
तब कहा सुकेशी ने—"बेटी, आकरके बुरा किया तूने।
जो रूप गुप्त रखना था वह इस समय निहार लिया तूने॥
कुछ नहीं पुण्य का कार्य किया, मैंने अपने इस जीवन में।
इसलिए भेजती हूँ इनको भगवे कपड़े पहना वन में॥"
पद्मा बोली—"माता मुझको आसार नजर यह आते हैं।
उनको है राज मिला इससे, देवरजी वन को जाते हैं॥
अपने को करे पराया जो, वह राज भला कब अच्छा है?
जो बोझ दूसरों का होवे वह ताज भला कब अच्छा है?
यदि ऐसी ही है बात तो माँ, हर्गिज भी नहीं यह वन जायें।
मैं शपथपूर्वक कहती हूँ देवरजी राजा बन जायें॥

अपना तो राज है माता जी, हरि का मन्दिर हरि-पूजा है।
रैयत की सेवा से बढ़कर, हमको ठाकुर की सेवा है ॥"
माँ बोली–"इसने लिया सचमुच है सन्यास।
राज्यासन क्या, विश्व से अब यह हुआ उदास॥
पद्म,पद्म, बोलना फिर मत तू यह बैन।
अम्बरीष मणिकान्त हैं मेरे दोनों नैन॥
यदि बड़ा भक्त है, तो छोटा सन्यासी हो वन जाता है।
दोनों हैं लाल सुकेशी के, यह दोनों ही की माता है॥
गुण अम्बरीष के क्या बरणे यह तुच्छ सुकेशी महतारी।
जीवित कर दिया मुझे जिसने, मैं ऐसे बेटे पर वारी ॥"
इतने में अम्बरीष आए, बोले–"यह क्या दिखलाता है ?
मेरा प्यारा छोटा भाई, सन्यासी हो वन जाता है ?
यदि ऐसा हो तो अम्बरीष, यह राज नहीं अपनायेगा।
यह राज आज से क्या–अबसे, ठाकुर जी का कहलायेगा॥"
समाचार सुन आगए मिलने को नाभाग।
सबसे मिल मणिकान्त ने शीघ्र दिया घर त्याग॥
भाई के दुख से हुआ भाई बहुत उदास।
मधुवन में पत्नी–सहित–करने लगा निवास॥
प्रण किया कि अब निर्जल रहकर हर एकादशी बितायेंगे।
जब पहले विप्र जिमाएँगे–तब पीछे से हम खायेंगे॥
कुछ काल बाद एकादशि पर, न्योते श्रीदुर्वासा मुनिवर।
वह तो थे अवसर ढूँढ रहे, यह सुन बोले इनसे आकर॥
"भोजन में देरी हो तो हम, कुछ देर बाद आ जायेंगे।
भण्डार भरा ही है तेरा, सब शिष्य जीमने आयेंगे॥"

यह सुनकर बोले अम्बरीष, "सबको ही लायें साथ यहाँ।
हो कमी वहाँ किन चीजों की, बैठे हों दीनानाथ जहाँ?
जो जग का पालन करते हैं, अपना भी पालन करदेंगे।
कोठार भर चुके हैं पहले-भण्डार आज फिर भरदेंगे॥"
मुनि बोले-"तू बर्बाद हुआ इनके ही गोरखधन्धे में।
अबतक है तेरी बुद्धि फँसी इस रूप नाम के फन्दे में॥"
फिर बोले-"शंख बजाने से, वह थोड़े ही मिल जाता है।
उसको तो वह ही पाता है; जो आपा आप मिटाता है॥
क्यों भटक रहा है अज्ञानी, क्यों माया में दीवाना है?
भोजन के साथ-साथ बस अब तेरा अज्ञान मिटाना है॥
है हुआ निशा का नाश नहीं, छोटा सा दीपक वाले से।
मिटता है जग का अन्धकार; सूरज ही के उजियाले से॥"
यह कहकर मुनि तो चले गए, पद्मा बोली जीवन-धन से—
"है आज विघ्न पड़नेवाला, ध्वनि यही निकलती है मन से॥"
कह उठा भक्त-"क्यों डरती हो? जब विघ्नविनाशनहारी हैं?
हम लोगों के रक्षक हरदम, वह - चक्रसुदर्शनधारी हैं॥"

यह कहकर करने लगे, दोनों हरि-गुण-गान।
बीत चली जब द्वादशी, तब आया यह ध्यान॥

"मुनिराज नहीं अबतक लौटे, द्वादशी बीतने-वाली है।
क्या मुझसे बदला लेने को ऋषि ने यह चाल निकाली है?
बिन विप्र जिमाए खाता हूँ तो मुझ पर लाञ्छन आता है।
यदि पारण नहीं करूँगा तो व्रत-भंग-दोष लग जाता है॥"

इतने में आया उन्हें एक बात का ध्यान।
"व्रत का मैं पारण करूँ - कर चरणामृत पान॥"

चरणामृतपान किया ही था दुर्वासा आकर गरमाये ।
बोले--"क्यों यह क्या होता है, मुझको विन भोजन करवाये ?
रे धूर्त, आज. तूने मेरा है असहनीय अपमान किया ।
रक्खा है मुझे न्योत कर ही, खुद चरणामृत का पान किया ॥
ले सँभल, भूमि पर जटा पटक, मैं अभी भस्म कर देता हूँ ।
जिस मद पर तू इतराता है, उस मद को देखे लेता हूँ ॥"

यह कहकर पटकी जटा पृथ्वीपर तत्काल ।
निकली पृथ्वी फाड़कार कृत्यानल विकराल ॥
लपकी देने को जभी भक्तराज को कष्ट ।
चक्र सुदर्शन ने किया—आकर उसको नष्ट ॥
फिर वह जब करने चला- दुर्वासा का अन्त ।
मुनि भागे, तो चक्र भी पीछे लगा तुरन्त ॥

यह देख भक्त की आँखों से बह चले आँसुओं के झरने ।
मुनि की रक्षा के लिए वहीं प्रभु से प्रार्थना लगे करने ॥
उस ओर तपस्वी दुर्वासा—इस आफ़त से अकुलाते थे ।
चक्र से न रक्षा होती थी, वे जहाँ कहीं भी जाते थे ॥

पहुँचे रक्षा के लिए—ब्रह्मलोक-शिवलोक ।
मिटा नहीं मुनिराज का किसी जगह भी शोक ॥
जब कोई सूझा नहीं इनको अन्य उपाय ।
'त्राहिमाम्' कह गिर पड़े हरि-चरणों में जाय ॥
बोले—"शीघ्र बचाइये-मुझको दयानिधान ।
चूर्ण कर दिया भक्त ने तप का सब अभिमान ॥"

प्रभु बोले—"इसे हटाने का, है मुझको कुछ अधिकार नहीं ।
विन भक्तराज के पास गए-होगा इससे निस्तार नहीं ॥

अब तलक प्रार्थना ने उनकी तपसीवर प्राण बचाये हैं।
बीता है एक वर्ष लेकिन, अबतक दोनों बेखाये हैं॥"

यह सुन दुर्वासा गए भक्तराज के पास।
उसी जगह तत्काल ही पहुँचे रमानिवास॥
किया इशारा चक्र को, वह हट गया तुरन्त।
भक्त चरण में गिर पड़ा जब देखे भगवन्त॥

मुनिराज कह उठे–"दीजे क्षमा, मैं आया शरण तुम्हारी हूँ।
वह बोले–"कैसी क्षमा नाथ, मैं सेवक आज्ञाकारी हूँ॥"
हरि अम्बरीष दुर्वासा को–तब छाती से लिपटाते हैं।
तप और भक्ति का यह झगड़ा यह कहकर के निपटाते हैं॥
"भक्त और तपसी दोनों ही, मुझको प्राणों से प्यारे हैं।
है क्रोध बुरा इस कारण ही मुनिराज, भक्त से हारे हैं॥"

यह कह दोनों ने लिये–युगल चरण फिर थाम।
तू भी सीताराम कह, अब 'जय सीताराम'॥

❀ गाना ❀

जगत् मे क्रोध बड़ा बैताल।
ताल ठोंककर बड़ों बड़ों को पहुँचाता पाताल॥ जगत्०॥
हृदय-कुण्ड में क्रोध की जभी धधकती आग।
स्वाहा होते हैं सभी ज्ञान ध्यान बैराग॥
तपकी ज्वालामी बुझजाती जब जलती यह ज्वाल॥ जगत्०
जैसे तरुवर के लिए–दिन दिन दीमक खाय।
वैसे ही नर देह को देता क्रोध सुखाय॥
बलवानों को निबल करता क्षण में यह चण्डाल॥ जगत्०॥

—०—

❀ इति ❀

भक्त सूरदास

सम्पादक—
नेपाल गवर्नमेण्ट से कथावाचस्पति की पदवीप्राप्त—
कीर्तनकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—
राधेश्याम कथावाचक

प्रकाशक—श्रीराधेश्याम पुस्तकालय, बरेली

लेखक—

साहित्यभूषण श्रीललित गोस्वामी

भक्त सूरदास

संपादक—

नेपाल गवर्नमेंट से "कथावाचस्पति" की पदवीप्राप्त—
[illegible]निधि, नाट्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—

पं० राधेश्याम कथावाचक

प्रकाशक—

द्वितीय बार २०००] सन् १९५६ ई० [मूल्य सात आने।

मुद्रक—पं० रामनारायण पाठक, श्रीराधेश्याम-प्रेस, बरेली।

❁ ॐ ❁

✻ मङ्गलाचरण ✻

(१)

वह तेरा होजाएगा, जब तू सर्बस बलिहार करेगा।
प्रभु को प्यार करेगा तू तो प्रभु भी तुझको प्यार करेगा॥

(२)

अशरण-शरण कहाता है वह, दीनों को अपनाता है वह।
जहाँ भक्ति को पाता है वह, स्वयं भक्त बन जाता है वह।
गीध, अजामिल का उद्धारक—तेरा भी उद्धार करेगा॥

(३)

द्वार-द्वार ठोकर है खाता, उससे क्यों न माँगने जाता?
जो सबका है भाग्य-विधाता, अनदाता का भी अनदाता।
तू यदि दीन सुदामा है तो—वह तन्दुल स्वीकार करेगा॥

(४)

मात पिता, क्या बहना भैया—कोई नहीं कुशल खेवैया।
किसे सौंपता अपनी नैया—माँझी तो है कृष्ण कन्हैया?
दे—दे अब पतवार उसीको—बेड़ा वह ही पार करेगा॥

प्रथम उन्हें करता नमन यह जन बारम्बार—
जो—जग के कर्तार हैं—जग के पालनहार ॥
नमस्कार उनके लिए हैं फिर विविध प्रकार ।
मरकर भी जो अमर हैं—यशरूपी तन धार ॥
क्यों न करे यह भारती—भारत पर अभिमान ?
चारों युग में रहा यह—चौंसठ कला निधान ॥
योद्धा, योगी, भक्त, कवि, पण्डित, नीति-सुजान ।
सदा रही इस देश में नर-रत्नों की खान ॥
'सूरदास' जिनका चरित कहते हैं हम आज ।
कवि-नभ के वे सूर्य थे—भक्तों के सिरताज ॥
होती यों तो जन्म से प्रतिभा कवि के पास ।
किन्तु प्रेम की चोट से मिलता उसे विकास ॥

इहलोक प्रेम का प्रथम पाठ—प्रेमी कवि जब पढ़ जाता है—
तब स्वयं पारलौकिक में जा—परमात्मा तक को पाता है ॥
क्या कालिदास, क्या तुलसिदास, सब फूल इसी माला के थे ।
फिर हुए महान्, छात्र पहले वे प्रेम-पाठशाला के थे ॥

सूरदासजी भी बने—इसी भाँति हरिभक्त ।
ये यह भी आरम्भ में बड़े रूप-आसक्त ॥
गायन पर एक गायिका के-तन-मन-धन से बलिहारी थे ।
फिर बने बिहारी के गायक, पहले खुद रसिकबिहारी थे ॥
जब साँझ सवेरे ब्रजवासी प्रभु की उपासना करते थे ।
यह सुन्दरता के मतवाले, सौन्दर्य-साधना करते थे ॥
चलते, फिरते, हँसते, रोते, गाते थे गान सुन्दरी का ।
खाते, पीते, सोते, जगते, रहता था ध्यान सुन्दरी का ॥
अब भी है आगरे में एक 'रुनकुता' ग्राम ।
वहीं 'रेणुका तीर्थ' है—यमुना-तीर ललाम ॥
सारस्वत ब्राह्मण 'रामदास', वासी रुनकुता ग्राम के थे ।
यह 'सूरजचन्द' नामवाले-उनके ही अन्तिम लड़के थे ॥
विक्रम का पन्द्रहसौ चालिस-संवत जिस समय चल रहा था ।
'श्रीसूरज-चन्द्र'-शक्तिवाला-बालक अवतरित हो चुका था ॥
सूरज की वह गायिका, वह सुन्दरी, सुजान ।
रहती थी आगरे में-गाती थी नित गान ॥
एक रात सो रहा था-जब सारा संसार ।
बरसाते थे मेघगण—वर्षा मूसलधार ॥
ऐसे में सूरज उठा—सहसा शय्या-त्याग ।
जाने उससे कह दिया-किस सपने ने-'जाग' ॥
डगमगा उठा तूफानों से—संसार किन्तु वह रुका नहीं ।
हिल गई भवन की एक-एक-दीवार, किन्तु वह रुका नहीं ॥
खड़-खड़ा उठा कोठार ओर-घर-द्वार, किन्तु वह रुका नहीं ।
कर दिया प्रकृति ने-रुकने पर लाचार, किन्तु वह रुका नहीं ॥

चलने को उद्यत हुआ, प्रेमी यह जिस काल—
जाग उठा रोगी पिता—देख स्वप्न विकराल ॥
बोला-खाँसी का वेग रोक,—"चुपके से कहाँ चला बेटा ?
ऐसे तूफ़ानों में—कोई—जाता है कहीं भला बेटा ?
गिरते हैं—गोले से ओले-तल्वारों सी बौछारें हैं।
आहें भरता है उजियाला, अँधियारे की जयकारें हैं॥
इस अवसर पर, इस रोगी को—जो तेरा पिता कहाता है—
जानेवाले बेटे, बतला,—तू किसपर छोड़े जाता है ?
वह द्वार कौनसा है—जिससे—नीचा है द्वार पिता का भी ?
वह प्यार कौनसा है—जिसने-जीता है प्यार पिता का भी ?"

"क्या उत्तर दूँ ?" युवक वह कर न सका निर्धार ।
मन ही मन होने लगी—झूठ, सत्य में रार ॥
पड़ी सत्यता के गले आखिर को जयमाल ।
पितृभक्ति कहला उठी—सच्चा सचा हाल—
"हुआ स्वास्थ्य में आपके, अबतक नहीं सुधार ।
कब से मैं कररहा हूँ—यह सेवा, उपचार ॥
इस चक्कर में होगया—उल्टा मैं बीमार ।
कहीं—मनोरञ्जन करूँ;—है अब यही विचार ॥
सची कहता हूँ पिता, बुरा न मानें आप ।
प्रकट कर्म ही पुण्य है, गुप्त कर्म ही पाप ॥
गायन-वादन में, नर्तन में—जो भवन स्वर्ग से सुन्दर है ।
संगीतकुशल सुन्दरी जहाँ—उर्वशि-रम्भा से बढ़कर है ॥
जो ललित कला की देवी है, जो सुन्दरता की रानी है ।
मैं जाता हूँ—फिर वहीं आज, जीवन की ज्योति जगानी है ॥"

वृद्ध पिता के क्रोध का रहा न पारावार ।
पर, खाँसी के कष्ट से–उतर गया यह ज्वार ॥
धीरे-धीरे बोले–"तूने जो पथ अपनाया फूलों का ।
बेटे, तुझपर है थाल नहीं, वह है रोड़ों का, शूलों का ।
तू ब्राह्मण है, वह ब्राह्मण है–जो धर्म सिखाता है जग को ।
निज विद्या–निज आचरणों से विद्वान् बनाता है जग को ॥
शिक्षा की आवश्यकता–तो, उन बच्चों ही को होती है ।
रखता गोदी में बाप जिन्हें, माँ जिन्हें संग ले सोती है ॥
तू तो अब पूरा युवक हुआ, क्यों करता है घातें ऐसी ?
आती है नहीं लाज तुझको–करते मुझसे बातें ऐसी ।
जिसने ठाकुर से भी पहले–प्रतिदिन तेरा मुख देखा है ।
जिसने तेरे जीवन-सुख में अपना जीवन-सुख देखा है ॥
डरता है नहीं उस पिता से, तो डर, डर जगत्पिता से डर ।
मेरी अन्तिम साँसों से डर, मेरी प्रज्वलित चिता से डर ॥'

"डरकर ही तो चला हूँ–"वह कह उठा तुरन्त ।
'पुत्र देख सकता नहीं–पिता, तुम्हारा अन्त ॥
बोल रहा मस्तिष्क–रुक, रुकना तेरा धर्म ।
पर कहता है हृदय यह–चल, चलना ही कर्म ॥
क्या उचित और क्या अनुचित है, इसका अब नहीं ज्ञान मुझको।
हाँ, शक्ति खींचती है कोई, इतना है शेष ध्यान मुझको ॥
परलोक-गमन के प्रथम–पिता, इस दुर्बल सुत को बल देना ।
कुछ भी सेवा की हो मैंने–तो अपना आशिष-फल देना ॥"

हुआ धमाका सा तुरत, खुला भवन का द्वार ।
सूरज बाहर को चला–जैसे तीव्र बयार ॥

चलते-चलते फिर सुना उसने हाहाकार—
"बेटा, बेटा, ठहर, सुन" बूढ़ा उठा पुकार ॥
"मान नहीं, अब करेगी रमणी वह अपमान ।
दे न सका मैं, किन्तु वह देगी तुझको ज्ञान ॥"
इधर पिता मूर्च्छित हुआ, भवन हुआ सुनसान ।
उधर गुनगुनाता चला-पुत्र इस तरह गान ॥

※ गाना ※

मन की ज्योति, डगर बतलादे ।
मेरे प्रिय का घर बतलादे ॥
छाया है नभ पर बादल-दल ।
फैली है धरती पर दल दल ॥
ऐसे में, हे ज्ञान-बिजुरिया,—
तू सत्, शिव, सुन्दर बतलादे ॥"

—:o:—

आता था घर के निकट-रमणी का जब मित्र ।
देख रही थी वह उधर-सपना एक विचित्र ॥
कामदेव से भी सुघर, अति सुन्दर, सुकुमार—
बालक कोई खड़ा है—किए दिव्य शृङ्गार ॥
मुरली जैसे स्वरों में कहता है-"री, जाग ।
तू गोपी है, खेल अब—मुझ ग्वाले से फाग ॥
तेरे निर्धन मा-बाप तुझे-चल बसे छोड़कर बचपन में ।
जब होश सँभाला तूने-तो पाया गायक के आँगन में ॥
बूढ़ा गायक पुत्री-समान-तुझको सगीत सिखाता है ।
पण्डित भी एक नित्य आकर पढ़ना-लिखना सिखलाता है ॥
भक्तों की गाथा पढ़-पढ़—तू प्रायः गद्गद् होजाती है ।
सन्तों के चित्र देखती है-तो उनही में खो जाती है ॥

हर नया गीत - सबसे पहले—तू मेरे लिए सुनाती है ।
गाते गाते, मनवाले तू—नाचने नलक लग जाती है ॥
मैं जान रहा हूँ—किस कारण—हो पाया नहीं ब्याह तेरा ।
गायन, नर्तन ही के द्वारा—होता है नित निर्वाह तेरा ॥
पूर्व जन्म में किए हों जिसने सौ शुभ कर्म ।
कर बैठा हो भूल से कोई एक अधर्म ॥
वह भी जग में जन्म ले—करता है फल-भोग ।
जीव दुःख ही भुगत कर, होता सुखी निरोग ॥
'सूरज' जो तेरा प्यारा है वह भी सरकारी आत्मा है ।
तुम दोनों को उस जगह प्रकृति—ला रही—जहाँ परमात्मा है ॥
उस ब्राह्मणकुल के दीपक को—बनना है सूरज एक दिवस ।
चेतादे उसको, चमकेगी उससे मन की रज एक दिवस ॥
तुम दोनों का, एक ही साथ, यह मानव-जन्म सफल होगा ।
जगमगा उठा वह जीवन, तो—यह जीवन भी उज्ज्वल होगा ॥

❀ गाना ❀

भक्तिनि, आ अब मेरे द्वारे, प्रेमिनि, आ अब मेरे द्वारे ।
साथ साथ 'सूरज' को भी ला, जो हैं मेरे प्यारे ॥
धोना मैल सरल है तन का, होना स्वच्छ कठिन है मन का ।
ले अब घूँट ध्यान-जीवन का जिससे धुल जाएँ मल सारे ॥
तू चन्दा सी सबको भाती, सूरज से प्रकाश है पाती ।
सूरज भी है जिसको भाती, यह अब तुझे पुकारे ॥"

—०—

इतना कहकर होगई छवि वह अन्तर्द्धान ।
आँखें खुलते ही बनी—रमणी रमा-समान ॥
इतने ही में—सामने आया 'सूरजचन्द' ।
"तुम !-इस अवसर ?-किसलिए ?" बोली वह स्वच्छन्द ॥

यह बोले—"अवसर नहीं कभी देखते मीत ।
जब जी चाहा—आगए यही प्रीति की रीत ॥
मैं बन्दी था, भवन था मेरा कारागार ।
आज मनाऊँ-मुक्त हो—क्यों न मुक्ति-त्योहार ?
करता था कई महीने से—सेवा निज रुग्ण पिता की मैं ।
पूरी कर सका नहीं अबतक—इच्छा निज रुग्ण पिता की मैं ॥
सचमुच वे मरनेवाले हैं, इसलिए भाग आया हूँ मैं ।
मरने के पहले ही उनको उस जगह त्याग आया हूँ मैं ॥
बूढ़े, बीमार, बाप से जब—रह नहीं गया अनुराग मुझे—
तब स्वयं समझ सकती हो तुम - कितनी है तुमसे लाग मुझे ॥"
रमणी ने तत्क्षण कहा—"है कैसा मतिमन्द !
पिता पड़ा है मरण को—सुत को प्रिय आनंन्द ॥
जिसने तुझको पाला, पोसा, शिक्षा, दीक्षा दी, ज्ञान दिया ।
धन, धान्य, वस्त्र, भूषण-समेत—गृहस्वामी का सम्मान दिया ॥
उस वृद्ध पिता को कर निराश—तू यहाँ चला आया कैसे ?
उस रोदन में—निर्मम तुझको मेरा कोठा भाया कैसे ?
क्या यौवन के अन्धे जग में—बूढ़ेपन का कुछ मूल्य नहीं ?
तेरे ही मन का सब कुछ हो, उनके मन का कुछ मूल्य नहीं ?
'मैं उनका एक सहारा हूं'—यह भी सोचा न हाय तूने !
'मैं उन्हें 'श्रवण' सा प्यारा हूं'—यह भी सोचा न हाय तूने !
अब देगा कौन दवा दानी—यह भी सोचा न हाय तूने !
'अब कौन पिलाएगा पानी', यह भी सोचा न हाय तूने ॥
सुनने आए संगीत यहाँ—जो ऐसी करुण-कहानी में ।
मैं तो कहती हूं आग लगे—उस चाहत और जवानी में ॥"

"हुआ न था मन पर कभी ऐसा वज्राघात ।"
द्विज ने मन ही मन कहा -"है अचरज की बात ॥
सुनता हूँ मैं नरक से आज स्वर्गसन्देश ।
देती है यह नर्तकी-ब्राह्मण को उपदेश ॥
निश्चय कोई धनवान् पुरुष— गाना सुनने को आया है ।
लाखों का लालच देकर ही—उसने, इसको भरमाया है ॥
कुछ भी हो, छीन नहीं सकता—मुझसे निर्मम संसार इसे ।
यह ब्राह्मण सूरज, करता है—मन-वचन-कर्म से प्यार इसे ॥"
झट उतार निज गले से—हीरोंवाला हार ।
कहा—"करो स्वीकार यह, छोटा सा उपहार ॥"
आया नारी-हृदय में—जब गहने का लोभ ।
तभी किसी की कृपा से—प्रकटा मन में चोभ ॥
हीरे की जगमग बोल उठी—"क्यों पाया रत्न गँवाती है ?
धन ही इस जग में सब कुछ है, निर्धनता ठोकर खाती है ॥
उपदेश छोड़, कर प्यार इसे, यह हार तुझे हथियाना है ।
अवसरवादी रमणी, तुझको, अवसर से लाभ उठाना है ॥"
होजाती निष्प्रभ दीपशिखा, जैसे सूर्योदय होने से ।
धुँधलाई रत्नप्रभा;—ज्योंही चमके दो नयन सलोने से ॥
झट से चञ्चल दुर्बल मन को, बलवान बुद्धि ने ललकारा ।
वह पड़ी ज्ञान की तीव्र चोट, कह उठा लोभ-'हारा, हारा' ॥
नारी ने किया अटल निश्चय, "अब यह व्यापार नहीं होगा ।
माया के हाथों और अधिक अपना शृङ्गार नहीं होगा ॥
नश्वर तन का बनाव तजकर अब आत्म-सुधार करूँगी मैं ।
अपना उद्धार करूँगी मैं, इसका उद्धार करूँगी मैं ॥

संकल्पसिद्धि हो, हे ईश्वर, ऐसी अनुरक्ति प्रदान करो ।
हे श्याम सलोने बालकृष्ण, अपनी कुछ शक्ति प्रदान करो ॥

❀ गाना ❀

जगत् में वह ही जीवन सार—
आप तरे औरों को तारे-फँसे नहीं मँझधार॥
भोजन, यौवन का होता है-पशु तक में व्यवहार।
मानव वह है-मानव का जो करता है उद्धार॥"

—:०:—

ठुकराकर उस हार को-बोली वह तत्काल—
"मायावी, रख पास ही, अपना मायाजाल ॥"
मन ही मन फिर ब्राह्मण करने लगा विचार—
"क्यों उल्टी बह रही है आज नदी की धार ?"
गहरी चिन्ता में हुआ-जब वह प्रेमी मौन ।
कहा प्रेमिका ने-"बता यह तो-है तू कौन ?"
"ब्राह्मण हूँ" उसने कहा, यह बोली-"है झूँठ—
टूट गई तलवार है, थामे है तू मूँठ ॥

ब्राह्मण, तेरे गौरव, तेरे ब्राह्मणपन का अवसान हुआ ।
है पुतला आज वासना का, ब्राह्मण तो अन्तर्द्धान हुआ ॥
ब्राह्मण होता तो तुझमें कुछ उपकार, विवेक, धर्म होता ।
करता जीवों पर नित्य दया, परहित ही मुख्य कर्म होता ॥
जब श्रद्धा, निष्ठा, ज्ञान, भक्ति, सबका महत्त्व घट जाता है ।
जब सन्ध्या, तर्पण, अग्निहोत्र, नास्तिक जग को न सुहाता है ॥
तब वेद, पुराण, उपनिषद् का-सन्देश सुनाता है ब्राह्मण ।
भूले भटके, खोए जग को-सत्पथ पर लाता है ब्राह्मण ॥
कितनी लज्जा का है प्रसङ्ग, ब्राह्मण, यज्ञोपवीतधारी ।
पानी के लिए पिता तरसे, पाजाये सब कुछ परनारी !!

तू कहता तो है वार वार-'मैं तेरा प्रेम-पुजारी हूँ' ।
पर मैं कैसे विश्वास करूँ-मैं तेरी सच्ची प्यारी हूँ ?
नारी के लिए नहीं रखता—जो बेटा मान पिता का भी ।
जो मुग्ध गायिका पर होकर-खो देता ध्यान पिता का भी ॥
जो राग-हेतु रोगी का भी—सम्बन्ध तोड़ आसकता है ।
वह कभी-रागवाली को भी क्या नहीं छोड़ जासकता है ?
माली ने बाग उजाड़ दिया-तो फिर क्यारी का क्या होगा ?
जो हुआ पिता का सगा नहीं, वह परनारी का क्या होगा ?'

ब्राह्मण सकुचा सा गया, बोला-"मान न मान ।
निश्चय तुझसे फँसा है—कोई- लक्ष्मीवान ॥"
'हाँ-हाँ"-रमणी ने कहा-मन ही मन कर ध्यान-
"मैं जिसकी दासी बनी, है वह लक्ष्मीवान ॥

जो सब सेठों से बड़ा सेठ, दाताओं का भी दाता है ।
जिसके द्वारे जाकर याचक-बिन माँगे सब कुछ पाता है ॥
है वह ही प्रभु प्रियतम मेरा, उस ही को मैंने फाँसा है ।
मैं मात नहीं खा सकती हूँ-जब मेरा सीधा पाँसा है ॥"

ब्राह्मण बोला-"यह बता क्या है उसका नाम ?"
वह बोली-"क्या नाम है? नाम ?-रमापति राम॥
प्रकट करेगा अर्थ क्या, शब्द बिचारा एक ।
उनके रूप अनेक हैं, उनके नाम अनेक ॥

वे विद्यानाथ कहाते हैं, वे लक्ष्मीनाथ कहाते हैं ।
उन प्रभु को कोई विश्वनाथ या जगन्नाथ बतलाते हैं ॥
गौतमपत्नी के उद्धारक—हैं दशरथनन्दन राम वही ।
द्रौपदि की पत रखनेवाले—हैं नन्दलाल घनश्याम वही ॥

मुझ जैसे कितनों का बन्धन–उन प्रभु ने क्षण में काटा है ।
मैंने उनसे व्यापार किया— अब मुझे न कोई घाटा है ॥"

अन्तरिक्ष में इसी क्षण, हुआ किसी का हास ।
पास नहीं; वह दूर था, दूर नहीं, वह पास ॥
ब्राह्मण चकरा सा गया—'अद्भुत है यह रात !
यौवन को सन्यास की सुझा रही है बात ?

छाया है क्यों वैराग्य प्रिये—तेरे अनुराग भरे मन में ?
मधुवन की कोयल जाती है–तप करने कहीं तपोवन में ?
इस रूप और इस यौवन पर–अपने हाथों आघात न कर ।
यह दिन हैं- हँसने, गाने के, रोने-धोने की बात न कर ॥
तू सुन्दरता से भी सुन्दर, मादकता से भी मादक है ।
तू कोमलता से भी कोमल, मोहकता से भी मोहक है ॥
तेरे यौवन के आने पर, मधुऋतु ने आना सीखा है ।
तुझसे कलियों ने मुस्काना, कोयल ने गाना सीखा है ॥
ऊषा ने तुझसे लाली ली, चन्दा ने उज्ज्वलता पाई ।
हिरनों ने दृग, हंसों ने गति, लहरों ने चंचलता पाई ॥
रजनी जाने ही वाली है, वीणा वादन कर चन्द्रमुखी ।
विहँगों के गाने से पहले–अपना गायन कर चन्द्रमुखी ॥
दिन से पहले ही–खिल जायें कलियाँ–ऐसा संगीत सुना ।
घर क्या, मस्ती से भर जायें गलियाँ–ऐसा संगीत सुना ॥"

गरज उठी अब कामिनी–"है कितना अज्ञान—
समझ रहा है भस्म को–तू सुबर्ण की खान !!

जिसको तू रूप मानता है–यह खड़िया का उजलापन है ।
कच्चा यह रंग गुलाबी है–तू जिसे समझता यौवन है ॥

यह गोरा चिट्टा तन—जिसपर तेरा मन अति बौराया है ।
चमकीला एक खिलौना है, माटी से इसे बनाया है ॥
परिणाम जानना हो तुझको-यदि जीवन और जवानी का ।
तो देख सामने-यमुना में-वह एक बुलबुला पानी का ॥
जैसे वह बनता मिटता है-जीवन से मुक्त नहीं होता ।
त्योंही नर जीता, मरता है-बन्धन से मुक्त नहीं होता ॥
पगले, संसार नहीं है यह-आशाओं और उमंगों का ।
चञ्चल समीर द्वारा-जल पर अङ्कित है चित्र तरङ्गों का ॥"

उसने सोचा-"नारि है-या यह सन्त महान ।"
इसका जारी ही रहा-इसी तरह व्याख्यान—

"होने पर विद्युत्शक्ति नष्ट-जैसे गोला रह जाता है ।
त्योंही चेतन के उड़ते ही-जड़ सा चोला रह जाता है ॥
रहते हैं नाक, कान वे ही-पर उनमें दमक नहीं रहती ।
रहती हैं आँखें वे ही-पर-उनमें वह चमक नहीं रहती ॥
ऊषा जैसे उज्ज्वल कपोल-सन्ध्या की छाया पाते हैं ।
जो अधर गुलाबी लगते थे-वे काले से पड़ जाते हैं ॥
जिस मुख पर प्रियजन मरते थे-उसपर पट डाला जाता है ।
घरवालों द्वारा-अर्थी को-अति शीघ्र निकाला जाता है ॥
जो हाथ प्यार को बढ़ते थे-वे ही फिर चिता बनाते हैं ।
जल से भी जिसे बचाया था-ज्वाला में उसे जलाते हैं ॥"

इसी समय, दीवार की घड़ी होगई बन्द ।
रमणी ने सङ्केत कर कहा-'चेत मतिमन्द ॥

मैं भी मर जाऊँ-इसी तरह, तो विप्र, करेगा प्यार ? बता ?
जैसे अब होता है-तब भी-होगा मुझपर बलिहार ? बता ?

उस श्वास-विहीन शुष्क मुख में क्या खोजेगा उच्छ्वास मधुर ?
पाएगा रुद्ध हृदय-गति में—क्या प्रियता का विश्वास मधुर ?
उस शीतल तन का आलिंगन क्या तेरे तन को भाएगा ?
वह सूखा, मुर्झाया मुखड़ा—क्या तेरे मन को भाएगा ?
उन मिंचे हुए अधरों से क्या—तब भी अधरामृत पाएगा ?
उन फटी हुई आँखों से क्या—आँखों की प्यास बुझाएगा ?
तेरी यह प्रिया, बता ब्राह्मण, क्या तब भी प्रेम-प्रिया होगी ?
तू चीख पड़ेगा भय खाकर, जब मेरी प्रेत-क्रिया होगी ॥

उभरेगा उस रूप से—जन्म जन्म का मैल ।
तू चिल्लाकर कहेगा—'रमणी ? नहीं, चुड़ैल' ॥

सम्पूर्ण प्रेम यदि उमड़ पड़ा—इस प्रेमिनि के मर जाने पर ।
रख लेगा लाश पास अपने—चिल्लाएगा सिरहाने पर ॥
फिर भी वह सुख कितने क्षण का—कीड़े उसमें पड़ जायेंगे ।
दुर्गन्ध-भयानक फैलेगी—जब अङ्ग अङ्ग सड़ जायेंगे ॥
मक्खियाँ भिनभिना उट्ठेंगी, मच्छर आ-आकर खायेंगे ।
तू उन्हें हटायेगा, परन्तु, तुझसे न हटाये जायेंगे ॥
चल दिया छोड़कर लाश कहीं—तब तो अनर्थ होजाएगा ।
कउओं, कुत्तों, गिद्धों का दल, नोचेगा मांस उड़ाएगा ॥"

"बसकर", ब्राह्मण ने कहा—"हृदय हुआ दो टूक"।
रमणी कहती ही रही, रही न क्षणभर मूक—

"यदि सदा चमकना है तुझको—तो अमरज्योति तक चल प्रेमी ।
जिसको न बुझा पाए कोई—ऐसी ज्वाला में जल प्रेमी ॥
उस दिव्य राग का रसिया बन—जो आगे चलकर रोग न हो ।
मिल, उस प्रियतम से मिल, जिससे मिलकर फिर कभी वियोग न हो ॥

हाड़ चाम की देह से–करता जितना प्यार—
प्रभु से उतना प्यार हो— तो क्षण में उद्धार ॥"
सचमुच उस क्षण गगन भी उट्ठा यही पुकार ।
दोहा दुहराने लगी–यह ही— हर दीवार—
"हाड़ चाम की देह से करता जितना प्यार—
प्रभु से से उतना प्यार हो तो क्षण में उद्धार ॥"
ब्राह्मण के भी हृदय में हुई आत्म-झङ्कार—
ब्रह्म-तत्त्व प्रकटित हुआ, जाग उठा संस्कार ॥
अब उसके चारों तरफ़ थी यह ही गुञ्जार—
भीतर या बाहर यही–ध्वनि थी–बारम्बार—
'हाड़ चाम की देह से करता जितना प्यार ।
प्रभु से उतना प्यार हो–तो क्षण में उद्धार ॥"
रमणी ने भी हाथ में अब ले लिया सितार ।
तार तार– द्वारा हुआ इसका ही विस्तार ॥
"हाड़ चाम की देह से करता जितना प्यार ।
प्रभु से उतना प्यार हो—तो क्षण में उद्धार ॥"

❊ गाना ❊

"माँझी, रोता क्यों मँझधार, हाथों में तेरे पतवार ।
अपनी डगमग नैया का है–तू ही खेवनहार ॥
बाहर का नाता सपना है, अपने हो भीतर–अपना है ।
अपना आपा आप जगाले–तो क्षण में उद्धार ॥
क्यों सितार के तार तार में–उलझ रहा है प्यार प्यार में ।
अपने इकतारे को लेकर–बजा एक ही तार ॥
तेरा आतमाराम तुझी में–तेरा 'राधेश्याम' तुझी में ।
अपने ही बल–अपनी नैया–ले चल पल्ली पार ॥
—(राधेश्याम कथावाचक)

गद्गद् हो–द्विज ने लिए सुन्दरि के पग थाम ।
कहा—"पथप्रदर्शक, तुझे बारम्बार प्रणाम ॥

सचमुच मैं अन्धकार में था–तूने प्रकाश का दान दिया ।
मुझसे अज्ञानहृदय नर को–सुरदुर्लभ आत्मिक ज्ञान दिया ॥
तेरे द्वारा न आज देवी–सुनने को यह व्याख्यान मिला ।
युग युग के शापों को मेरे–वर बनने का वरदान मिला ॥
करने को दया दीन जन पर–सचमुच ही दयाधाम बोले ।
'रमणी' तू एक दिखावा है–वास्तव में आज राम बोले ॥
इस विद्यालय से उठकर मैं–उस विद्यालय अब जाऊँगा ।
पढ़ लिया पाठ पहला तुझसे, अब ऊँची शिक्षा पाऊँगा ॥
हे ज्ञानशक्ति-दात्री, तुझको यह ब्राह्मण शीश नवाता है ।
गोविन्द बताया है तूने, मैं चेला, तू गुरुमाता है ॥"

रमणी का मुख खिल गया तत्क्षण कमल-समान ।
देखे ब्राह्मणरूप में उसने अब भगवान ॥
इधर रुनकुता को किया सूरज ने प्रस्थान ।
मन ही मन गारहा था–अब वह ऐसा गान ॥

* गाना *

"जीवन है माटी का फूल ।
आज नहीं तो–कल होना है–इसी धूल में मिलकर धूल ॥
जिस माटी ने इसे उगाया, जिस माटी ने इसे संभाला ।
भूल गया यह उस माटी को होकर कञ्चन का मतवाला ।
समझा यह पागल–बहाव को नाव, तरंगों ही को कूल ॥ १ ॥
माटी सोने की भी होती, माटी चाँदी की भी होती ।
सोने चाँदी के फूलों को–फिर भी मालिन निशिदिन रोती ।
हँस हँस कहता–बन का माली–यही मोह माया का मूल ॥ २ ॥"

—:०:—

सुनी मार्ग ही में खबर, जिसने किया उदास ।
"रामदास अब है कहाँ ? गए राम के पास ।"
घबराया फिर ब्राह्मण, भूल गया सब चैन ।
भारी अन्तर्द्वन्द्व से-हृदय हुआ बेचैन ॥
लौटा रमणी की तरफ़-करता हाहाकार ।
"अब तो मेरी नाव की-है तू ही पतवार ॥"
बोली रमणी कड़क कर-"फिर वह ही व्यवहार ?
यात्री से कह रहा तू नाव लगादे पार ?
प्रेमी कोमल समझा जाता, कवि भी कोमल कहलाता है ।
प्रेमी है, अथवा कवि है तू, कुछ नहीं समझ में आता है ॥
ऐसा हठयोगी बन, जिसपर गिर जाय शिला तो ज्ञात न हो ।
वह वैरागी हो-वज्र गिरे-फिर भी अनुभव आघात न हो ॥
है शेष अभी तक जो मन में-उस मधुर मोह को आग लगा ।
जिस राग रंग में मस्त रहा-उस समारोह को आग लगा ॥
जो प्राण समझता था-तुझको-उस तन में आग लगाने जा ।
नवजीवन पाया, तो-पिछले जीवन में आग लगाने जा ॥
रमणी तुझको जब भाती है, रमणो को तू जब भाता है—
तो तेरे पूज्य पिताजी से-इस रमणी का भी नाता है ॥
तू धर्म छोड़ता है अपना-तो मैं कर्तव्य निभाती हूं ।
तू मेरा चित्र निहार यहाँ, मैं वहाँ चिता जलवाती हूं ॥"
वाक्य न था-यह वाण था-हुआ हृदय के पार ।
आँसू बन बनकर बही, कोमलता की धार ॥
उधर सूर्य निकला, इधर प्रकटा उर में ज्ञान ।
देखे रमणीरूप में- इसने भी भगवान ॥

घर जाकर पूरा किया मृत का सब संस्कार ।
लुटा भिक्षुकों को दिया- अन-धन का भण्डार ॥
घर ने मन्दिर का रूप धरा, होगई प्रतिष्ठा प्रतिमा की ।
रमणी का वही पुजारी अब, करता था पूजा प्रतिमा की ॥
आती थीं रास-मण्डली अब, निशिदिन हरिकीर्तन होता था ।
भक्तों का गायन होता था, सन्तों का प्रवचन होता था ॥
इस नवयुग-इस नव जीवन के-ज्योंही कुछ वर्ष व्यतीत हुए ।
इनके उर-अन्तर से गुञ्जित-सुन्दर कविता-संगीत हुए ॥
रच-रचकर सरस पदावलियाँ-यह गाने भली प्रकार लगे ।
बिसरी गोरी सुन्दरी,—श्यामसुन्दर से करने प्यार लगे ॥
किन्तु प्रकृति की परख का-हुआ नहीं था अन्त ।
शिशिर तभी तो जायगा-जब आजाय वसन्त ॥
जिसको भी अपना समझ-अपनाते भगवान—
हरते उसके दोष सब-रचकर विविध विधान ॥
यमुना न्हाकर एक दिन-लौट रहे थे ग्राम ।
जाती थी कोई 'बधू' पनघट से निज धाम ॥
उस रमणी के रूप का-ऐसा पड़ा प्रभाव ।
पीछे पीछे चल पड़े-भूले सन्त-स्वभाव ॥
जिस पथ पर, जिस पगडंडी पर-पनिहारिन के पग पड़ते थे ।
यह उसी ओर को-बिन सोचे-पागल की नाईं बढ़ते थे ॥
वह पतिव्रता घर पहुँची-तो यह घर के बाहर खड़े रहे ।
फिर दर्शन हों इस आशा से, दर्वाजे ही पर अड़े रहे ॥
नाच उठी जब लालसा, खटकाया तब द्वार ।
सुना-उस समय-त्रिया से-कहता था भर्तार ॥

"कोई भी हो–सज्जन है वह–यह मेरा आत्मा कहता है ।
हे पतिव्रते, मेरे मुख से–तेरा परमात्मा कहता है ॥
संशय में होता है विनाश–जा, दर्वाजे पर जा, पहले ।
मुझको पीछे भोजन देना, उसको भिक्षा दे आ. पहले ॥"

गृहस्वामी से जब सुना–यह गृहस्थ का धर्म ।
सूझा अन्तिम बार–तब--भूले को निज कर्म ॥
सोचा–"जो होते नहीं–यह दो पापी नैन ।
क्यों बनता दिन ज्ञान का–फिर माया की रैन ?

साक्षात् रूप का होने पर, कट जाय बुद्धि की डोर न क्यों ?
हो मुख्य द्वार जब खुला हुआ, घुस आये घर में चोर न क्यों ?
सम्भव साधना कदापि नहीं, यदि ऐकान्तिक आनन्द न हो ।
खटपट बाधा बन जाती है–पट मन्दिर का यदि बन्द न हो ॥

नहीं जगे–तो–सदा को- सोओ, नयन विशाल ।
हे पतंग सम प्रिय अभी–दीपशिखा की ज्वाल ?

देता है दीप शलभ को भी–उजियाला बस दो चार पहर ।
चन्दा चकोर को करता है–मतवाला बस दो चार पहर ॥
दिन ही में सूरज से विकास–कमलों की कलियाँ पाती हैं ।
निशि ही में ज्योतिर्मय मणियाँ–तम को आलोक लुटाती हैं–
बानक जब बना अचानक तो, मत इधर उधर 'तक' हे ब्राह्मण–
प्रतिविम्ब अनेक छोड़कर अब, चल दिव्यज्योति तक हे ब्राह्मण॥

बाहर आई 'वधू जब, ले भिक्षा का थाल ।
"दो सूजे मिल जायँगे ?" बोले यह तत्काल ॥
"सोच रही हो, क्यों खड़ी? अचरज की क्या बात ।
मुँह माँगी भिक्षा मुझे–देदो मेरी मात ॥"

पल में हल्ला मच गया, धाये सब घर छोड़ ।
'सूजों से उस शूर ने—लीं निज आँखें फोड़' ॥
जग बोला "यह क्या कर डाला?" यह बोले -"जो आवश्यक था ।
वह दृश्य देखना छोड़ दिया-जो दृश्य अशान्ति-प्रदायक था ॥
अब कर न सकेंगी भाग-दौड़-पागल सी इधर उधर आँखें ।
होते ही इनके बन्द, खुलीं जो थीं मन के भीतर आँखें ॥
अब उन ज्योतिर्मय आँखों से आँखों का तारा देखूँगा ।
जो नहीं देख पाया अबतक अपना वह प्यारा देखूँगा ॥
परमात्मा से जुड़ेगा अब आत्मिक सम्बन्ध ।
आज सूझता है मुझे कल तक था मैं अन्ध ॥
'सूरदास जी' कह उठे अब इनको सब लोग ।
गाते गाते चले यह तज सबका सहयोग—

गाना

"श्याम सलोनी सूरत वाले, मदन-मोहिनी मूरत वाले—
मैं अन्धा हूँ-तू लाठी है, तुझ बिन मुझको कौन सँभाले ?
तू चाहे तो पार लगादे, तू चाहे तो हाल डुबादे ।
मेघ समान उठादे ऊँचा, नीचा नीर समान गिरादे ।
काली रातों को उजला दिन, चन्दा को सूरज दिखलादे ।
मिटे मिटाये चित्र बना दे, बने बनाये चित्र मिटादे ।
जग के चित्र बनाने वाले, सबके मित्र कहाने वाले—
मैं अन्धा हूँ-तू लाठी है, तुझ बिन मुझको कौन सँभाले ? ॥ १ ॥

जीवन है बस्ती दो दिन की, यौवन है मस्ती दो दिन की ।
महँगी या सस्ती दो दिन की, आखिर क्या हस्ती दो दिन की ।
युग युग के लम्बे फेरों में-क्या छोटी गिनती दो दिन की ।
लेकिन स्वामी भूल न जाना, सेवक की विनती दो दिन की ।
सुना-तुझे अभिमान नहीं है-जगपति का पद पाने वाले ।
मैं अन्धा हूँ-तू लाठी है-तुझ बिन मुझको कौन सँभाले ॥ २ ॥

—०—

अब तो केवल एक थी सूरदास की टेक—
"उसी एक का हो रहूँ–जिसके रूप अनेक—
जो मथुरा में है वासुदेव, जो गोकुल में नंदलाला है।
द्वारकापुरी का जो अधीश, वृन्दाबन का जो ग्वाला है॥
जो राधेश्याम कहाता है, रुक्मिणी कृष्ण कहलाता है।
जो वशी कभी बजाता है, जो गीता कभी सुनाता है॥
रैदास सरीखे दीनों पर जो दया-भाव दिखलाता है।
जो सेनभक्त से दुखियों का, निज कर से छप्पर छाता है॥
दुर्योधन की मेवा तजकर जो साग विदुर घर खाता है।
कङ्गाल सुदामा को भी जो आगे बढ़ गले लगाता है॥
मैं उसकी शरण गया तो वह रक्खेगा अपने पास मुझे।
उसपर भी है विश्वास मुझे अपने पर भी विश्वास मुझे॥"
इस प्रकार था हृदय में—एक राग, अनुराग।
दिन दूनी बढ़ने लगी कृष्ण प्रेम की आग॥
द्वितीया के चन्दा की नाईं साक्षात्कार की लगन बढ़ी।
खाना पीना तक भूल चले—ऐसी वियोग की तपन बढ़ी॥
कैसा भोजन, कैसी निद्रा— तन मन तक की सुध खो बैठे।
जिन प्रियतम को आँखें देदीं—उन प्रियतम ही के हो बैठे॥
इस गाँव कभी, उस गाँव कभी, इस नगर कभी, उस नगर कभी।
इस घाट कभी, उस घाट कभी, इस डगर कभी, उस डगर कभी॥
धुन, लगन और अलमस्ती में— पागल से घूमा करते थे।
पथ में जो भी मिलजाता था— उससे ही पूछा करते थे—
"भाई, निरखे घनश्याम कहीं! मोहन का मिला ठिकाना है?
दिखलादो बालकृष्ण का घर— तुमने वह घर पहचाना है?

पत्तों के हाथों बता कदम, वे चीर-चुरैया देखे हैं ?
यमुना की लहर, उछल, कहदे–दाऊ के भैया देखे हैं ?
वे निश्चित दिन दर्शन देंगे–या उन्हें अचानक देखूँगा ?
वह कोटिसूर्य-सम तेजस्वी मुखड़ा मैं कबतक देखूँगा ?
मैं जब भी उन्हें पुकारूँगा–क्या वे भी मुझे पुकारेंगे ?
मैं जब जब उन्हें निहारूँगा–क्या वे भी मुझे निहारेंगे ?
जैसे भी हो उन मोहन का अब मुझको दर्शन पाना है
मैं चातक हूँ, वे स्वातिबिन्दु, उनही से जीवन पाना है ॥
मधुबन से गोकुल, गोकुल से गोवर्द्धन सीधा जाऊँगा ।
बरसाने, नन्दगाँव जाकर, फिर वृन्दाबन आजाऊँगा ॥
वृन्दाबन ? हाँ-हाँ वृन्दावन, वृन्दाबनचन्द वहीं होंगे ।
वृन्दाबन है आनन्दधाम, वे आनँदकन्द वहीं होंगे ॥

यदि उनके श्रीचरण में मिला न मुझको त्राण ।
रो रो उनकी याद में—दे दूँगा यह प्राण ॥

* गाना *

तज सारा संसार, मन, वृन्दावन चलिए ।
त्याग समस्त विकार, मन, वृन्दावन चलिए ॥
घर घर तुलसी, घर घर चन्दन, घर घर गउएं घर घर माखन,
घर घर नन्दकुमार, मन, वृन्दावन चलिये ॥
कदम कदम पर, बाट बाट पर, कुञ्ज कुंज में, घाट घाट पर,
बिखर रहा है प्यार, मन, वृन्दावन चलिये ॥
भक्ति जहाँ कहलाती रानी, मुक्ति जहाँ भरती है पानी,
ऐसा है वह द्वार, मन, वृन्दावन चलिये ॥
शान्ति और विश्राम जहाँ है, सुख भी 'राधेश्याम' वहाँ है,
पाने प्राणाधार—मन, वृन्दावन चलिये ॥

(राधेश्याम कथावाचक)

आया इनको एक दिन-यह विचार-यह ध्यान—
'गुरु बिन— पाता है नहीं कोई पूरा ज्ञान ॥'
इष्ट कृपा से भक्त का सफल होगया कार्य ।
गऊघाट पर मिलगए-गुरू 'वल्लभाचार्य' ॥
चरणों में उन्हीं महाप्रभु के-यह गायक सूरदास पहुंचे ।
प्रेमी भौंरे की भाँति शीघ्र-पद पद्मपराग-पास पहुंचे ॥
शिष्यत्व किया स्वीकार जभी मिल गईं ध्यान वाली आँखें ।
पढ़ने सी लगीं पुराणों को खुल गईं ज्ञानवाली आँखें ॥
जीवनभर गुरु की रही इनपर कृपा महान ।
इनका भी विख्यात है अबतक यह गुरु-ज्ञान ॥

* गाना *

"भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो ।
श्रीवल्लभनखचन्द्रछटा बिनु, सब जग माँहि अंधेरो ॥
साधन और नहीं या कलि में, जासों होत निवेरो ।
'सूर'कहा कहे, दुबिध आँधरो,-बिना मोल को चेरो ॥"

—:o:—   (सूर-सागर से)

यमुनातट यह एक दिन पीते थे जब नीर ।
बालक कोई आगया-ले लोटे में क्षीर ॥
कहा "सूरजी, पीजिए, लाया हूं मैं दुग्ध ।"
यह तत्क्षण पीने लगे हुए मन्त्र से मुग्ध ॥
प्रश्न उठा जब हृदय में 'है यह किसका लाल ?'
बोल उठा मन की समझ बालरूप तत्काल—
'दादा, मैं यहीं पास ही के नगले का रहनेवाला हूं ।
गो दुहना है धन्धा मेरा, मैं हूँ अहीरसुत, ग्वाला हूं ॥
कबरी, धौरी, श्यामा, गउयें, इस बन में नित्य चराता हूं ।
वे दूध यहाँ देती हैं—तो पीता हूँ और पिलाता हूं ॥

दिनभर खेतों में घूम घूम—हुड़दंग मचाया करता हूँ।
खलिहान किसी का हो—चाहे—निर्भय घुस जाया करता हूँ॥
पन्ने-सी गेहूँ की बालें—मोती-सा धान जहाँ देखा।
तब मुझे सखाओं ने मेरे-करते जलपान वहाँ देखा॥
रखवालों के आते-आते-मैं पेड़ों पर चढ़ जाता हूँ।
छिपकर पत्तों के झुरमुट में—जी भरकर उन्हें चिढ़ाता हूँ॥
बचपन से है मेरा स्वभाव—जमकर मचान पर गाने का।
यमुना के तीर—बगीचे में अलगोजा नित्य बजाने का॥
तरबूज, ककड़ियाँ, खरबूजे, पालेजों से ले आता हूँ।
फागुन में बेर तोड़ता हूँ, सावन में आम उड़ाता हूँ॥
कुछ मैं खाता, कुछ यार लोग, कुछ आते जाते खाते हैं।
इसपर भी जो बच रहता है—तो बन्दर भोग लगाते हैं॥
दादा, तुम ही कुछ न्याय करो-जब धरती सबकी माता है—
तो उसके दिए हुए धन का क्यों एक धनी बन जाता है?"

सूरदास जी हँसपड़े—"सच भी हो यह बात—
तो भी लाला है नहीं अच्छा यों उत्पात॥"
फिर बोले—"तू खेलता है जब निशिदिन खेल।
किसी साँवले ग्वाल से—है क्या तेरा मेल?"
वह बोला—"अच्छा,-तुम्हें-जँचे बिहारीलाल?"
यह बोले—"क्या नाम है?—अरे!-बिहारीलाल?"
भक्ति-मात्र यह देखकर लगा परखने ग्वाल—
"उससे करना दोस्ती—है जी का जंजाल॥
जो बालकपन से-घर घर में चोरी कर-माखन खाता है।
लेता है दान ग्वालिनों से, ऊधम ही जिसको भाता है॥

वृन्दावन जैसा वन तजकर मथुरानगरी को जाता जो ।
रोता ही छोड़—गोपियों को कुबरी से नेह लगाता जो ॥
तज देता बिना बात ही पर-जो श्रीवृषभानुदुलारी को ।
है नहीं जानता कौन भला—उस बाँके छैल बिहारी को !'
हाँ, तुम्हीं बताओ -मामा पर अच्छा क्या हाथ उठाना है ?
नँदनन्दन होकर उचित कहीं—वसुदेवनँदन कहलाना है ?'

चतुर भक्त बोला तुरत—ला मुख पर मुस्कान—
"खेल खेलते हैं सदा इसी भाँति भगवान ॥

मनमोहन माखनचोर नहीं, वे तो चितचोर कहाते हैं ।
गोपियाँ बुलातीं इसी भाँति—तो इसी भाँति घर जाते हैं ॥
ब्रजराई हैं वे—इसीलिए—गोरस का दान चाहते हैं ।
नारियाँ न बेचें दूध-दही, यह उचित विधान चाहते हैं ॥
वृन्दावन के बल ही से तो—मथुरा का गर्व मिटाया है ?
फिर मामा क्या, कोई भी हो,-पापी यमलोक पठाया है ॥
गोपीगण को वात्सल्य प्रेम, राधा को मान दिया प्रभु ने ।
कूबर सीधा कर कुबरी का, दुखिया को सुखी किया प्रभु ने ॥
नँदनन्दन ही वसुदेवनंदन इस कारण माने जाते हैं—
दिखलाई यहाँ बाललीला, कुलदीपक वहाँ कहाते हैं ॥"

करने लगे सराहना मन ही मन गोपाल ।
किन्तु प्रकट में फिर कहा-"परख न पाये लाल ॥

वह जादूगर है, जादू से-ब्रह्मा तक को भरमाया है ।
बछड़े खोजाने पर--जाने किससे बछड़े ले आया है ॥
सुरपति को भूखा ही रखना, खुद सारा माल उड़ा लेना ।
जादू के सिवा--और क्या है नख पर गिरिराज उठा लेना ?"

वह बोला—"वे एक है, पर अनेक हैं नाम ।
तुम जादूगर हम उन्हें कहते मायाधाम ॥
मायापति मानव बनकर जब माया के खेल दिखाता है—
तब ब्रह्मा, सुरपति, रतिपति क्या, शङ्कर तक को भरमाता है ॥
वल्लभाचार्य गुरु से मिलकर इन शङ्काओं का शमन करो ।
भगवान् भागवत में क्या हैं—पहले तुम यह अध्ययन करो ॥"
हँसे खिलखिलाकर तुरत बालरूप भगवान ।
'गुरू कृपा से आप तो हुए सूर विद्वान ॥
श्रीकृष्णकथा का यह वर्णन-है महाप्रसाद महाप्रभु का ।
सम्पूर्ण भागवत-अवलोकन-है महाप्रसाद महाप्रभु का ॥
हे ब्रज के कवि, ब्रज के गायक ब्रजभर को ऋणी बनाना तुम ।
ब्रजभाषा में रच कृष्णकथा—ब्रज के घर घर पहुँचाना तुम ॥"
गद्‌गद् बोला अक्कवर—' और न अब बहकाउ ।
पहले उन ब्रजराज के पास मुझे पहुँचाउ ॥
क्या बतलाया था अभी—नाम ? बिहारीलाल ?
अन्धे को उनके निकट-पहुँचादो, हे ग्वाल ॥"
"वे तो वृन्दावन रहते हैं'—ब्रजग्वाला जब यह बोल उठा ।
"तो छिपते क्यों वे फिरते हैं" यह कहकर अन्धा डोल उठा ॥
"वृन्दावन क्या, ब्रज चौरासी-में कई बार हो आया हूँ ।
वे एक बार भी नहीं मिले; इसलिए बहुत चकराया हूँ ॥"
"अब चकराओगे नहीं'—बोल उठे सर्वज्ञ ।
तब निगुरे थे अब तुम्हें गुरू मिला मर्मज्ञ ॥
मैं पहुँचाता हूँ तुम्हें—वृन्दावन अब हाल ।
निश्चय ही मिल जायँगे—वहाँ बिहारीलाल ॥"

होगई भक्त की हठ पूरी—ग्वाला लकुटी को थाम चला।
वृन्दावनचन्दविहारी-संग—अन्धा वृन्दावनधाम चला॥
बालक मीठे-मीठे स्वर में—जगभर की बात सुनाता था।
पर सूरदास को-कृष्णकथा तजकर—कुछ और न भाता था॥

रहा बिहारीपुरा जब कुछ थोड़ी ही दूर।
साथी बोला "सूर, लो, वृन्दावन की धूर॥
मैं चलता हूँ, दक्षिणा मेरी मुझे दिलाउ।
जाउ विहारीजी तलक—तुम अब सीधे जाउ॥"

माहात्म्य यहाँ का सुमिर-सुमिर—चलते चलते रुक सूर गये।
मनभावन, पावन रज लेने—उस धरती पर झुक सूर गये॥
यह भी न ध्यान उस समय रहा, लकुटी तज चला मीत अपना।
वृन्दावन का वह भाव जगा—गा उठ्ठे सूर गीत अपना॥

❀ गाना ❀

"धन यह वृन्दावन की रैनु।
नन्दकिशोर चराई गैयाँ, मुखहि बजाई बैनु॥ १॥
मदनमोहन को ध्यान धरै जो पावहि अति सुख चैनु।
चलत कहा मन बसत पुरातन जहाँ लैन नहि दैनु॥ २॥
इहाँ रहहु जहँ जूठनि पावहि ब्रजवासी के पैनु।
'सूरदास' ह्याँकी सरवरि नहि कल्पवृक्ष सुरधैनु॥ ३॥"

—०—

कृष्ण-कृष्ण रटते हुए—बढ़े अगाड़ी सूर।
सीधी पगडंडी छुटी, हुए मार्ग से दूर॥

बढ़ते, फिर पीछे हटते थे-व्यवहार आपका ऐसा था।
यह खेल खिलाड़ी का था—या संस्कार आपका ऐसा था॥
रस्ते से चलते चलते यह—जिस समय कुरस्ते आ पहुँचे।
लाठी हाथों से छूट गई, गिर गए, कुएँ में जा पहुँचे॥

सावन-भादों की तरह बरस उठे अब नैन ।
रुँधे कण्ठ से उस समय-निकले ऐसे बैन—
"जब लगा डूबने ब्रज,—जल में, गिरिराज उठाया था तुमने ।
ग्वालों के हेतु—कालिया का अभिमान मिटाया था तुमने ॥
ब्रज के वृक्षों तक की खातिर—दावानल पान किया तुमने ।
गज की जब जो भर सूँड रही—तब जीवन-दान दिया तुमने ॥
मेरी बिरियाँ सोगये कहाँ ? करुणानिधान कहलाकरके ।
क्यों मुझे कूप में डाला है ? वृन्दावनधाम बुलाकरके ॥
दास तुम्हारा नहीं तो दासों का हूँ दास ।
नहीं आँसुओं के सिवा—है कुछ मेरे पास ॥
यह मोती भी श्रीचरणों में—मैं नहीं चढ़ाने पाता हूँ ।
आता है ध्यान जिस समय यह तुम श्रीपति हो,—शर्माता हूँ ॥
जब अश्रुसुमन बनजाते हैं-मेरी आँखों की थाली के ।
तब मन में उठता है विचार—यह भेंट करूँ वनमाली के ॥
लेकिन जिस समय अहिल्या का संस्मरण मुझे हो आता है ।
इन बहते ढलते अँसुओं का—कुछ रूप और बनजाता है ॥
चरणों की रज के पाते ही जब शिला त्रिया बन सकती है ।
तो इन अँसुओं की मूर्ति वहाँ—क्या जाने क्या बन सकती है !
बनो, बनो, हाँ—नयन तुम बनो नदी की धार ।
बहो, पास आयें नहीं—जबतक करुणागार ॥
सुख के हित सिरजे नहीं—विधना ने यह नैन ।
थे तब भी बेचैन ही, अब भी हैं बेचैन ॥
कौन बदल सकता भला भाग्य बड़ा बलवन्त ।
शायद पथ ही में लिखा—इस पन्थी का अन्त ॥

"आनो ही है–तो तनिक रुक के अइयो–'काल' ।
अब आवत ही होयगे–धेनुचरा गोपाल ॥"
इस पुकार से–ब्रजतलक–काँप उठा तत्काल ।
भागे सेवा-कुञ्ज से—विकल विहारीलाल ॥
राधा बोली–"अभी तो लौटे हो तुम नाथ ।
मन न भरा क्या भक्त का देते देते साथ ?"
"भीर पड़ी है–भक्त पर"–बोल उठे ब्रजराज ।
"राधे, रखनी है मुझे–उसके प्रण की लाज ॥"

इस भाग दौड़ में-वनमाली–परसी थाली तक छोड़ चले ।
ताम्बूल भला किस गिनती में–जल की प्याली तक छोड़ चले ॥
पीताम्बरधारी से पहले पीताम्बर जल में जा पहुँचा ।
लाठी या डोरी की नाई-अन्धे के आगे आ पहुँचा ॥

सहसा कानों में पड़ी मुरली की झनकार ।
सुनते ही जिसके हुआ नवजीवन-सञ्चार ॥
निमिषमात्र में आगया बाहर भक्त सुजान ।
बाट जोहते थे जहाँ–मुरलीधर भगवान ॥
यहाँ सूर ने श्याम को पकड़ लिया तत्काल ।
कहा उछलकर–"मिल गए आज विहारीलाल ॥"

"पागल तो नहीं होगए तुम ?" वृन्दावनवाला बोल उठा ।
"हाँ हाँ मैं तेरा पागल हूँ"–झट यह मतवाला बोल उठा ॥
प्रभु कहने लगे–'तुम्हें भ्रम है'-यह बोले-"भ्रम अब नहीं रहा" ।
वे बोले–'दादा, यह तम है" यह बोले–"तम अब नहीं रहा" ॥
वे बोले-"ऐसा मत मानो" यह बोले–"अब तो मान लिया" ।
वे बोले–"फिर से पहचानो" यह बोले–"बस-पहचान लिया" ॥

अब तो दोनों चल पड़े--लिए हाथ में हाथ ।
श्याम सूर के साथ थे, सूर श्याम के साथ ॥
फिर भी कुछ संस्कारवश, जगा हृदय में मान ।
घट के पट की गए तब घट-घटवासी जान ॥
बोले--"यह कर थक गया, यह करलो अब थाम ।"
कर छूटा तो उसी क्षण दूर हुए घनश्याम ॥
श्याम गए तो सूर का बहुत बुरा था हाल ।
रोते-रोते इस तरह चिल्लाये तत्काल ॥
"बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोहि ।
हिरदै तें जब जाउ तौ मरद बखानों तोहि ॥"
इस दोहे पर मुग्ध अति हुए बिहारीलाल ।
दिया दरस साक्षात् अब माल गले में डाल ॥
बोले--"तुम तो सूर हो, उद्धव के अवतार ।
इसीलिए तुमसे रही मेरी यह खिलवार ॥
अब तुम सच्चे शूर हो, मैं हूँ सच्चा श्याम ।
सूर, श्याम अब दो नहीं, हुआ एक ही नाम ॥

उस दिन से प्रतिदिन सूरदास, जब-जब पद नए बनाते थे--
तो सूरदास की जगह कभी यह 'सूरश्याम' कह जाते थे ॥
या रचना पूरी करने को प्रभु अपनी छाप लगाते थे ।
जिस दिन रचते थे सूर नहीं, तो 'सूरश्याम' रच जाते थे ॥

सवा लाख पद से भरा भाषा का भण्डार ।
पदावली वह बन गई शारद का शृङ्गार ॥
बना 'सूरसागर' जभी चमके सूर महान ।
आज तलक कवि-जगत् में हैं यह सूर्य-समान ॥

गा-गाकर नित्य रिझाते थे--जब यह उन श्यामबिहारी को ।
तब ढूँढ रही थी गली-गली, कोई सखि कृष्णमुरारी को ॥
मन्दिर में कुञ्जबिहारी के आखिर जा ही पहुँचा वह भी ।
जिसने इनको पहुँचाया था--इन तक आ ही पहुँची वह भी ॥

रमणी को राधा मिलीं, मिले सूर को श्याम ।
कविता 'राधेश्याम' तब प्रकटी--'ललित' ललाम--

❀ गाना ❀

नैना नैननि माँझ समाने ।
टारे न टरत एक मिलि मधुकर—सुरस-मत्त अरुझाने ॥
मन्द-गति पगु भई, सुधि बिसरी—प्रेम पराग लुभाने ।
मिले परस्पर खञ्जन मानों—झगरत निरखि लजाने ॥
मन, वच, क्रम पलवोट न भावत, छिनु युग बरस समाने ।
'सूरश्याम' के वश्य भए ये—जेहि बीतै सो जाने ॥

(सूरसागर से)

नक़ली किताबों
से
बचिए

हमारी रामायण और हमारे नाटकों का काफ़ी प्रचार देखकर लोगों ने उसी रङ्ग और रूप की नक़ली किताबें छाप-छापकर प्रकाशित कर दी हैं। ग्राहक जब ऐसी किताब घर लेजाता है तो पछताता है। ग्राहक को ऐसी धोखेबाज़ी से बचाने के लिए हम अपनी हर किताब के ऊपर पंडितजी की तस्वीर देने लगे हैं जैसी कि इस किताब पर आप देख रहे हैं।

जिन किताबों पर–'राधेश्याम' या–'राधेश्याम वाशिष्ठ' या 'तर्ज़-राधेश्याम' छपा रहता है, वह हमारे यहाँ की नहीं है। हमारे यहाँ की किताबों पर पंडितजी के यह दस्तख़त भी रहते हैं। इन्हें पहचान लीजिए—

राधेश्याम कथावाचक

आप मानें या न मानें !

(१) इंगलिस्तान में एक शख़्स नाक से बाँसुरी बजाया करता था।

(२) फ्राँस देश की एक स्त्री की नींद इस बला की थी कि कोड़ों से पिटने पर भी नहीं खुलती थी।

(३) यूरुप का एक मशहूर मुसव्विर बिल्कुल मरजाने के बाद भी शराब पिलाए जाने से जी उठा।

(४) एक यन्त्र ऐसा निकला है जो यह नाप सकता है कि आप किसको कितनी मुहब्बत करते हैं।

(५) किसी समय चीन देश के जुआरी लोग अपनी उँगलियाँ तक काट काट कर जुए के दाँव पर लगा देते थे।

(६) कुछ लोगों को बिल्ली की आँखें देख कर वक़्त बता देने की करामात आती है।

(७) एक देश में ऐसे साँप होते हैं जो अपनी आँखों के जादू से चूहों और गिलहरियों को अपने पास खींच लेते हैं।

(८) अमेरिका के एक व्यक्ति को लाटरी में जीत कर एक औरत ने अपना पति बनाया था।

ऐसी और इनसे भी अधिक अनोखी और अजीब बातें आपको हमारे यहाँ से छपी हुई पुस्तक—

"अजायब घर"

में मिलेंगी। पुस्तक का मूल्य भी बहुत कम है यानी सिर्फ़ बारह आने डाकख़र्च अलग होगा।

लेखक—

स्वामी पारसनाथ सरस्वती

(नयनजी)

गोस्वामी तुलसीदास

सम्पादक—

नेपाल गवर्नमेण्ट से "कथावाचस्पति" की पदवीप्राप्त—

कीर्तनकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—

प॰ राधेश्याम कथावाचक

प्रकाशक—

द्वितीयवार २०००] सन् १९५९ ई० [मूल्य ४४ नये पैसे

मुद्रक—प० रामनारायण पाठक, श्रीराधेश्याम प्रेस, बरेली।

मङ्गलाचरण

उठालो वज्र, उठो बजरंग !

धर्म सो गया, कर्म सो गया,

सोये संत फकीर—

रामराज के संरक्षक हो—

तुम क्यों सोये वीर ?

बज रही है रावण की चंग !

उठालो वज्र, उठो बजरंग ! ॥१॥

देशरूप लक्ष्मण मूर्च्छित है—

पड़ी शक्ति की मार,

सञ्जीविनी आज फिर लाओ—

हे अंजनी — कुमार !

काल से करनी होगी जंग !

उठालो वज्र, उठो बजरंग ! ॥२॥

—०—

॥ ॐ ॥

सिद्धिसदन, आनन्दघन, विघ्नदलन, विघ्नेश ।
प्रथम पूज्य सुरगणों में, हैं गणराज गणेश ॥
धन्य विधाता ! सृष्टि का आप बढ़ाते तेज ।
सन्तों को संसार में समय समय पर भेज ॥
जब 'श्रीपृथ्वीराज' थे दिल्ली के महिपाल—
'जयचँद' थे कन्नौज के समकालीन नृपाल.
उत्तर भारतवर्ष में, यह दिल्ली कन्नौज ।
बड़े राज्य थे,–थी जहाँ विश्वविजेता फ़ौज ॥
जयचँद के पृथ्वीराजय नृपति—लगते मौसेरे भाई थे ।
भारत के यह दोनों बेटे—भारत ही को दुखदाई थे ॥
राष्ट्रीय संगठन-उन्हीं दिनों,–भारतभर का बर्बाद हुआ ।
दो टुकड़े हुए 'शस्त्र-बलके',–जब घरमें 'शास्त्र-विवाद' हुआ ॥
दोनों आपस में लड़ लड़कर, निज शक्ति घटाते रहते थे ।
इस तरह देश को–दिन प्रति दिन-बलहीन बनाते रहते थे ॥
जब राग रोष ने दोनों के घर को वीरान मसान किया ।
तब कुपित कालने-भारत में,–'परदेशी-राज्य' विधान किया ॥

❀ गाना ❀

बुरी होती है घर की फूट ।
इसी फूट से अवसरवादी लेते सब कुछ लूट ॥
क्षत्रिय की तल्वार-एकता जब जाती है टूट—
तब सम्पत्, सुख शान्ति व्यवस्था, सब जाती है छूट ॥

—:०:—

हुआ विदेशी शक्ति का जभी देश में राज ।
विपत् हिन्दुओं पर पड़ी व्याकुल हुआ समाज ॥
उस अन्य जाति के शासन ने–भारत का धर्म हिलाया था ।
श्रीविश्वनाथ के मन्दिर पर अपना झण्डा फहराया था ॥
संस्कृत की शिक्षा लुप्त हुई, जो शब्द'माष' था 'मास' हुआ ।
संस्कृत इसकारण बिगड़ चली-शास्त्रों का सत्यानाश हुआ ॥
अनगिनती मन्दिर टूट गए, मस्जिद की जब तामीर चली ।
हिन्दू की नंगी गर्दन पर–निर्दय नंगी शमशीर चली ॥
जज़िया जैसे अनुचित कर से–हिन्दू-समाज पाबन्द हुआ ।
था जुर्म पालकी में चलना, हाथी पर चढ़ना बन्द हुआ ॥
हिन्दू ललनायें यवन हुईं–उनसे जो पुत्र जन्मते थे ।
वे बन अहिन्दू फिरते थे–हिन्दू को शत्रु समझते थे ॥
दस लोग अरब से आए थे, जो दसकरोड़ दिखलाते हैं ।
सचमुच जिनमें हो फूट नहीं, वे इसी तरह बढ़ जाते हैं ॥
गंगा, गीता, गोविन्द, गऊ गायत्री पर भी भीर पड़ी ।
इस भाँति देश को दे डाली–'जयचंद''पृथ्वी' ने पीर बड़ी ॥

❀ गाना ❀

देश की बिगड़ गई लाली, धर्मतरु की टूटी डाली ॥
भक्ति, तपस्या, धार्मिक निष्ठा, पड़ी सभी पर धूल ।
खींचा गया द्रौपदी का सा–भारत मात–दुकूल ।
बाग़ का बदल गया माली, धर्मतरु की टूटी डाली ॥
बहने लगी आर्य लोगों की, बेपतवारी नाव ।
ऐसा आया अहला भारी, रोके कौन बहाव !
छा गई घोर रात काली, धर्मतरु की टूटी डाली ॥

—:o:—

घेरा काल कराल ने— जब यह पावन देश ।
सन्त एक भेजा यहाँ प्रभु ने दे सन्देश ॥
जिनकी रामायण बनी वहतों का जलयान ।
उन तुलसी ही की कथा, आज सुनो धर ध्यान ॥

सरयूतट एक गाँव में द्विज श्रीपरशुरामजी रहते थे ।
प्रेमी थे राम-नाम के वे पैदल तीर्थाटन करते थे ॥
हनुमत् ने उनको स्वप्न दिया-श्रीचित्रकूटथल कञ्जुल में—
"राजापुर में जा वास करो, जन्मेगा कुलदीपक, कुल में ॥
चौथी पीढ़ी में पण्डित की, विद्वान् महाकवि आएगा ।
जो 'रामचरित मानस' द्वारा घट घट में भक्ति जगाएगा ॥
मैं उसे प्रेरणा दे अपनी-रामायण एक लिखाउँगा ।
श्रीरामनाम-महिमावाली, गंगा जग मध्य बहाउँगा ॥"

अब भी बाँदा जिले में-है राजापुर ग्राम ।
परशुराम ने जहाँ पर अपना किया मुकाम ॥
चौथी पीढ़ी में हुए, 'तुलाराम' गुणधाम ।
वही 'तुला' तुलसी हुए, उर में बैठे 'राम' ॥

पितुवर थे आत्माराम दुबे, माता हुलसी कहलाती थी ।
नारी पाई थी रत्नावलि, जो उनके मन को भाती थी ॥
अपनी रत्नावलि पत्नी पर, पति तुलसी अति आसक्त हुए ।
अनुरक्त हुए जिसके ऊपर-उसके ही हाथ विरक्त हुए ॥
जैसे राजा श्रीदशरथ को कैकेयी प्रिय लासानी थी ।
या पुरूरवा जी की जैसे, उर्वशी प्राण की रानी थी ॥
अज को ज्यों प्यारी इन्दुमती, ज्यों शशि को प्रिया रोहिनीथी ।
अथवा इस भाँति समझिये ज्यों-नारद को विश्वमोहिनी थी॥

ज्योंही तुलसी को रत्नावलि, तुलसी की अतिशय प्यारी थी ।
वह हृदय-सीप की मुक्ता थी, वह आँगन की उजियारी थी ॥
नारि-गुलामी का किया जिन लोगों ने काम ।
रखिये उस फ़हरिस्त में तुलसी का भी नाम ॥
रत्नावलि की विदा का लेता था जो नाम ।
करता उनके हृदय पर-घातक का वह काम ॥
बीत गए श्वसुराल में-वर्ष उसे जब चार ।
भाई आकर ले गया, थीं माता बीमार ॥
गए दूसरे गाँव थे-उस दिन तुलसीदास ।
आकर देखा शून्य घर, अतिशय हुए उदास ॥

❋ गाना ❋

घर मे घोर उदासी छाई ।
घोर उदासी छाई घर में, बिन रत्नावलि बाई ।
वे घरवालों का घर कैसा ? रोती थी अँगनाई ।
घर में घोर उदासी छाई ॥
चूल्हा रोवे चक्की रोवे झाड़ू करै रुलाई ।
ऊखल म तर मूसल रोवे, कर कर राम-दुहाई ।
घर में घोर उदासी छाई ॥
नमक कहाँ है ? दाल कहाँ है ? रक्खी कहाँ मिठाई ?
सिल बटने में मची लड़ाई-पड़ती मौत दिखाई ।
घर में घोर उदासी छाई ॥

—::—

यही प्रकृति का नियम है-यही जगत व्यवहार ।
जीव-प्रेम के बाद ही-मिलता प्रभु का प्यार ॥
कितने ही ऐसे सन्त हुए-कितने ही ऐसे भक्त हुए ।
ईश्वर को प्रथम नहीं जाना, माया पर वे अनुरक्त हुए ॥

श्रीसूरदासजी को भी तो, रमणी चिन्तामणि प्यारी थी ।
उसके तन पर उनकी आत्मा, न्योछावर थी, बलिहारी थी ॥
रसखान भक्तवर भी पहले नश्वर शरीर पर मोहे थे ।
फिर कृष्ण कृष्ण रटते रटते, श्री वृन्दावन में रोये थे ॥
इहलोक—प्रेमवाले ही तो–परलोक प्रेम में आते हैं ।
बनते हैं पहले कामदास, फिर रामदास बनजाते हैं ॥
बस इसी भाँति तुलसी ने भी, श्रीराम प्रेम अपनाया है ।
पहले था नेह नारि से–फिर–वह नारायण में आया है ॥
जो तार लगा था प्यारी में–वह तार लग गया प्यारे में ।
जो उजियाला था घर भीतर–वह फैल गया जग सारे में ॥

सुना पड़ोसी से जभी, गई बन्धु सँग नार ।
श्वशुरालय को चल दिया, तब तुलसी भर्तार ॥

भादों की रात अँधेरी थी, नद नाले चढ़ चढ़ आये थे ।
धरती पर पानी ही पानी अम्बर पर बादल छाये थे ॥
कड़कड़कड़ बादल जब कड़के चमचमचम बिजली चमकउठी ।
टप टप टप बूँदें बरस पड़ीं, पृथ्वी सागर सी दमक उठी ॥
श्वशुरालय बड़ी दूर पर था सरिता मारग में भारी थी ।
जल बहता था गहरा उसमें, चहुँ ओर घिरी अँधियारी थी ॥
मुर्दा बहता था एक वहाँ, उससे डोंगे का काम लिया ।
भय माना नहीं ज़रा दिल ने, हाथों ने शव को थाम लिया ॥

जिन्दा को उस समय पर, मुर्दा लाया पार ।
कामदेव, तुम धन्य हो ! लीला अपरम्पार ॥

जब श्वशुर-भवन में पहुँच गये तब आधी रात सिरानी थी ।
छत पर ही एक पलंग ऊपर सोई रत्नावलि रानी थी ॥

तुलसी ने उसे जगाया तो-वह चकित हो उठी सुकुमारी ।
"ऐसे में यहाँ कहाँ साजन !" घबराकर बोली सुकुमारी ॥
"क्या घर में आग लगी, बालम, या डाका पड़ा अचानक है ?
क्यों भागे आए अर्द्धरात्रि, कोई मर गया अचानक है !"

तुलसी बोले-"सब समय जिसको तेरा ध्यान ।
वह भागा आता नहीं, तो उड़ जाते प्रान ॥
तीनों बातें सत्य हैं, चोरी डाका आग ।
अर्द्धरात्रि में इसलिये आया हूँ मैं भाग ॥

डाका, हाँ, हाँ, मेरे ऊपर-डाका ही डाला भारी है ।
डाकू तेरा भाई है जो-हर लाया मेरी नारी है ॥
मेरा जी तेरे बिना प्रिये, मछली जैसा अकुलाता है ।
तेरे बिन मेरा घर मानो-भूतों का घर दिखलाता है ॥
तू हृदय चुरा लाई मेरा, साले ने डाका डाला है ।
चोरी डाका, दोनों सब हैं मुझ पर पड़ गया कसाला है ॥
घर में तो आग नहीं फैली-पर आग लगी मेरे मन में ।
मैं शान्ति खोजने आया हूँ तेरे शीतल चन्द्रानन में ॥'

नारी बोली-"नारि से, है इतना अनुराग ।
अति वर्जित सर्वत्र है दीजे अति को त्याग ॥"

तुलसी बोले-"इस जीवन में तेरी ही ज्योति समानी है ।
रत्नावलि, तू दीपावलि है, तू इस ग़रीब की रानी है ॥
इन प्राणों की तू प्राणप्रिया, इस मन की तू मनमोहिनि है ।
इस सागर की तू चन्द्रकला, इस चन्दा की तू रोहिनि है ॥"
नारी बोली-"तुम ब्राह्मण हो, क्या ब्राह्मण उनको कहते हैं ?
जो छोड़ ब्रह्म का शुभ चिन्तन-माया में नाचा करते हैं ?'

ब्राह्मण माया को ठुकराकर- सब समय ब्रह्म को भजता है ।
हाँ, वैश्य अवश्य ब्रह्म को तज, माया के ऊपर मरता है ॥
इसलिये वैश्य होचुके आप, अपने को ब्राह्मण कहो नहीं ।
ब्राह्मण बनकर रहना हो तो–माया के मद में बहो नहीं ॥'
तुलसी बोले -"ब्राह्मण तो क्या, वैश्य भी नहीं मानो मुझको ।
मैं सेवक चरण तुम्हारे का, इसलिये शूद्र जानो मुझको ॥
हाँ, प्रेम तुम्हारा पाऊँ तो–प्रेमी निश्चय हो सकता हूं ।
अन्यथा–इशारा करदो तो-गंगा में लय हो सकता हूँ ॥
कहदो तो-जलकर ज्वाला में–निज स्वर्ण प्रेम में चमका दूँ ।
पहनोगी स्वर्णाभूषण वह ? बन स्वर्णकार घर दमका दूँ ?"
नारी ने कहा–"द्विवेदी जी, उपकार करो, कुछ धर्म करो ।
दुखियों का दुख, सन्ताप हरो, नित पावन वैदिक कर्म करो ॥
सात्विक कर्मों का नाश हुआ, लोगों में भगवत्प्रेम नहीं ।
मर्यादा, श्रद्धा, नेम नहीं इसलिये जगत में क्षेम नहीं ॥
तुम सत्यधर्म का गान करो, नास्तिकता का संहार करो ।
खुद भक्ति-मार्ग में आगे बढ़–औरों का भी उपकार करो ॥
यह बात बड़ी लज्जा की है- तुम जगत्पूज्य ब्राह्मण होकर ।
पागल हो नारी के पीछे ! अपनी ब्राह्मणता को खोकर ॥"

तुलसी बोले–"आज क्यों आया है वैराग ?
अर्द्धाङ्गिनि की देह में इतनी उज्ज्वल आग !!

अपने इस निखरे यौवन पर निज हाथों वज्राघात न कर ।
यह समय मौज करने का है तप और त्याग की बात न कर ॥
सब सुन्दरता की जान तुही सब मादकता की खान तुही ।
सब मोहकता निकली तुझसे–सब कोमलता की प्रान तुही ॥

तुझसे सीखा है फूलों ने- हँस हँसकर मन मोहित करना ।
तुझसे सीखा है कोयल ने-वाणी द्वारा प्रमुदित करना ॥
मैं नहीं ज्ञान का प्रेमी हूँ मैं सिर्फ प्रेम का याचक हूँ ।
मैं नहीं ब्रह्म का सेवक हूँ, तेरा ही परम उपासक हूँ ॥

तड़पी बिजली की तरह, रत्नावली तुरन्त—
"नाथ, तुम्हारी बुद्धि का आज हुआ क्यों अन्त ?

जिसको तुम रूप मानते हो वह तो धोखे की टट्टी है ।
जिसको तुम यौवन कहते हो वह महामृत्यु की भट्टी है ॥
इस रूप और इस यौवन ने-सारी दुनिया खा डाली है ।
इन युगल राक्षसों ने ही तो-करदी जग की पामाली है ॥
यह चिकना चुपड़ा मुखड़ा जो तुमको अत्यन्त लुभाता है ।
मिट्टी का एक खिलौना है-मिट्टी में ही मिल जाता है ॥
कुछ समय जवानी रहती है-फिर दुखद बुढ़ापा आता है ।
सर्वाङ्ग शिथिल कर देता है-यौवन की ज्योति बुझाता है ॥
रहते हैं गात्र वही, लेकिन-उनमें वह दमक नहीं रहती ।
रहते हैं नेत्र वही; लेकिन-उनमें वह चमक नहीं रहती ॥
जिस मुख को देख देख जीते-उसपर कफ़न डाला जाता ।
मर जाने पर उस प्रिय जन को-घर के बाहर लाया जाता ॥
जो हाथ प्यार अब करते हैं, वे ही तब चिता बनायेंगे ।
जो नेत्र नहीं हटते मुझसे-वे मुझको दूर हटायेंगे ॥

लाज न आती आपको-दौड़े आये साथ ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को, और क्या कहूँ नाथ ॥
अस्थि-चर्ममय देह मम उससे जैसी प्रीति ।
वैसी हो श्रीराम से तो न रहे-भव-भीति ॥"

चौंक पड़े तुलसी तुरत—सुन नारी के बोल ।
लगा नाचने नयन में सब भूगोल खगोल ॥
जिस तरह निशाने पर लगकर गोली निज घाव बनाती है—
त्योंही मर्मस्थल भेदन कर बोली गोली बन जाती है ॥
लज्जित थे और निरुत्तर थे, प्रभु सम्मुख अपराधी भी थे ।
चुपचाप मुड़े, मग बदल गया, डगमग ऐसे तुलसी जी थे ॥
नारी बोली-"अब चले कहाँ?" तुलसी बोले-"घर द्वार जहाँ ।"
नारी बोली—"है रात अभी," तुलसी बोले—"अब रात कहाँ?"
"क्या दासी से होगये खफ़ा ?" रत्नावलि बोली घबराकर ।
"तुम दासी नहीं; गुरू मेरी" बोले तुलसी आगे आकर ॥
उतर गये जीना तुरत, गये नदी के पास ।
स्वयं तैर कर, पार अब, पहुँचे तुलसीदास ॥
निज मन से तुलसी जी बोले—"देखो मन, कौन तुम्हारा है ?
जिनको अपना समझा तुमने वह ही कर गया किनारा है !
इस विषय भोग से दुःख हुआ, अपमान हुआ, अपवाद हुआ ।
मत कभी भूलना मन मेरे, नारी से जो सम्वाद हुआ ॥'
दी राह छोड़ राजापुर की काशी की ओर लगे जाने ।
पद एक बनाया तुलसी ने—अपने ही आप लगे गाने—

❀ गाना ❀

अबलौं नसानी, अब ना नसैहौं ।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिर न डसैहौं ॥
पायो नाम चारु चिन्तामणि, उर करते न खसैहौं ॥
श्याम रूप शुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहि कसैहौं ॥
परवस जान हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं ॥
मन मधुपहि पनुकै तुलसी, रघुपति पदकमल बसैहौं ॥"

—:o:—

वरना ने संगम किया, गंगा में जिस ठाम ।
राजघाट के तट वहीं, जाकर किया मुक़ाम ॥
गंगा के पार शौच के हित जब प्रातकाल वह जाते थे ।
तब नित्य बबूल तले—अपना लोटे का नीर गिराते थे ॥
चालीस रोज़ हो जाने पर—एक प्रेत पेड़ से उतर पड़ा ।
बोला—"ठहरो, अब चले कहाँ? मुझ पर सेवा का असर पड़ा ॥
माँगो, जो भी चाहे, माँगो, मैं वर देने को उत्सुक हूँ ।"
तुलसी बोले—"हो राम-दरस, बस रामदरस का इच्छुक हूँ ॥"
हँसकर तब प्रेत लगा कहने—"मेरे वश का यह काम नहीं ।
मैं स्वयं प्रेत हूँ बार बार—ले सकता उनका नाम नहीं ॥
पर तुम्हें उपाय बताता हूँ—शिवमन्दिर राजघाट में है ।
नौ बजे रात को 'वाल्मीकि' होती उस जगह बाट में है ॥
दुबला पतला भिखमँगा एक—ओढ़े कमली नित आता है ।
आता है सबसे पहले वह, पर सबसे पीछे जाता है ॥
बस वही "वीर बजरंगी" हैं—जो रामकथा के प्रेमी हैं ।
प्रभु भक्तों के संरक्षक हैं, श्रीरामनाम के नेमी हैं ॥
तुम उनके चरण पकड़ लेना—फिर उनको राज़ी कर लेना ।
जब पूछें—क्या मर्ज़ी तेरी? तो आगे अर्ज़ी धर देना ॥
वे तुमको दरस करा देंगे, सियाराम—महल के रक्षक हैं ।
रघुराज मानते ख़ुद उनको—ऐसे वे उनके पायक हैं ॥"
इतना कहकर होगया, अन्तर्हित वह प्रेत ।
तुलसी पहुँचे कथा में—होकर ख़ूब सचेत ॥
चले गये सब लोग जब, लेकर कथा-प्रसाद ।
तुलसी ने बजरंग के, गहे चरण साह्लाद ॥

वे बोले—"हट, दूर हो, क्यों करता है तंग ?
भिक्षुक के चरणों गिरा पी तूने क्या भंग ?"
तुलसी बोले—'आगया अब तो मैं प्रभु पास ।
रामदरस की भीख दो-मुझे राम के दास ॥"
काम कर गई भक्त के सच्चे मन की लाग ।
दयावान् उस हृदय में दया उठी अब जाग ॥
हो विवश बोल उट्ठे हनुमत्—"जब चित्रकूट तुम जाओगे—
तो राम-लखन जी के दर्शन उस वन के भीतर पाओगे ॥"
छोड़ी काशी अब प्रेमी ने, श्रीचित्रकूट में वास किया ।
है चित्रकूट में त्रेतायुग ऐसा मन में विश्वास किया ॥
अनसूया जी की गंगा में अब तुलसी नित्य नहाते थे ।
जितने भी मनुज वहाँ मिलते—उन सबको शीश नवाते थे ॥
अनायास ही एक दिन देखा आँख पसार—
धनुषबाण-युत, अश्व पर, हैं दो राजकुमार ॥
मोहित तुलसी जी हुए, उनका रूप निहार ।
सुन्दर, सुखप्रद, सुघर थे, दोनों अविकारदार ॥
जब दोनों आगे निकल गए तब पवनकुमार वहाँ आए ।
तुलसी से पूछा—"क्या देखा?" तुलसी मनमें कुछ चकराए ॥
बोले—"देखे दो राजकुँवर, जो करते मृग-अन्वेषण थे ।"
हनुमत् ने कहा कि-"वे ही तो श्रीराम और श्रीलक्ष्मण थे ॥"
तुलसी पछताकर बोले उठे-"हाथ आया हीरा छूट गया ।
क्या फिर भी दर्शन देंगे वे ? या भाग्य दास का फूट गया ?"
तब कहा-वीर बजरंगी ने-"त्रेता की तुम्हें सुनाता हूं ।
जब हुआ नाथ का राजतिलक उसदिन की बात बताता हूं ॥

रामायण एक बना मैंने राघव के आगे रक्खी थी ।
'प्रभु के हस्ताक्षर हों उसपर', यह विनती हाथ जोड़ की थी ॥
मेरे आग्रह पर बोले वे--"यह वाल्मीकि को दिखलाओ ।
वे अपना हस्ताक्षर करदें--तो मेरे पास इसे लाओ ॥
मैं वाल्मीकि-रामायण पर, कर चुका प्रथम हस्ताक्षर हूं ।
है आदरणीय सदा ही वह, दे चुका उसे जब आदर हूँ ॥
मैंने अपनी रामायण भी श्रीवाल्मीकि को दिखलाई ।
निज रामायण की बात सोच चिन्तित हो उठे मुनिराई ॥
फिर लगे सोचने मन में वे--"यह रामायण बन जायेगी ।
तो मेरी लिक्खी रामायण भरपूर ग्रहण में आयेगी ॥"

यही सोच मुनि ने कहा मुझसे बारम्बार—
"रामदास, कुछ कीजिए इस ऋषि पर उपकार ॥"
मैं बोला--"क्या चाहिए हे मुनि कविकुल-नाह ?"
वे बोले--"निज ग्रन्थ का करदो गंगप्रवाह ॥'

तब मैंने कहा आदि कवि से--"अच्छा, मैं इसे बहा दूंगा ।
पर कलियुग में तुलसी द्वारा ज्यों की त्यों पुनः लिखा दूंगा ॥"
बस वही समय अब आपहुंचा, तुम काशी जाकर वास करो ।
श्रीविश्वनाथ को शीश नवा कविता का कुछ अभ्यास करो ॥
मैं स्वयं तुम्हारी प्रतिभा को--उत्तेजित कर चमका दूंगा ।
जल में जो हुई--प्रवाहित वह रामायण फिर लिखवा दूंगा ॥"

कर प्रणाम तुलसी चले, पहुँचे काशीधाम ।
कुटी बना रहने लगे, ले शंकर का नाम ॥
रामचरित-मानस रचा पा हनुमत् से शक्ति ।
जगा रहा सर्वत्र जो आज राम की भक्ति ॥

श्रीकाशिराज ने उस कृति को सम्मानित भले प्रकार किया ।
कर भेंट मुद्रिका पाँच सहस, तुलसी जी का सत्कार किया ॥
तुलसी ने कुटिया के भीतर, वह सारा रुपया दबा दिया ।
ऊपर उसके बजरंगी का झण्डा ऊँचा सा लगा दिया ॥
उस धन को हरने एक चोर प्रत्येक रात को आता था ।
पर श्याम युवक को पहरे पर, सर्वदा देख फिर जाता था ॥
लाचार एक दिन तुलसी के, चरणों में उसने सिर नाकर ।
कर जोड़ प्रश्न पूछा उनसे-अपना रहस्य सब बतलाकर ॥
बोला-"वह युवक श्याम रँग का, जो निशि को द्रव्य रखाता है ।
इस समय कहीं भी नहीं यहाँ; उस समय कहाँ से आता है ?"

समझ गए तुलसी तुरत, "प्रभु हैं पहरेदार ।"
सोचा-"उनको कष्ट दे, उस धन को धिक्कार ॥"
इस विचार से द्रव्य वह बाँट दिया तत्काल ।
एक अंश दे चोर को, करने लगे निहाल ॥

कर जोड़ चोर तब यों बोला-"क्यों अपना द्रव्य लुटाते हो ?
वह पहरेवाला कौन प्रभो, किसलिए नहीं बतलाते हो ?"
तुलसी बोले गद्गद् होकर-नयनों में आँसू लाए थे ।
"श्रीराघव ही पहरा देने, इस दास-कुटी में आए थे ॥"
तब चरण पकड़ कह उठा चोर-"अब धन की नहीं चाहना है ।
मुझको अपना चेला करलो-बस केवल यही कामना है ॥
राघो जी का होगया दरस-तो और चाहिए क्या जन को ?
यह हुआ आपही के कारण, गुरु माना मैंने भगवन को ॥"
तुलसी ने भी हर्षित होकर उसको निज चेला बना लिया ।
दे राम-नाम का विमल मन्त्र, गिरते को ऊपर उठा लिया ॥

भक्तराज के संग में चोर बन गया भक्त ।
माया का आसक्त अब हुआ राम अनुरक्त ॥
रामनगर से राम की लीला देख ललाम ।
लौट रहे थे एक दिन तुलसी अपने धाम ॥
तब आधी रात हो चुकी थी, तुलसी जी लमके आते थे ।
उस समय मार्ग में चार चोर चोरी करने को जाते थे ॥
उनका मुखिया बोला इनसे,–"तू कौन ! कहाँ को जाता है ?
काली कमली में अपना तन क्यों बारम्बार छिपाता है ?"
'जो तुम हो-सो ही हम भी हैं' तुलसी ने उत्तर दिया उन्हें ।
पर उन अज्ञानी चोरों ने अपना ही सा गिन लिया उन्हें ॥
मुखिया ने कहा तुरत इनसे–"चोरी न अकेले होती है ।
ओ मूर्ख, हमारे संग में आ, रह गई रात थोड़ी सी है ॥"
तुलसी हो लिए साथ उनके, पहुँचे सब एक धनिक के घर ।
उस घर में चोर प्रविष्ट हुए इनको बिठलाकर पहरे पर ॥
मुखिया इनसे बोला "देखो यदि कोई हमें देख पाये ।
तो तुम ऐसा करना–जिससे संकेत हमें भी हो जाये ॥"
चोरों ने चोरी करके जब-धन एक जगह पर जमा किया ।
तुलसी जी ने होठों से तब निज शंख फूंककर बजा दिया ॥
शंखध्वनि पर तत्काल चोर-सब माल छोड़ कर भाग चले ।
'बच गए साफ़, पकड़े न गये,' यह कहकर घर वह त्याग चले ॥
फिर गए दूसरी बस्ती में, फिर घुसे एक घर के भीतर ।
फिर शंखध्वनि की तुलसी ने, फिर भागे चोर जान लेकर ॥
जैसे तैसे भागकर चारों चोर अधीर ।
पहुँचे तुलसी के सहित निर्जन सुरसरि-तीर ॥

तुलसी से चोरों का मुखिया बोला—"क्यों विघ्न किया तूने ?
मैं देख रहा था, शंख बजा—सब काम बिगाड़ दिया तूने ॥"
तुलसी बोले—"तुमने ही तो आज्ञा दी थी पहरा दूँ मैं ।
यदि देख रहा हो कोई, तो चौकन्ना तुम्हें बना दूँ मैं ॥

❀ गाना ❀

किया मैंने आज्ञापालन ।
पहली चोरी की जब तुमने-किया इकट्ठा माल—
मैंने देखा-देख रहे हैं—सम्मुख राम कृपाल ।
बजाया शंख इसी कारन ।
किया मैंने आज्ञापालन ॥
पहुँचे जब दूसरी जगह तुम मिला माल भरपूर—
उस अवसर भी देख रहे थे-हाजिर राम हुज़ूर ।
मौन कैसे करता धारन ?
किया मैंने आज्ञापालन ॥"

—:o:

उन सबकी आँखें खुलीं, मिटा पाप तम घोर ।
चरण पकड़ रोने लगे—'त्राहि,' 'त्राहि' कह चोर ॥
फिर बोले कर जोड़कर—"हे उपकारी सन्त ।
शिष्य हमें कर लीजिए, जिससे सुधरे अन्त ॥"
तुलसी ने अति प्रेम से, कर उनपर उपकार ।
राम-नाम का मन्त्र दे, जीवन दिया सुधार ॥
आगे चलकर हुए वे चारों भक्त महान ।
नित सुनते गुनते रहे, राघव का गुणगान ॥
और एक दिन जब चले, घर से तुलसी सन्त ।
देखा करुणा से भरा-एक दिखाव तुरन्त ॥

अर्थी थी किसी ब्राह्मण की जो आगे चली जा रही थी ।
पीछे उसके उसकी विधवा होने को सती आ रही थी ॥
सोलह शृंगार किए थी वह- बारह आभूषण धारे थी ।
मुख-मध्य पान था दबा हुआ, फूलों की माला डाले थी ॥
कर जोड़ प्रणाम किया उसने—जब आगे देखा तुलसी को ।
"सौभाग्यवती भव'-कह बैठे, तुलसी उस विधवा युवती को ॥
तब एक व्यक्ति बोला उनसे—"यह आशिष सफल नहीं होगी ।
वह तो जारही सती होने; तुम कैसे हो पागल योगी !"

तुलसी ने अर्थी रुका—पकड़ा शव का कान ।
फूँक लगाई राम की, लौटे उसमें प्रान ॥
चकित हो उठे लोग सब—देख यह चमत्कार ।
चहुँ दिशि, तुलसी सन्त की गूँजी जय-जयकार ॥
भारत में थे उस समय अकबर शाहंशाह ।
समाचार यह सुन उन्हें—हुई दरस की चाह ॥

दिल्ली तुलसी को बुलवाकर सम्मान किया, पूजा भी की ।
फिर चमत्कार दिखलाने को—मुँह खोल—प्रकट इच्छा भी की ॥
तुलसी बोले—"मैं सेवक हूँ, प्रभु की महिमा गा सकता हूँ ।
है पास न मेरे चमत्कार—फिर कैसे दिखला सकता हूँ ?"
अकबर ने तत्क्षण क़ैद किया, बोले मैं कभी न मानूँगा ।
जब चमत्कार दिखलादोगे—तब मैं तुमको जाने दूँगा ॥"
बन्धन में पड़कर तुलसी ने—श्रीमहावीर का ध्यान किया ।
संकटमोचन की इच्छा से—संकटमोचन का गान किया ॥
मस्जिद तक दौड़ रहा करती—जैसे मुल्ला बेचारे की ।
वैसे ही प्रभु तक पहुँच सदा—रहती है प्रभु के प्यारे की ॥

❀ गाना ❀

ऐसी तोहि न बूझिए हनुमान हठीले ।
साहब कहूँ न राम से, तोसे न उसीले ॥
तेरे देखत सिंह के सिसु मेंढक लीले ।
जानत हौं कलि तेरेऊ मनु गुनगन कीले ॥
हाँक सुनत दसकन्ध के भए बन्धन ढीले ।
सो बल गयो किधौं भये अब गर्व गहीले ॥
सेवक को परदा फटै तू समरथसीले ।
अधिक आपुतें आपनो सुनि मानि सहीले ॥
सांसति तुलसीदास की लखि सुजस तुहीले ।
तिहूँ काल तिनको भलो जे राम-रँगीले ॥"

—:०:—

जन पर संकट देखकर धाए जन-प्रतिपाल ।
हनुमत् ने संकल्प से सेना रची विशाल ॥
जिस कपि-सेना ने त्रेता में लङ्का की पामाली करदी ।
हो प्रकट उसी सेना ने अब दिल्ली में बेहाली करदी ॥
अकबर काँपा, दौड़ा उठकर, तुलसी के चरण गहे जाकर ।
"गोस्वामी, कपिदल शान्त करो", यों बोला उनसे अकुलाकर ॥
तुलसी बोले—"यह महल तजो बिलकुल दो छोड़ जगह सारी ।
अब से आगे इस धरती के हनुमान् रहेंगे अधिकारी ॥"
अकबर ने उस जगह से हटालिया निज वास ।
आज तलक इस बात का साखी है इतिहास ॥
उस धरती पर ही बना-मन्दिर एक महान ।
विद्यमान हैं आज तक-वहाँ वीर हनुमान ॥

दिल्ली में थे जब तुलसी जी, तब घटी और घटना उनपर ।
उन्मत्त एक मकना हाथी, क्रोधित होकर झपटा उनपर ॥
घबराए नहीं किन्तु तुलसी, थे जहाँ वहीं पर खड़े रहे ।
श्रीराम-नाम की रक्षा में, विश्वास जमाए डटे रहे ॥
बस तभी कहीं से एक तीर हाथी के शीघ्र लगा आकर ।
व्याकुल होकर वह भाग गया, दूसरी ओर को चिल्लाकर ॥

दिल्ली से चल, जमी पड़, पहुँचे मथुराधाम ।
मन्दिर मन्दिर में वहाँ, देखे राधेश्याम ॥

द्वारकाधीश के मन्दिर में, जब दर्शन हित पहुँचे तुलसी ।
तब देख कृष्ण की भव्य मूर्ति, मन ही मन कुछ झिझके तुलसी ॥
सोचा—"मैंने प्रभु माना है—श्री मर्यादापुरुषोत्तम को ।
किस तरह नवाऊँ शीश यहाँ—अब इन लीलापुरुषोत्तम को ॥
कुछ क्षण तक रहे विचार-मग्न, बहु बार नेत्र मूँदे खोले ।
सहसा बिजली चमकी मन में—आतुर हो प्रतिमा से बोले—

"कहा कहौं छवि आजु की, भले बने हो नाथ ।
तुलसी मस्तक तब नवै, जब धनु शर लो हाथ ॥"
समझ भक्त की भावना, मुस्काए यदुनाथ ।
मुरलीधर धनुधर हुए, कृष्ण बने रघुनाथ ॥
इन घटनाओं से हुए तुलसी बहुत प्रसिद्ध ।
अब तक कवि थे, भक्त थे, अब कहलाए सिद्ध ॥
भक्तमाल के विदित कवि थे श्रीनाभादास ।
तुलसी मिलने उन्हीं से पहुँचे उनके पास ॥

पंगत बैठी थी बड़ी वहाँ, भारी भण्डारा होता था ।
सन्तों, साधुओं विरक्तों का, सहभोजन प्यारा होता था ॥

तुलसी भी पीछे बैठ गए, सकुचाए आगे आने में।
थे व्यस्त स्वयं अपने हाथों-नाभाजी खीर खिलाने में॥
'दोना लाओ,' 'दोना लाओ', आदेश किया नाभाजी ने।
इतने में एक सन्त-पनही, तत्काल उठाली तुलसी ने॥
फिर बोले-"एक महात्मा की इसमें पदरज मन-भावन है।
लाइए, परसिए इसमें ही, यह दोना उत्तम, पावन है॥"
यह देख, कह उठे नाभाजी-"गौरव मिल गया अनन्य तुम्हें।
यह दृष्टि धन्य, यह भक्ति धन्य, हे तुलसी शतशः धन्य तुम्हें॥
जो रज-पैरों के नीचे रह-अपने को, धन्य बनाती है।
वह ही जब ऊपर उठती है-तो सबके सिर पर जाती है॥

तुलसी का इस भाँति जब फैला यश सर्वत्र।
पहुँचा उनके पास तब एक अनोखा पत्र॥

उनके श्वशुरालय से कोई-तीर्थाटन करने आया था।
वह रत्नावलि अर्द्धाङ्गिनि की, चिट्ठी अपने सँग लाया था॥
चिट्ठी क्या थी-हृदयेश्वरि ने-रक्खा निज हृदय खोलकर था।
मर्मस्थल को छूनेवाला दोहा यह उसमें सुन्दर था॥

"कटि की-खीनी कनक सी, रहत सखिन सँग सोय।
मोहि कटे को डर नहीं-अनत कटे दुख होय॥"

चिट्ठी ने मीठी चुटकी ली-तुलसी के अन्तर में मन में।
याद आए कुछ मीठे सपने, फुरफुरी एक उठी तन में॥
लेकिन तुरन्त ही सँभल गए, चित साध लिया तुलसीजी ने।
दोहे में ही अपना उत्तर, यह भेज दिया तुलसीजी ने—

"कटे एक रघुनाथ सँग बाँध जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेम-रस, पत्नी के उपदेस॥

चित्रकूट के भूप थे—राजा रामकुमार ।
आए-तुलसी के निकट, कर गङ्गा को पार ॥
थी राजकुमारी संग उनके-उसने भी चरण छुए आकर ।
तुलसी ने उनसे आने का, कारण पूछा हित दिखलाकर ॥
वे बोले-"पुत्री से अवश्य, पुष्पित जीवन का उपवन है ।
पर अपना क्या? यह तो स्वामी, सब भाँति पराया ही धन है ॥
हैं आप सिद्ध, सबविध समर्थ सन्ताप सभी हर सकते हैं ।
इस सेवक की, शरणागत की, इच्छा पूरी कर सकते हैं ॥
पुत्र-प्राप्ति का दीजिए, या तो प्रभु वरदान ।
या यह कन्या ही बने, पुत्ररूप गुणवान ॥"
रँधवाकर-औषध सहित-थोड़े चावल चीर ।
तुलसी ने नृपसुता को, तुरत खिलाई खीर ॥
फिर चरणामृत की चमची दे-श्रीरामनाम उच्चार किया ।
प्रभुबल से राजकुमारी को, चणभर में राजकुमार किया ॥
यह घटना यद्यपि इस युग में-अनहोनी मानी जायेगी ।
पर गूढ़ विचार किया जाए-तो अवशि समझ में आयेगी ॥
दिखलाने को और भी, नाम प्रभाव विशाल ।
तुलसी जी ने ग्राम में बोई सूखी डाल ॥
ले नाम राम का, डाल दिया-दो तूँबा पानी क्यारी में ।
ख़ुद भी निवास कर टिके वहीं-मुखिया जी की फुलवारी में ॥
मुखिया ने कहा-"लगाता है यों सूखी डाल भला कोई ?
मालूम होगया महाराज, करते हैं आप नशा कोई ॥"
तुलसी ने कहाकि-"राम, नाम, सन्ताप सभी विष खोता है ।
यह वह संजीवन है भाई, मुर्दा भी जिन्दा होता है ॥

अपनी आँखों ही से मैंने–मुर्दा जो उठते देखा है।
लड़की में परिवर्तन होकर–लड़का भी बनते देखा है॥
अब फिर यह नाम-परीक्षा है, जग का विश्वास जगाने को।
नर-जीवन की नीरस डाली–रस की वल्लरी बनाने को॥'

तुलसी से कहने लगा, मुखिया कर उपहास—
"खत्त न होता; तो न यों, खोते होश हवास॥

जो सम्भव है–सो सम्भव है सम्भव न असम्भव बनता है।"
तुलसी बोले–"श्रीराम-नाम, सब कुछ संभव कर सकता है॥
यह सम्भव और असम्भव सब, माया के भीतर रहते हैं
प्रभु को है नहीं असम्भव कुछ, निगमागम ऐसा कहते हैं॥
जो माया-मध्य असम्भव है, वह प्रभु के आगे सम्भव है।
है राम नाम में अलख शक्ति, जो भव भव-विभव-पराभव है॥'

मुखिया बोला–"तो रहो, सींचो सूखी डाल।
हरी हुई–तो बनूँगा मैं चेला तत्काल।"
यथासमय, कुछ रोज़ में, हरिया उट्ठी डाल।
फिर, क्या था; लगने लगा, मेला वहाँ विशाल॥
जहाँगीर ने सुना था, अकबर से सब हाल।
कपिदल से दिल्ली हुई, जिस प्रकार बेहाल॥

सिंहासन पर जब बैठा वह, तो एक रोज़ काशी आया।
सौगातें लेकर विविध भाँति, सेवा में तुलसी की आया॥
बोला तुलसी से–"स्वामी जी, किस तरह राज्य-सञ्चालन हो?
दीजिए सीख ऐसी जिससे–सुखदाई मेरा शासन हो॥
मैं बादशाह हूँ, आप शाह, मैं बाद, शाह के आगे हूँ।
हमराह लीजिए मुझको भी, गुमराह राह के आगे हूँ

मेरा भी सम्बन्ध हो, रहे ताज की लाज ।
पाँच गाँव जागीर में ले लें स्वामी आज ॥"

सुन जहाँगीर की यह बातें तुलसी ने समझाया उसको ।
'मैं गद्दीदार महन्त नहीं', त्यागी हूँ' बतलाया उस को ॥
'जागीर नहीं मैं ले सकता, उस बन्धन में बंध जाऊंगा ।
जिस माया को हूं त्याग चुका अब फिर न उसे अपनाऊंगा ॥
हाँ शासन का जो प्रश्न किया–निज सम्मति कहता हूं तुम से ।
क्यों हिन्दू मुस्लिम लड़ते हैं? यह प्रश्न पूछता हूं तुम से ॥
गीता की भाषा संस्कृत है, अरबी क़ुरान की भाषा है ।
पर गीता जो शिक्षा देती, वह ही क़ुरान की आज्ञा है ॥
बैलों से खेती होती है, इसलिए बैल अन्नदाता है ।
गोवध हर जगह बन्द करदो वह दूध-दायिनी माता है ॥
हिंसक पशु वन में हों जो भी, उन का ही दमन किया जाए ।
निर्दोष पक्षियों पशुओं को संरक्षण पूर्ण दिया जाए ॥
अन्यायी नृप निन्दित होकर–दोज़ख में जाकर जलता है ।
सुख देता है जो रैयत को–बस वही फूलता फलता है ॥"
तुलसी के ऐसे वाक्यों से वह शाहंशाह कृतार्थ हुआ ।
जीवन में उसके, कई बार–यह सदुपदेश चरितार्थ हुआ

राज्य ओड़छा में हुए श्रीयुत केशवदास ।
रामचन्द्रिका लिखी थी, इन कविवर ने खास ॥
गुरुविहीन थे इसलिए हुए देह तज प्रेत ।
भोग रहे थे योनि वह--निशदिन कष्ट-समेत ॥
रामनाम के मन्त्र की देकर शक्ति अपार ।
उनका भी दुख से किया–तुलसी ने उद्धार ॥

राणा श्रीभोजराजजी को-रानी मीरा तो भाती थी।
लेकिन मीरा रानी की वह-गिरिधर-पूजा न सुहाती थी॥
मीरा ने तुलसी को लिखा-"राणाजी हमें सताते हैं";
वह पत्र एक कविता में था-जिसको हम यहाँ बताते हैं॥

※ गाना ※

"स्वस्ति श्रीतुलसी गुणआगार, दूषण-हरण गुसाईं।
बारम्बार प्रणाम करौं मैं, हरो शोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते, सबन उपाधि बढ़ाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहिं, देत कलेश महाई॥
बालपने से मीरा कीनी, गिरिधरलाल-मिताई।
सो तो अब छूटत की नाहीं, लगी लगन बरिआई॥
मेरे मात पिता के सम हो, हरि भक्तन सुखदाई।
हमको कहा उचित करिवो है, सो लिखिए समुझाई॥"

—:o:—

पत्र बाँचकर सन्त ने, उत्तर लिखा पुनीत।
अब भी घर घर विदित यह, गोस्वामी का गीत—

❀ गाना ❀

"जा के प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही॥ १॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजनु कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं॥ २॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषन बन्धु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कन्त ब्रज बनितनि भये जग मङ्गलकारी॥ ३॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जाते होइ सनेह रामपद एता मतो हमारो॥ ४॥"

(तुलसीदास)

—·—

विचर रहे थे सब जगह जब श्रीतुलसीदास ।
एक गाँव में शाम को आकर किया निवास ॥
यह गाँव वही श्वशुरालय था—रत्नावलि जहाँ बिसारी थी ।
पर तुलसी ठाँव न चीन्ह सके फैली निशि की अँधियारी थी ॥
तुलसी के श्वशुर मर चुके थे, साला 'हरिसुख' ही जीवित था ।
उसकी पत्नी थी 'रामप्रिया', परिवार तीन तक सीमित था ॥
हरिसुख ने निज घर के आगे मन्दिर हरि का बनवाया था ।
उस रजनी में विश्रामहेतु तुलसी को वह ही भाया था ॥
मन्दिर में सन्ध्यावन्दन को हरिसुख भी आया श्रद्धा से ।
तुलसी को मन में सन्त समझ-निज शीस झुकाया श्रद्धा से ॥
बातचीत कर प्रेम से, भेजा आटा दाल ।
बोला अपनी नारि से, फिर यों हरिसुखलाल ॥
"जो सन्त कि मठ पर उतरे हैं, जिनको सीधा पहुँचाया है ।
वह जीजाजी से लगते हैं, ऐसा भ्रम मुझमें आया है ॥
तुम जीजी से जाकर कहना—वे प्रातः मठिया में जायें ।
परखें पहचान करें उनकी, फिर भेद मुझे सब बतलायें ॥
हो सकता है यह-वे ही हों-होंगे—तो मनचीते होंगे ।
हम रोक उन्हें लेंगे बरबस, यदि जीजाजी ही वे होंगे ॥"
प्रातः उठ रत्नावली सुमिर विष्णु भगवान ।
मन्दिर पहुँची साथ ले—पूजा का सामान ॥
उस समय महाकवि तुलसी जी, श्रीरामचरित्र सुनाते थे ।
प्रभु की प्रतिमा के सम्मुख वे—'फुलवारी लीला' गाते थे ॥
तुलसी की बोली सुनी जभी—वह बोली मन में पैठ गई ।
फल फूल समीप धरे उनके—रत्नावलि बायें बैठ गई ॥

जब कथा बन्द कर, उठे सन्त--तब चितवन कुछ उनकी देखी ।
फिर चाल ढाल को भी परखा मुखड़े की आकृति भी देखी ॥
हो गई प्रतीति की पति ही है, तो हाथ बढ़ाये अकुलाकर।
पद छूना चाहा, पर तुलसी पीछे हट गये सटपटा कर ॥
बोले -"हम वह गोस्वामी हैं--जो चरण न कभी छुआते हैं
इस गुरु पन और बड़प्पन से अपने को सदा बचाते हैं
जितने नर यहाँ उपस्थित हैं-सब पूज्य पिता हैं, भ्राता हैं ।
नारियाँ यहाँ जितनी भी हैं--सब बहनें हैं सब माता हैं ॥"

तुलसी जी की बात सुन विहँसी नारि सुजान —
बोली--"अनुचित उचित का मुझको भी है ज्ञान ॥

हैं बड़े हाथ परमेश्वर के, जो तुम्हें खींच लाये प्यारे ।
हैं धन्य भाग्य इस दासी के--जो घर बैठे आये प्यारे ॥
अब अधिक न त्याग करो मेरा, हक मेरा देदो मुझको भी ।
या तो रह जाओ यहीं नाथ, या साथ ले चलो मुझको भी ॥
अर्द्धांगिनि को कलपाओगे- तो तुम भी कब कल पाओगे ?
मैं जीवन भर अकुलाई तो--तुम अन्त समय अकुलाओगे ॥"
तुलसी बोले--"पहचान लिया, रत्नावलि तुम्हीं हमारी हो।
तुमने ही मुझको ज्ञान दिया, गुरूरूपा तुम महतारी हो ॥
तन त्याग, पहुँच साकेत लोक--हम दोनों फिर मिल जाएँगे।
प्रभु के समीप जब पहुंचेंगे--प्रभु के सेवक कहलाएँगे ॥"

रत्नावलि बोली तुरत-- 'सुनिए जीवननाथ ।
दासी को रख साथ में--भजिये श्री रघुनाथ ॥

जैसे यमदग्नि महात्मा के श्रीमती रेणुका साथ रहीं ।
जैसे आया बन गौतम की--श्रीमती अहिल्या साथ रहीं ॥

त्योंही संग रह कर हम दोनों--जप तप में जन्म बिताएँगे ।
पालन कर अक्षय ब्रह्मचर्य, तापस दम्पति कहलाएँगे ॥
तुलसी बोले-"जो नरनारी संग रह तपकार्य चलाते हैं ।
वे आग फूँस बन, कभी कभी, क्षण भर में जल बुझ जाते हैं ॥
क्या हालत हुई रेणुका की? अपना ही शीश कटा डाला ।
पतिशाप अहिल्या पर टूटा-पत्थर की शिला बना डाला ॥
इस कारण तुम भी भजो उन्हें-मैं जिनको निशदिन भजता हूँ ।
मत मुझे जगत् में खींचो अब, मैं बहुत जगत् से डरता हूँ ॥

❋ गाना ❋

दुनिया का अब मैं नहीं रहा क्यों मुझे सताती है दुनिया ?
अब कोसों दूर निकल आया-क्यों मुझे बुलाती है दुनिया ?
शर्बत में रोज जहर पीकर, होगई मेरी हालत अब्तर ।
फिर मीठी मीठी बातों में क्यों मुझे फँसाती है दुनिया ?
चाहत का फल जब फ़ुर्क़त है, ज़ाहिरा जब छुपी मुसीबत है ।
घूँघट से झाँक झाँककर फिर-क्यों मुझे लुभाती है दुनिया ?
खोई सब उम्र लड़ाई में, सो गया हूँ अब तन्हाई में ।
फिर तरहतरह के ख़्वाब दिखा, क्यों मुझे जगाती है दुनिया ?
धन मेरा-मेरा धाम नहीं, तन मेरा 'राधेश्याम' नहीं ।
मन भी मिट चुका है जीते जी-क्यों मुझे टिाती है दुनिया ?

(श्री राधेश्याम-गीताञ्जलि से

—०:—

रोता छोड़ा नारि को, ली निज दृष्टि मरोर ।
राम-नामवाला चला-राम नाम की ओर ॥
मन्दाकिनि-तट पर मिला-पुनः दरस साक्षात ।
यह दोहा उस दरस का है अबतक विख्यात—

"चित्रकूट के घाट पर थी सन्तन की भीर ।
तुलसिदास चन्दन घिसें तिलक देंय रघुवीर ॥
काशी में इनसे मिले कुछ पण्डित विख्यात ।
साफ़ साफ़ कहने लगे–उठा काव्य की बात ॥
"रामायण को हम नहीं मानेंगे पठनीय ।
भाषा की कविता कहीं, होती आदरणीय ?
हाँ विश्वनाथ जी यदि अपना, हस्ताक्षर उसपर करदेंगे ।
तो हम सब भी रामायण को अपनालेंगे आदर देंगे ॥
श्रीविश्वनाथ के मन्दिर में आखिर इनकी पोथी रखदी ।
संस्कृत-ग्रन्थों के साथ साथ, यह भाषा-कविता भी रखदी ॥
थे चारों वेद और गीता, श्रीवाल्मीकि की रामायण ।
सबसे नीचे सातवीं जगह–तुलसी जी की थी रामायण ॥
मन्दिर के पट कर दिए बन्द, ताला जड़ दिया पुजारी ने ।
चाबी अपने घर में रक्खी, तब बिनती की तुलसी जी ने ॥
"हे विश्वनाथ, हे उमानाथ, अब लाज आपके ही कर है ।
इस रामायण की सभी लाज–प्रभु–हस्ताक्षर पर निर्भर है ॥
यह वह रामायण है भगवन् हनुमत् ने जिसे बनाया था ।
पर वाल्मीकि के आग्रह से गंगा में तुरत बहाया था ॥
खुद बजरंगी जी आते थे, जिह्वा पर मेरी छाते थे ।
मैं लिखता जाता था केवल, कविता तो वही बनाते थे ॥
यदि नहीं किए हस्ताक्षर तो, होगी न अमर यह रामायण ।
मैं डूब मरूँगा गंगा में, उबरी न अगर यह रामायण ॥"
किया रातभर इस तरह, महादेव का ध्यान ।
पक्षी बोले मधुर स्वर, होने लगा विहान ॥

तीर्थाटन करती हुई-निज भ्राता के संग
रत्नावलि आई तभी दुर्बल जर्जर अंग ॥
वह गंगा न्हाकर आई थी, जल विश्वनाथ को लाई थी ।
जब देखा ताला लगा हुआ- तो मन में कुछ घबराई थी ॥
तुलसी जी माला जपते थे, रत्नावलि ने पहचान लिया ।
अन्तिम अर्जी फिर रक्खूँ मैं, यह उसने तत्क्षण ठान लिया ॥
बोली-"कर में माला है, मन में काव्य प्रबन्ध ।
मुझसे ही किस वास्ते, तोड़ा फिर सम्बन्ध ?
सन्तान-बिना हे महाराज, मिटता है वंश विचार करो ।
हैं पितर आपके महादुखी, दुख से उनका उद्धार करो ॥
जिस माया से जग पैदा है उस माया का अपमान न हो ।
माया तो पृथक् ब्रह्म से है- ज्ञानी में यह अज्ञान न हो ॥"
यह कहकर उसने जभी इनको किया प्रणाम ।
देखे तुलसीदास ने नारी में भी—राम ॥
चरणों में रख शीस निज बोले वचन ललाम ।
"माया का कब रूप तुम ! तुम भी-"सीताराम" ॥
आगया पुजारी इतने में-दर्वाजा खोला मन्दिर का ।
तुलसी रामायण को लाकर सेवक वह बोला मन्दिर का ॥
"हे रामचरितमानस-लेखक, हे कविवर, तुम्हें बधाई है ।
शंकर ने अपने हाथों से, इस कृति पर सही बनाई है" ॥
तुलसी पुलका उट्ठे तत्क्षण, बाहर फिर भीतर को देखा ।
शंकर ने हनुमत् को देखा, हनुमत ने शंकर को देखा ॥
कहउ उठे—"जयति रघुवीर हेतु रुद्रावतार केसरीसुवन ।
जय विश्वनाथ. देवाधिदेव, जय रामदास अञ्जनीसुवन ॥"

रामचरित से जगत् का, कर तुलसी उपकार ।
'विनय-पत्रिका' रच उठे करने निज उद्धार ॥
भाँति भाँति के पदों में कर निज प्रभु का गान ।
प्रभु ही से प्रभु—कृपा का—माँगा अब वरदान ॥
जिस दिन पत्रिका समाप्त हुई, कुछ देह हुई भारी इनकी ।
अत्यन्त वेग से ज्वर आया, सुधि नष्ट हुई सारी इनकी ॥
तब सूक्ष्म देह से तुलसी ने, यह दृश्य मनोहारी देखा ।
'साकेत' लोक में—राघव का, दर्बार लगा भारी देखा ॥
लक्ष्मण जी प्रभु के निकट पहुँच, सादर अभिवादन करते हैं ।
तुलसी की 'विनय-पत्रिका' को, चरणों में रखकर, कहते हैं—
"हे नाथ, कठिन कलिकाल—मध्य, तुलसी अनुरक्त आपका है ।
घर दर की ममता मोह त्याग, तन मन से भक्त आपका है ॥
जिसकी रामायण ने घर घर, प्रभु की माला फिरवाई है ।
प्रभु-सेवा में उस प्यारे की, अब 'विनय-पत्रिका' आई है ॥"
भरत शत्रुहन भी तुरत, कह उट्ठे शिरनाय ।
"विनय पत्रिका—भक्त की, स्वीकृत हो रघुराय ॥"
विहँस कहा रघुराज ने—"सुधि है मुझको तात ।
जनकसुता कह चुकी हैं, पहले ही सब बात ॥"
अब प्रभु के संकेत से—हनूमान सोल्लास ।
तुलसी को लाए वहीं सिंहासन के पास ॥
जन ने जब प्रभु चरण पर, झुका दिया निज माथ ।
'विनय-पत्रिका' पर 'सही' हुई नाथ के हाथ ॥
होगई समाप्त सूक्ष्मलीला, तो जड़ शरीर चैतन्य हुआ ।
बोले "सब काम हुए पूरे, यह मानव-जीवन धन्य हुआ ॥"

फिर अपनी विनय-पत्रिका में अन्तिम पद और लिखा जन ने ।
लिखते लिखते मन मस्त हुआ, 'जय सीताराम' कहा जन ने ॥

जाना-तुलसीदास ने 'पास आगया अन्त' ।
पार्श्ववर्तियों से कहा कर संकेत तुरन्त ॥
'राम-नाम-जस बरनि के भयो चहत अब मौन ।
तुलसी के मुख दीजिए अब ही तुलसी सोन ॥'
सम्वत् सोरहसौ असी, असी गंग के तीर ।
श्रावणशुक्ला-सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ॥
इधर हुआ उच्चार सब, श्रद्धा-भक्ति-समेत ।
उधर पार्थिव देह तज भक्त गया साकेत ॥

❋ गाना ❋

धन्य गोस्वामी तुलसीदास ।
विधर्मियों के शासन में थी जनता मृतक—समान,
राम—नाम की सञ्जीवन दे-डाली उसमें जान,
देश में बढ़ा धर्म-विश्वास ।
धन्य गोस्वामी तुलसीदास ॥
अपनी रचनाओं में भरकर भक्ति, ज्ञान, विज्ञान,
अमर कर गए जग में-हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान,
नाम रह गया, रहा इतिहास ।
धन्य गोस्वामी तुलसीदास ॥"

—:०:—

इति

लेखक—
वेदान्तशास्त्री पण्डित कञ्जूलाल, काव्यतीर्थ

जगद् गुरु श्रीवल्लभाचार्य

सम्पादक—
नेपाल की श्री ३ सर्कार से "कथावाचस्पति" की पदवीप्राप्त—
कीर्तनकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—
पं० राधेश्याम कथावाचक

प्रकाशक—

तृतीय बार २०००] सन् १९६३ ई० [मूल्य ४४ नये पैसे

मुद्रक—पं० रामनारायण पाठक, श्रीराधेश्याम प्रेस, बरेली

प्रार्थना

मङ्गलदाता, मङ्गलकारी–राधेश्याम, राधेश्याम,
सुख के कर्त्ता दुख के हारी–राधेश्याम, राधेश्याम ॥
एक—सृष्टिपति–विश्व में—
है——आकाश——समान ।
एक सृष्टि ही स्वयं है—
पृथ्वी सदृश महान ।
जसुदानंदन—कीर्ति–दुलारी—राधेश्याम, राधेश्याम ॥
वाणी-अक्षर सम मिले—
ललित कला के धाम ।
ऐसे राधेश्याम को—
बारम्बार प्रणाम ॥
करदें निर्मल बुद्धि हमारी—राधेश्याम, राधेश्याम ॥

—: :—

卐 ~~ 卐

सिद्धिसदन, मंगलभवन, हैं गणेश–गणनाथ ।
प्रथम उन्हीं के चरण में–झुकता है यह माथ ॥

विमल बुद्धि की दायिनी, शारदमातु, नमामि ।
श्रीसद्गुरु आनन्दघन, बार बार–प्रणमामि ॥

द्विभुज, श्यामवपु, ललितमुख, कृपासिन्धु भगवान ।
इष्टदेव श्रीनाथजी करें प्रकाश प्रदान ॥

प्रबल प्रवर्तक बन—किया पुष्टि मार्ग का कार्य ।
वे ही–बल दें–दास को–गुरू वल्लभाचार्य ॥

जब जब होता धर्मबल–धराधाम पर शीर्ण ।
जगदीश्वर तब तब यहाँ होते हैं अवतीर्ण ॥

जिनका जग है, जिनका सब है—उसको सँभालते हैं वे ही ।
ब्रह्मा बन अगर बनाते—तो बन विष्णु पालते हैं वे ही ॥
घरवाले को घर की सुधि है—तो कैसे ऊजड़ होगा वह ?
माली जब बाग़ सींचता है—फिर क्योंकर बीहड़ होगा वह ?
बच्चों की शिक्षा को जैसे—बूढ़ा बच्चा बन जाता है ।
त्यों ही मनुजों की शिक्षा को—वह मनुजदेह धर आता है ॥

ऊँचे ऊँचे सन्तजन, योगी, यती महान ।

गौतम, कपिल, कणाद से—विद्या-बुद्धि-निधान ॥

व्यास और जैमिनि सदृश बड़े बड़े आचार्य—

समय समय पर कर गए हैं जो उत्तम कार्य ॥

पौराणिक मत है यही—कल्पभेद अनुसार ।

अवतारों की भाँति ही—वे भी हैं अवतार ॥

श्रीवल्लभ का चरित भी है प्रत्यक्ष प्रमाण ।

नके द्वारा हुआ है—पुष्टिमार्ग निर्माण ॥
ऐ.

प्रभु के समान—थे युग अवतार महाप्रभु यह ।
करदें निर्मल का, आकर कर गए सुधार महाप्रभु यह ॥
ा कर. अज्ञानतिमिर का नाश किया ।
.क बता, शुचि शीतल चन्द्र प्रकाश किया ॥

पूर्वज वल्लभ के हुए धर्माचरण प्रधान ।
किए सबों ने सर्वदा, धार्मिक कृत्य महान ॥

है विदित-यज्ञनारायण ने, शत सोमयाग की इच्छा की ।
मैं या मेरे वंशज इनको, कर देंगे पूर्ण—प्रतिज्ञा की ॥
इकतीस यज्ञ करके ही वे, नारायणधाम सिधार गये ।
चारों दिश यश फैला उनका, ऐसे कर धर्म-प्रचार गये ॥
पश्चात् पुत्र गंगाधर ने, वैसी ही विधि से यजन किया ।
सत्ताइस यज्ञ उन्होंने कर गोविन्द-लोक को गमन किया ॥
गंगाधर के सुत थे गणपति, कुछ संख्या बढ़ा गए वे भी ।
निर्विघ्न किए बत्तीस यज्ञ, मर्यादा निभा गए वे भी ॥
उनके सुपुत्र वल्लभजी ने, फिर पाँच-और सम्पन्न किए ।
कितने ही उत्तम ग्रन्थ रचे, विज्ञों के चित्त प्रसन्न किए ॥
श्रीलक्ष्मण भट्ट नामवाले, वल्लभ के प्यारे लाल हुए ।
जो पाँच यज्ञ बाकी के कर, दशरथ की तरह निहाल हुए ॥

जैसे सगरादिक नृपति, तप में हुए समाप्त ।
सिर्फ भगीरथ को हुई, पतितपावनी प्राप्त ॥
त्यों ही लक्ष्मण भट्ट ने, किए शेष जब याग ।
सौ का प्रण पूरा हुआ, जागे इनके भाग ॥
पूर्णाहुति ही पर हुई नभवाणी तत्काल ।
"होगा घर में आपके, कृष्णचन्द्र सा लाल ॥"

❀ गाना ❀

सत्कृत्यों ही से भाग्य कमल खिलता है।
शुभ कर्मों का निश्चय शुभ फल मिलता है॥
शास्त्रोक्त यजन पूजन जो भी करते हैं।
हरिचरणों में जो ध्यान सदा धरते हैं॥
जो सत्य, धर्म पर जीते हैं—मरते हैं।
उन पुरुषों से सब पाप ताप डरते हैं॥
पृथ्वी तो क्या आकाश तलक हिलता है।
शुभ कर्मों का निश्चय शुभ फल मिलता है॥

दक्षिण में काकुम्भकर, नगरी थी विख्यात।
रहीं भट्ट परिवार था जिसकी है यह बात॥

आकाश गिरा सुन लक्ष्मणजी, भार्या समेत अति मुदित हुए।
निश्चय ही हम बड़भागी हैं अब सुदिन हमारे उदित हुए॥
'इल्लमागारु' पत्नी समेत, निज इष्टदेव का ध्यान किया।
तीर्थाटन करने के निमित्त, घर से सहर्ष प्रस्थान किया॥

आए प्रथम प्रयाग यह, मन में लिए उमंग।
शङ्कर दीक्षित का मिला, संगम से सत्संग॥
आगे चलकर फिर किया, काशीपुरी-निवास।
सन्त समागम वहाँ भी, करते थे सोल्लास॥

श्रीमती इल्लमागारू जी, नित प्रभु की सेवा करती थीं।
पति को परमेश्वर-रूप समझ-पूजा, परिचर्या करती थीं॥
ऐसी पवित्र पतिसेवा में, पतिकुल का मान बढ़ाने को।
वे हुईं शुभ समय गर्भवती, भारत का भाग्य जगाने को॥

ढूंढी म्लेच्छों में छिड़ा, उन्हीं दिनों—संग्राम।
बहुतों का होने लगा, प्रतिदिन काम तमाम॥

श्रीलक्ष्मण भट्ट महोदय को, अपनी तो तनिक न चिन्ता थी।
गर्भिणी इल्लमा की परन्तु, चिन्तन के योग्य अवस्था थी॥
अतएव छोड़ काशीनगरी, वे चलने को तैयार हुए।
श्रीशङ्कर ने सहायता की, उस विपज्जाल से पार हुए॥

गहन विपिन में शान्ति का था साम्राज्य अभंग।
दाएँ बाएँ वृक्ष थे, पगडंडी थी तंग॥
फिर भी यह जा रहे थे, उस पथ से सानन्द।
ऋषि-दम्पति आरण्य में, विचरे ज्यों स्वच्छन्द॥

चलते चलते वह बन आया, मन मुग्ध जहाँ हो जाता था।
चम्पक ही चम्पक के तरु थे, जो चम्पारण्य कहाता था॥
पानी की वहाँ प्रचुरता थी, सब पेड़ पल्लवित पुष्पित थे।
थे कहीं कहीं वर्गद पीपल, कुछ शमीवृक्ष भी शोभित थे॥
श्रीवल्लभ प्रभु की जन्मभूमि, चम्पे का वन है आज तलक।
बस इसीलिए उसको कहता जग-चम्पारन है आज तलक॥

फलवती वृक्ष की डाली सी—नम गईं इल्लमागारूजी ।
लक्ष्मणजी आगे निकल गए, थम गईं इल्लमागारूजी ॥
यद्यपि था गर्भ सप्त मासिक, पर हुई प्रसव-वेदना इन्हें ।
छाया में एक शमी तरु की तत्काल ठहरना पड़ा इन्हें ॥

इसी जगह प्रकटित हुए, श्रीवल्लभ सुखकन्द ।
लिपटे हुए जरायु से, घन में जैसे चन्द ॥
माँ ने देखा जब उन्हें, मुखड़ा हुआ मलीन ।
सतमासा वह प्रसर था, बिल्कुल चेष्टाहीन ॥

नभवाणी का वह प्रिय संदेश अब घोर व्यथा में बदल गया ।
कल तक था जो आनन्द-आज वह करुण-कथा में बदल गया॥
निर्धन ने बड़े परिश्रम से, जो द्रव्य कमाया चला गया ।
जिससे थी आगे की आशा, वह बेटा आया चला गया ॥
नवजात लाल को मृतक समझ, ढक वहीं वृक्ष के पत्तों से ।
'हरि-इच्छा' समझ दुखित जननी, चल पड़ी कांपते पाँओं से ॥

उधर प्रिया की बाट में, थे पतिदेव अशान्त ।
तभी पहुंचकर इन्हों ने, कहा सभी वृत्तान्त ॥
सन्नाटे में आगए, सुनकर वे यह बात ।
आशाओं के वृक्ष पर, हुआ कुठाराघात ॥

लक्ष्मणजी अब भी चलते थे पर चल चलकर रुक जाते थे ।
रह रहकर कितने ही विचार, मस्तक में चक्कर खाते थे ॥

मनकी आकुलताकहतीथी,-"हा! विकसित भाग्य-कमलन हुआ।
सौ यज्ञ पूर्ण होने पर भी, प्रत्यक्ष प्राप्त कुछ फल न हुआ ॥"
आत्मा की दृढ़ता कहती थी, "यदि आज नहीं तो कल होगा ।
विश्वास करो, धीरज रक्खो, आगे चलकर मङ्गल होगा ॥"

चतुर्भद्रपुर में किया, उस रजनी विश्राम ।
सोए पढ़कर भागवत, लेकर हरि का नाम ॥
हर्षित आनन्दित हुए, सुन्दर स्वप्न निहार ।
कहा किसी ने-"आपके, हुआ दिव्य अवतार ॥"
उट्ठे लक्ष्मण भट्टजी, विस्मित हो तत्काल ।
जगा इल्लमा को कहा, उससे भी यह हाल ॥
अगले ही दिन सुना यह दम्पति ने वृत्तान्त ।
विश्वनाथ की पुरी का, युद्ध होगया शान्त ॥
'गंगातट पर ही जपें, नारायण का नाम' ।
यही सोचकर चल दिए, फिर वह काशीधाम ॥

जिस रस्ते से यह आए थे, उस रस्ते ही पर जाते थे ।
पथ वही, बन वही वृक्ष, वही, सब दृश्य वही, अब आते थे ॥
मन ही मन रटते जाते थे- गोविन्द हरे, गोपाल हरे ।
रह रहकर कहते जाते थे, नटनागर, दीनदयाल, हरे ॥
नियराया शमी-वृक्ष जब वह, हिय उमड़ाया उस माता का ।
बच्चे का तुरत ध्यान आया, जी भर आया उस माता का ॥

जननी के वाम अङ्ग फड़के, जब दृश्य अनोखा सा देखा ।
कुछ चमत्कार सा, जादू सा, जागृति में सपना सा देखा ॥

मण्डल के आकार में, लहराती थी ज्वाल ।
खेल रहा था मध्य में, एक फूल सा लाल ॥
मातृस्तन से वह चली तुरत दूध की धार ।
"स्वामी देखो सामने"–झट कह उठी पुकार ॥

"मृत समझ जिसे छोड़ा था वह मुख में अंगुष्ठ चूमता है ।
पावक है उसको खिला रहा, या वह ही स्वयं खेलता है ॥
जल जायें हाथ–नहीं चिन्ता, हाथों से इसे उठाती हूँ ।
अपनी छाती के टुकड़े को, छाती से अभी लगाती हूँ ॥"

हाथ बढ़ाया तो वहाँ थी न कहीं भी ज्वाल ।
उठा लिया झट गोद में, माँ ने अपना लाल ॥
पन्द्रह सौ पैंतीस था, सम्वत् सुख दातार ।
कृष्णपक्ष वैशाख का, ग्यारस तिथि रविवार ॥

दशरथ को चार पुत्र पाकर, जिस तरह हर्ष चौचन्द हुआ ।
त्यों केवल एक पुत्र ही से लक्ष्मण को परमानन्द हुआ ॥
खोए धन को फिर से पाकर ख़ुशहाल निहाल हुए दोनों ।
कल तक कंगाल रहे थे जो, अब मालामाल हुए दोनों ॥

काशी में जाकर किया, जातकर्म-संस्कार ।
नान्दीमुख श्राद्धादि भी शास्त्ररीति अनुसार ॥

गूँज उठा—गोकुल-सदृश—वेदध्वनि से धाम ।
जीवनवल्लभ पुत्र का 'वल्लभ' रक्खा नाम ॥

काशी ही में अब दिन दूनी—जीविका बढ़ी पण्डितजी की ।
इल्लमादुलारे को-घर में—थी कमी न माखन-मिश्री की ॥
जाड़ों में मोहनभोग, खीर, शिखरन,श्रीखण्ड जीमते थे ।
गर्मी में खरबूज़े खाते, वर्षा में आम चूसते थे ॥

गङ्गा न्हाते प्रति दिवस कर कर खूब किलोल ।
दम्पति नित बलिहार थे सुन सुन तोतर बोल ॥
तीन वर्ष के होगए—जब वल्लभ भगवान ।
सुना एक निशि—पिता ने सपने में—यह गान ॥

❀ गाना ❀

काशी में शोभित हैं व्रजवल्लभ-बनकर वल्लभ लाला जी ।
यमुना-तट वहाँ प्रकाश किया-गङ्गा-तट यहाँ उजाला जी ॥
वे नन्दन नन्द यशोदा के बन आए ।
यह लाल इल्लमा लक्ष्मण के कहलाए ।
तब व्रजवालों पर अब काशीवालों पर जादू डाला जी ॥
वे मथुरा में—फिर गोकुल में प्रकटाए ।
यह चम्पारन से—काशी जी में आए ।
इनका रँग श्वेतसलोना—उनका नीलाम्बुज-सम काला जी ॥
वे बने जगद्गुरु गीता-ज्ञान सुनाकर ।
यह मान पायँगे-पुष्टिमार्ग फैलाकर ।
राधावल्लभ की भाँति जपेगा जग—वल्लभ की माला जी ॥

— :o: —

हुआ पाँचवें वर्ष ही, अक्षर-बोध समाप्त ।
घर ही में व्याकरण की, शिक्षा भी की प्राप्त ॥

इनकी भी शङ्कर के समान, धारणाशक्ति थी बढ़ी हुई ।
पुस्तक अति शीघ्र याद होती, मानो पहले है पढ़ी हुई ॥
संस्कार-समन्वित शिशुओं के, लक्षण ऐसे ही होते हैं ।
होनेवाले बिरवाओं के, पत्ते चिकने ही होते हैं ॥

आठ वर्ष की आयु में, मिला इन्हें उपवीत ।
किया प्रेम से पिता ने, यह संस्कार पुनीत ॥
गुरुकुल में पढ़ने गए, जब यह बुद्धिनिधान ।
चार वेद छै शास्त्र पढ़—बने शीघ्र विद्वान ॥
इसी बीच में चलदिए, लक्ष्मण भगवद्धाम ।
मानो उनके लिए था, नियत यहीं तक काम ॥
यों तो आए जो यहाँ, एक दिवस वे जांय ।
धन्य उन्हीं का जन्म जो, जग को कुछ दे जांय ॥
काशीगंगातट हुआ इनका शवसँस्कार ।
मां बेटे ने कुछ दिनों, सहा विषाद अपार ॥
मामा वल्लभ के तभी, आए काशी-धाम ।
साथ ले गए इन्हें वे, दक्षिण में निज ग्राम ॥
काशी में इस भांति कर, ग्यारह वर्ष व्यतीत ।
वल्लभ ने पूर्वजों की, देखी भूमि पुनीत ॥

दक्षिण-भारत में एक नगर, जो विद्यानगर कहाता था ।
उसका राजा श्रीकृष्णदेव, सुरपति के तुल्य सुहाता था ॥
सन्तों का था वह परम भक्त विद्वानों का अति प्रेमी था ।
वेदों शास्त्रों का अनुरागी, धार्मिक ग्रन्थों का व्यसनी था ॥
वैष्णवों स्मार्तों--दोनों का, उस राज-सभा में झगड़ा था ।
बनते थे दोनों ही ऊँचे शास्त्रार्थ समाप्त न होता था ॥
इनका कहना था- सम्प्रदाय-है सबसे श्रेष्ठ वैष्णवों का ।
वे कहते थे वैष्णव-मत से, ऊँचा है पन्थ स्मार्तों का ॥
यह कठिन समस्या हल करने, आते थे शास्त्री बड़े बड़े ।
वेदों उपवेदों के प्रमाण, लाते थे शास्त्री बड़े बड़े ॥
थक गए पच गए सबके सब, लेकिन निश्चय कुछ हो न सका ।
कितने ही दिन शास्त्रार्थ हुआ, तो भी निर्णय कुछ हो न सका ॥
प्रायः हठ सी पड़ जाती है, धार्मिक विवाद जब चलता है ।
जो अड़ जाता है किसी जगह, वह नहीं वहाँ से टलता है ॥

राजसभा की बात यह मामाजी से जान ।
श्रीवल्लभजी ने किया, विद्यानगर पयान ॥
हुई प्रभावित सब सभा इनका तेज निहार ।
उच्चासन दे नृपति ने, किया उचित सत्कार ॥
वैष्णव-मत का सबों को, समझाकर गूढ़ार्थ ।
अट्ठाइस दिन तक किया, वल्लभ ने शास्त्रार्थ ॥

शास्त्रीय नीरनिधि के मोती, रख दिए रोल वल्लभजी ने ।
मिथ्या युक्तियाँ काट डालीं, सच बोल बोल वल्लभजी ने ॥
व्याख्या वक्तृता विवेचन सुन, विद्वान् चमत्कृत सभी हुए ।
सबकी सम्मति से आखिर में, श्रीवल्लभजी ही जयी हुए ॥
"कनकाभिषेक' होगा इनका, राजा ने तुरत घोषणा की ।
मन्त्री लोगों ने तदनुसार सुन्दर सम्पूर्ण व्यवस्था की ॥
अत्यन्त शीघ्र सब नगर सजा सिंहासन उठा विजेता का ।
जयकार-सहित निकला जुलूस, इन ब्रह्म-धर्म के नेता का ॥
आगे थी चतुरङ्गिणी चमू, बाजे थे विविध झंडियाँ थीं ।
पीछे हाथी थे सजे हुए, घोड़ों की सुघड़ पंक्तियाँ थीं ॥
आरती उतरती जगह जगह, मालाएं सादर मिलती थीं ।
भवनों छतों से कन्याएं, फूलों की वर्षा करती थीं ॥

राजसभा में फिर इन्हें, ले आए नरनाथ ।
हुई सविध पधरावनी, छत्र चँवर के साथ ॥

निम्बार्क, माध्व, रामानुजादि, सब पीठाधीश उपस्थित थे ।
आचार्य विष्णुस्वामीमत के, श्रीहरि स्वामी भी शोभित थे ॥
इनके हाथों ही सभा-मध्य, अभिषेक आदि सब कार्य हुए ।
कल तक जो श्रीवल्लभजी थे, वे आज वल्लभाचार्य हुए ॥

पहुँचा दक्षिणदेश में, घर घर यह सम्वाद ।
मिला वैष्णव-जगत् को एक नया आह्लाद ॥

इधर नृपति ने विनय की-चरणों में रख माथ ।
"शिष्य मुझे सकुटुम्ब कर, मन्त्र दीजिए नाथ ॥
यदपि न रुचिकर था अभी, गुरु बनने का भार ।
किन्तु हुए आचार्यवर, नृप-हठ से लाचार ॥

परिवार-समेत शास्त्र-विधि से, भूपतिवर को वर मन्त्र दिया ।
प्रभु भक्तिमार्ग का प्रथम चरण, श्रीशरणाष्टाक्षर मन्त्र दिया ॥
फिर शुभाशीष देकर सबको, पहनाई माला तुलसी की ।
दे विविध प्रमाण पुराणों के, समझाई महिमा तुलसी की ॥

भूपति ने श्रद्धा-सहित-शीश नवा तत्काल ।
भेंट किया श्रीचरण में, मुहरों से भर थाल ॥

उसमें से दैवी द्रव्यरूप, बस सात मुहर लीं गुरुवर ने ।
"सबको बाँटो" यह आज्ञा दे, बाकी लौटा दीं गुरुवर ने ॥
हर्षोल्लास सद्भाव-सहित, जब यह शुभ कृत्य समाप्त हुआ ।
राजा ने कहा—"धन्य हूँ मैं, शिष्यत्व चरण का प्राप्त हुआ ॥

पाकर विद्यानगर से, इस प्रकार सम्मान ।
आए मामा के यहाँ, वल्लभ ज्ञाननिधान ॥

सबसे ज्यादा आनन्द हुआ उस समय इल्लमा माता को ।
उस जननी को, उस धात्री को, उस मैया को, उस अम्बा को ॥
बलिहारी गईं, बलैयाँ लीं, मुख चूमा प्यारे वल्लभ का ।
आँखों के जल से स्वागत कर, आँखों के तारे वल्लभ का ॥

दिन पर दिन बढ़ने लगा, अब वल्लभ का मान ।
धार्मिक चर्चा-हेतु नित आते थे विद्वान ॥
एक दिवस आए वहाँ, गुरुवर योगाचार्य ।
विष्णुस्वामि-मत के मुकुट, विल्वमंगलाचार्य ॥
वल्लभ ने उनका किया, विधिपूर्वक सम्मान ।
मानो अपने भवन में, आए हों भगवान ॥
प्रतिभा इनकी देखकर, बोले श्रीगुरुराज ।
"कुछ विशेष उद्देश से, आया हूँ मैं आज ॥

श्रीविष्णुस्वामि-मत के प्रवतक, आचार्य सात सौ प्रकटे हैं ।
सिद्धान्त उन सबों ने अपने, धार्मिक जनता में रक्खे हैं ॥
सन्यास कठिन है, सब मनुष्य सर्वस्व नहीं तज सकते हैं ।
है भक्ति सरल परमेश्वर को, सारे प्राणी भज सकते हैं ॥
प्रचलित है शताब्दियों से जो वेदानुकूल वह धर्म यही ।
थोड़े में समझो वल्लभजी अपने मत का है मर्म यही ॥
सन्तुष्ट हुआ हूँ मैं तुमसे, दक्षिण-दिग्विजय किया तुमने ।
अपनी विद्वत्ता का डंका, सब जग में बजा दिया तुमने ॥
मैं वृद्ध हो गया इस कारण मेरा पद तुम स्वीकार करो ।
अर्पण है तुमको सम्प्रदाय अब इसका तुम्हीं प्रचार करो ॥
गुरुराज विष्णुस्वामी का भी, था अन्तिम समय सँदेश यही ।
'वल्लभ को भार सौंपना यह' कर गए मुझे आदेश यही ॥

कहता है मेरा आत्मा भी, तुम यह कर्तव्य निभाओगे।
हे प्यारे, हे प्रभु के प्यारे, तुम प्रभु का पन्थ बढ़ाओगे॥"

यद्यपि यह कहते रहे, मैं हूँ अभी अबोध।
फिर भी रखना ही पड़ा, उन प्रभु का अनुरोध॥
दीक्षित वल्लभ को किया, कर शुचि मंत्र प्रदान।
दे अपना आचार्य-पद, गुरु ने किया पयान॥
चमक उठा हरिकृपा से, अब इनका नक्षत्र।
विज्ञ वल्लभाचार्य की, धूम मची सर्वत्र॥
देशाटन चहुँदिश किया, तीन बार सानन्द।
तीर्थों में निज धर्म का झण्डा किया बुलन्द॥

फिर मुख्य मुख्य नगरों में जा, सम्भाषण दिया प्रचार किया।
इनका, इनके उपदेशों का, सबने स्वागत सत्कार किया॥
धर्मामृत की वह वृष्टि हुई, धार्मिक उपवन खिलखिला उठा।
श्रीविष्णुस्वामि-मत का बिरवा, फिर हरा हुआ लहलहा उठा॥
आचार्य जहाँ भी जाते थे, दर्शन को लोग उमँडते थे।
उपदेश, कथा-प्रवचन, भाषण, श्रद्धापूर्वक सब सुनते थे॥
कुछ ही वर्षों में पहुँच गया, शुद्धाद्वैत-मत घर घर में।
कहलाकर 'वल्लभ-सम्प्रदाय' फैला यह धर्म देशभर में॥
भक्तों पर भक्त हुए पैदा, महिमा बढ़ चली भागवत की।
गूँजा श्रीराधा-कृष्ण-नाम, गाथा चल पड़ी भागवत की॥

ज्ञान-मार्ग के रवि प्रथम—हुए वल्लभाचार्य ।
भक्ति-मार्ग के चन्द्र फिर बने वल्लभाचार्य ॥

निज पूज्य पूर्वजों की नाईं, इनमें भी उपजी इच्छा यह ।
कुछ 'सोमयज्ञ' में भी करलूँ, आचार्य-चरण ने सोचा यह ॥
आवश्यक था इसके निमित्त, सँग में अर्द्धाङ्गिनि का होना ।
यज्ञों में जो वामाङ्ग रहे, ऐसी वामाङ्गिनि का होना ॥

काशी में यह अन्ततोः बना पुनीत प्रसङ्ग ।
मधुमङ्गल जी की सुता लक्ष्मी जी के सङ्ग ॥

श्रीपाण्डुरङ्ग विट्ठलजी की आज्ञानुसार यह ब्याह हुआ ।
तैलङ्ग ब्राह्मणों की विधि से, सम्पूर्ण कर्म सोत्साह हुआ ॥
सचमुच दोनों ही थे अनूप, श्रीवल्लभ और महालक्ष्मी ।
सद्धर्म और सत्क्रियारूप श्रीवल्लभ और महालक्ष्मी ॥
प्रभुवर ने पाणिग्रहण बाद, अब अग्निहोत्र का ग्रहण किया ।
क्रमशः कर बाइस सोमयज्ञ, पुरखाओं का अनुकरण किया ॥
सम्पूर्ण देश में इनके प्रति, अब श्रद्धा-निष्ठा और बढ़ी ।
'श्रीवल्लभ-सम्प्रदाय' की भी, प्रतिपत्ति प्रतिष्ठा और बढ़ी ॥
सम्वत् पन्द्रहसौ अड़तालिस, था अभिमत फल-दातार इन्हें ।
इनका आराध्य, इष्ट इनका, मिल गया विचित्र प्रकार इन्हें ॥

एक रात सोते समय मिला इन्हें आभास ।
प्रकट मनोगत भावना प्रभु ने की यह खास ॥
"ब्रज में है गिरि एक जो कहलाता गिरिराज ।
महिमा उसकी जानता, सारा भक्त-समाज ॥

जब सब ब्रजवालों के समेत, मोहन ने की अपने मत की ।
आराधन इन्द्रदेव का तज, पूजा की श्रीगोवर्द्धन की ॥
बरसाया मूसलधार मेह, होकर क्रोधान्ध सुरेश्वर ने ।
नख पर गिरिराज धारकर तब, संरक्षण किया ब्रजेश्वर ने ॥

आखिर थककर इन्द्र ने प्रभु को माथा टेक ।
पदवी दी गोविन्द की कर सादर अभिषेक ॥
ब्रजवासी उस दिवस से, बड़े प्रेम के साथ ।
मोहन को कहने लगे, श्रीगोवर्द्धननाथ ॥

गिरिधर भूतल से चले गए, पर गोवर्द्धन है आज तलक ।
है गुप्तरूप से उस गिरि में, वह ब्रज का नन्दन आज तलक ॥
आदेश तुम्हें है, हे वल्लभ, गिरिराज शीघ्र ही जाओ तुम ।
गोवर्द्धननाथ ब्रजेश्वर को, उस गिरिवर से प्रकटाओ तुम ॥"

वाक्य अलौकिक श्रवण कर, चकित हुए आचार्य ।
पहुंचे श्रीगिरिराज पर, छोड़ पर्यटन-कार्य ॥

जाते ही व्रजजनों से, पूछ उठे तत्काल ।
"कहाँ-मिलेंगे किस जगह, वे गिरिधर गोपाल ?"

उत्कण्ठा इनकी देख देख, रह गए चकित सब व्रजवासी ।
वह लगन और वह श्रद्धा थी, होगए चकित सब व्रजवासी ॥
उस कृष्ण-दरस के प्यासे को, आकुलता से चलते देखा ।
पावन व्रजरज को माथे पर, चन्दन-समान मलते देखा ॥
बढ़ते थे यह अधीरता से, इस भाँति श्याम के दर्शन को ।
जिस भाँति गए थे चित्रकूट, श्रीभरत राम के दर्शन को ॥

व्रजवासी बोले तुरत,-"इतने मत अकुलाउ ।
दिखलाते हैं ठौर वह, संग हमारे आउ ॥"
पहुंचाया इनके लिए, एक गुहा के पास ।
कहा-"इसी में देव वह, करता है आवास ॥

गोवर्द्धन उसने धारा है, गोवर्द्धननाथ कहाता है ।
बाहरवालों का दिया भोग, भीतर ही बैठा पाता है ॥
सम्वत् चौदहसौ छियासठ में, प्रकटी थी ऊर्ध्व भुजा प्रभु की ।
फिर पन्द्रहसौ पैंतीस मध्य दीखी मुखचन्द्र-प्रभा प्रभु की ॥
तब से अब तक फिर कुछ न लखा, है हममें उनमें दूरी सी ।
आचार्य आप ही पूर्ण करें, झाँकी जो रही अधूरी सी ॥"

चमत्कार यह श्रवण कर, फिर फिर किया प्रणाम ।
हाथ जोड़ आचार्यवर बोले वचन ललाम ॥

❀ गाना ❀

जयति जय नीलाम्बुज—सम श्याम ।
नन्द के लाल, श्याम, घनश्याम ।
हे व्रजपति, व्रजवल्लभ, व्रजेन्द्र, व्रजराज व्रजेश्वर नमो नमः ।
हे योगिराज, यदुकुलभूषण, यदुपति, यादववर नमो नमः ।
हे मनमोहन, माधव, मुकुन्द, मुद-मंगल-कारी नमो नमः ।
हे गुरु, गोविन्द, गोपिकावर, गोवर्द्धनधारी नमो नमः ।
राधिकारञ्जन 'राधेश्याम', ललित लीलावर मनोऽभिराम ।
नन्द के लाल, श्याम घनश्याम ॥"

—:०:—

बिन्दु आगया जिस समय, अगम सिन्धु के पास ।
मधुर-मिलन के वास्ते, लहर उठी सोल्लास ॥
या यूँ कहिए उस समय, हो आनन्द-विभोर ।
फलित देखकर चल पड़ा बीज वृक्ष की ओर ॥
प्रकटा उस गिरिगुहा से, श्यामल सुन्दर रूप ।
मोरमुकुट धारण किए, बालक एक अनूप ॥

दोनों ही रूप बढ़े आगे, भगवान् भक्त का मेल हुआ ।
कोई भी नहीं देख पाया, कुछ ऐसा अद्भुत खेल हुआ ॥
बालक बोला "हे वल्लभ जी, ऐसा अब आप प्रचार करें ।
श्रीबाल कृष्ण की भक्ति जगे, सब इसी रूप को प्यार करें ॥

मैं बालरूप से इस ब्रज में, सर्वदा रहा हूँ, रहता हूँ ।
यह रूप बड़ा ही प्यारा है, इस-कारण तुमसे कहता हूँ ॥
कलियुग में भक्ति अधूरी है, करनी है उसकी पूर्ति तुम्हें ।
लो-इसीलिए-अपना प्रतीक, देता हूँ अपनी मूर्ति तुम्हें ॥"

उसी समय आचार्य को, अचरज हुआ महान ।
मिलकर भी-हरि होगये-तत्क्षण अन्तर्ध्यान ॥
टेर उठे वल्लभ तभी, बड़े हर्ष के साथ ।
"बोलो, हे ब्रजवासियो जय गोवर्द्धननाथ ॥"

सुनते ही वल्लभ की पुकार, सब मिलकर साथ बोल उट्ठे
जय गिरिधर, जय गिरिधारी, जय गोवर्द्धननाथ बोल उट्ठे ॥
ब्रजवालों को उन श्रीप्रभु के दर्शन कर हर्ष महान हुआ ।
कब और किस तरह, प्रकट हुए, यह नहीं किसी को ज्ञान हुआ ॥
सम्भाषण दर्शन सब प्रकार, आचार्यचरण तक सीमित था ।
प्रभु के मिलने का चमत्कार, आचार्यचरण तक सीमित था ॥
निश्चय पुण्यों की पूँजी से, वल्लभ ने शुभ दिन पाया यह ।
या हरि स्वामी गुरु का आशिष साक्षात् सामने आया यह ॥
इस भाँति जनों को सुख देने, प्रकटे जनरञ्जन निर्जन से ।
जो रूप आज भी प्रस्तुत है, निकला है वह गोवर्द्धन से ॥
कवि सच्ची बात कह रहा है, कल्पना नहीं इस कविता में ।
गोवर्द्धन मे, प्रभु प्रकटे हैं, लिक्खा है गर्गसंहिता में ॥

श्लोकाः

येन रूपेण कृष्णेन धृतो गोवर्द्धनो गिरिः ।
तद्रूपं विद्यते राजन् तत्र शृङ्गारमण्डले ॥ १ ॥
अब्दाश्चतुःसहस्राणि तथा पञ्चशतानि च ।
गतास्तत्र कलेरादौ क्षेत्रे शृङ्गारमण्डले ॥ २ ॥
गिरिराजगुहामध्ये सर्वेषां पश्यतां नृप ।
स्वतः सिद्धञ्च तद्रूपं हरेः प्रादुर्भविष्यति ॥ ३ ॥
श्रीनाथं देवदमनं तं वदिष्यन्ति सज्जनाः ।
गिरिराजगिरौ राजन् सदा लीलां करोति यः ॥४ ॥
ये करिष्यन्ति नेत्राभ्यां तस्य रूपस्य दर्शनम् ।
ते कृतार्था भविष्यन्ति श्रीशैलेन्द्रे कलौ जनाः ॥ ५ ॥
जगन्नाथो रङ्गनाथो द्वारकानाथ एव च ।
बद्रीनाथश्चतुःकोणे भारतस्यापि दृश्यते ॥ ६ ॥
मध्ये गोवर्द्धनस्यापि नाथोऽयं वर्तते नृप ।
पवित्रे भारते वर्षे पञ्चनाथाः सुरेश्वर ॥ ७ ॥
सद्धर्ममण्डनस्तम्भा आर्तत्राणपरायणाः ।
तेषां तु दर्शनं कृत्वा नरो नारायणो भवेत् ॥ ८ ॥
चतुर्णां भुवि नाथानां कृत्वा यात्रां नरः सुधीः ।
न पश्येद् देवदमनं न स यात्राफलं लभेत् ॥ ९ ॥
श्रीनाथं देवदमनं पश्येद् गोवर्द्धने गिरौ ।
चतुर्णां भुवि नाथानां यात्रायाश्च फलं लभेत् ॥ १० ॥

पधराए अब पाट पर, श्रीगोवर्द्धननाथ ।
पूजा की आचार्य ने, भक्ति-भाव के साथ ॥
वल्लभ प्रभु ने, उस समय दिया एक व्याख्यान ।
समझाई सब जनों को, सम्प्रदाय की शान ॥

"भारतवासी जगदीश्वर को, युग युग से ध्याते आये हैं ।
इहलौकिक और पारलौकिक, दोनों सुख पाते आये हैं ॥
था एक समय जब यज्ञों के द्वारा-आराधन होता था ।
अति उग्र साधना करने पर, श्रीहरि का दर्शन होता था ॥
यह कलियुग है, कलियुग में तो है नाम-रटन सीधा साधन ।
भवसागर से तर जाने को, श्रीकृष्णभजन सीधा साधन ॥
श्रीकृष्ण त्रिकाल मध्य सत हैं, श्रीकृष्ण आदि हैं त्रिभुवन के ।
श्रीकृष्ण प्राण हैं प्राणों के, जीवन हैं जग के जीवन के ॥
श्रीकृष्ण पूर्ण परमेश्वर हैं, उनसे है परे नहीं कोई ।
सर्वोपरि हैं, सर्वेश्वर हैं, उनसे है परे नहीं कोई ॥
सर्वत्र उजाला देकर भी, दीपक स्वयमेव उजाला है ।
ऐसे ही स्वयं प्रकाशरूप, काली कामलियावाला है ॥
इसलिए त्यागकर अपनापन, जो कुछ है प्रभु जी का समझो ।
मेरे तेरे का ध्यान छोड़, सब गिरिधारी ही का समझो ॥
तज अहङ्कार निज हर डालो श्रीवासुदेव के चरणों में ।
सर्वस्व समर्पण कर डालो, श्रीवासुदेव के चरणों में ॥

वे चरणकमल जिनका निशिदिन, ऋषिमुनिगण करता वन्दन है।
वे चरणकमल जिनका पराग, ब्रज-ललनाओं का जीवन है ॥
उन चरणों ही से प्रेम करो, उन प्रभु ही को प्रियतम समझो ।
जैसे रक्खें वे रहो सदा, सुख और दुःख को सम समझो ॥
प्रभु की प्रियतम की सेवा में, निज को यदि नित्य लगाओगे ।
शतस्वर्ग-मुक्ति से भी बढ़कर, श्रीकृष्णधाम को पाओगे ॥"

इस भाषण-उपदेश की, बैठी ऐसी छाप ।
शीश सबों के झुक गए, सादर अपने आप ॥
गूँजा चारों दिशा में, 'जय वृन्दावनचन्द' ।
कृष्णभक्त करने लगे, यह कीर्तन सानन्द—

❀ गाना ❀

"जग को जगाने के लिए—'श्रीकृष्णः शरणं मम'—कहो ।
सुख-शान्ति पाने के लिए—श्रीकृष्णः शरणं मम'—कहो ॥
जग-बगिया में बिछे हैं, जगह जगह पर शूल ।
खिला हुआ है एक ही कृष्ण-नाम का फूल ।
मन-अलि रिझाने के लिए—'श्रीकृष्णः शरणं मम'—कहो ॥
पिछली करनी भूल जा, कर अब नया प्रयत्न ।
चुन ले कंकड़ छोड़कर कृष्ण-नाम का रत्न ।
धनपति कहाने के लिए—श्रीकृष्णः शरणं मम'—कहो ॥
है असार संसार में कृष्ण-नाम ही सार ।
जबतक तन में प्राण हैं, कृष्ण कृष्ण उच्चार ।
जीवन बनाने " [illegible]—'श्रीकृष्णः शरणं मम'

अति सुन्दर मन्दिर हुआ, बनकर यह तैयार ।
प्रभुसेवा का इस तरह हुआ खूब विस्तार ॥
श्रीवल्लभ जब कर चुके, यह सुकृत्य सम्पन्न ।
यथासमय उनके हुए, दो सुपुत्र उत्पन्न ॥
दीक्षित गोपीनाथ जी, थे सुशील सुत ज्येष्ठ ।
दीक्षित विट्ठलनाथ जी, छोटे आत्मज श्रेष्ठ ॥

सम्वत् पन्द्रहसौ अड़सठ में, नन्दन अग्रज का जन्म हुआ ।
पन्द्रह सौ और बहत्तर में, छोटे आत्मज का जन्म हुआ ॥
जेठे आत्मज उत्पन्न हुए, आश्विन की कृष्ण द्वादशी को ।
छोटे आत्मज ने जन्म लिया, शुभ पौष कृष्ण की नवमी को ॥
आचार्यचरण ने बहुत काल बस्ती 'अड़ैल' में वास किया ।
काशी-समीप चरणाटक में, फिर थोड़े समय प्रवास किया ॥
शुभ भाष्य पूर्व मीमांसा के द्वादश अध्यायों पर लिक्खा ।
अणु भाष्य दूसरा उसी भाँति, श्रीब्रह्मसूत्रों पर लिक्खा ॥
षोडश ग्रन्थों की रचना की, टीका भी लिखी भागवत की ।
जिसको सुबोधिनी कहते हैं, है जीवनप्राण पुष्टिमत की ॥
तत्त्वार्थदीप, पत्रावलम्ब, पुरुषोत्तम सहस्र-नाम लिक्खा ।
कितने ही ग्रन्थ-प्रबन्ध लिखे, जो कुछ लिक्खा ललाम लिक्खा ॥
यह कृतियाँ हैं साकार भक्ति, जिनमें है प्राण वैष्णवों का ।
करती थीं और कर रही हैं, अबतक कल्याण वैष्णवों का ॥

कृष्ण-भक्ति का होगया, चारों ओर प्रचार ।
कहलाए—'श्रीमहाप्रभु' वल्लभ ज्ञानागार ॥

यदपि देशभर में हुआ, सम्प्रदाय प्रख्यात ।
किन्तु प्रभावित थे अधिक मारवाड़ गुजरात ॥
आया अब वह शुभ दिवस, वल्लभ प्रभु के प्राण ।
ब्रजवल्लभ का नाम ले, जग से करें प्रयाण ॥

उन्मुक्त हुए आचार्यचरण, इस जगज्जाल से पहले ही ।
होगया काल का ज्ञान इन्हें, निज अन्तकाल से पहले ही ॥
सन्यास त्रिदण्ड लेलिया तब हनुमान् घाट पर काशी में ।
चालीस दिवस का अनशन कर मन लगालिया अविनाशी में ॥
श्रीमाधवाय, श्रीकेशवाय, श्रीशाय, हृषीकेशाय नमः ।
भगवते श्रीगोपिकावल्लभाय, कृष्णाय, वासुदेवाय नमः ॥
ध्वनि मौन इन्हीं प्रिय नामों की, मन से आत्मा तक गूँज उठी ।
निकली आत्मा से स्वरलहरी, जो परमात्मा तक गूँज उठी ॥
सन्तों भक्तों का दल का दल, अन्तिम दर्शन को उमड़ पड़ा ।
आचार्यरूप अवतारी के पूजन–वन्दन को उमड़ पड़ा ॥

होते रहे कृतार्थ जन, नवा-नवाकर शीस ।
सन्यासी के इस तरह, बीते दिन चालीस ॥
उदयाचल से हो रहा था जब उदय दिनेश ।
गङ्गाजल में महाप्रभु करने लगे प्रवेश ॥
हुई चमक सी गगन में, गूँजा नामोच्चार ।
प्रभु पहुँचे प्रभुधाम को, तज नश्वर संसार ॥

आयु भोग बावन बरस, सात दिवस दो मास ।
श्रीहरि के प्यारे गए, श्रीहरि ही के पास ॥

जब महाज्योति के निकट गई, यह दिव्य ज्योति भूतलवासी ।
आषाढ़शुक्ल-द्वितिया तिथि थी, सम्वत् पन्द्रहसौ सत्तासी ॥
श्रीगोपीनाथ पुत्र ने भी प्रभु-सम्प्रदाय की सेवा की ।
कुछ काल वास कर भूतल पर, गोलोकधाम की यात्रा की ॥
इनके पश्चात् अनुज इनके, श्रीविट्ठलनाथ महान हुए ।
कहलाये यह 'गोसाईजी' विद्या में पिता-समान हुए ॥
'विद्वन्मण्डन' की रचना की, जो ग्रन्थ अपूर्व कहाता है ।
नास्तिक भी जिसका मर्म समझ, पूरा आस्तिक बन जाता है ॥
इन 'गोस्वामीजी' के द्वारा, कितने ही उत्तम कार्य हुए ।
तदनन्तर श्रीगिरिधर जी-फिर, दामोदरजी आचार्य हुए ॥
गिरिधर जी के छोटे भाई, गोविन्द सबों के प्यारे थे ।
जिनके द्वारा नाथद्वारे—गोवर्द्धननाथ पधारे थे ॥

सम्वत् जब चल रहा था, सत्रहसौ चौबीस ।
जालिम औरंगजेब ने, बहुत उठाया शीस ॥
दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा, उसका अत्याचार ।
व्यापा भारतवर्ष में, भीषण हाहाकार ॥
उसी समय गोविन्दजी, पा प्रभु का आदेश ।
गिरिधारी को ले चले, तज गिरिराज-प्रदेश ॥

दण्डौत, धार, कोटादिक में, कुछ समय सहर्ष व्यतीत किया।
पश्चात् जोधपुर में विराज, उस पुर को परम पुनीत किया॥
श्रीराणा राजसिंहजी ने, प्रभु को सादर बुलवाया फिर।
हिन्दुत्व-प्रधान उदयपुर में, 'मन्दिर' बनवा पधराया फिर॥
है धन्य धन्य मेवाड़भूमि, जिसमें अनेक रणधीर हुए।
श्रीउदयसिंह से नीतिकुशल, राणा प्रताप से वीर हुए॥

ग्राम एक 'सिंहाड़' था, छोटा किन्तु ललाम।
कुछ ही दिन में बन गया, वह श्रीहरि का धाम॥
मन्दिर निर्मित होगया, धूमधाम के साथ।
श्रीगोवर्द्धननाथ जी, कहलाए श्रीनाथ॥

'सिंहाड़'-ग्राम उस दिन ही से, 'श्रीनाथद्वार' विख्यात हुआ।
गुजरात और व्रज उमड़ चला, जब समाचार यह ज्ञात हुआ॥
अब भी श्रीनाथ सुशोभित हैं, वह नाथद्वार है अभीतलक।
पहले था जैसा सेवा का, उत्तम प्रकार है आजतलक॥
श्रीवल्लभ प्रभु के वंशज ही, यह सेवा करते आए हैं।
श्रीगोस्वामी जी कहलाकर, सञ्चालक रहते आए हैं॥
इस समय सोलहवें वंशरत्न, श्रीगोविंदलाल सुहाते हैं।
हैं आप सुशिक्षित शीलवान्, विधिवत् सब कार्य चलाते हैं॥
श्रीकाशी और प्रयाग तीर्थ, जैसे प्रसिद्ध हैं तीर्थों में।
श्रीजगन्नाथ श्रीरङ्गनाथ, जिस तरह पूज्य हैं देवों में॥

वैसे ही नाथद्वार और श्रीनाथ विदित सम्मानित हैं।
भक्तों का है वैकुण्ठ यही, भगवान् जहाँ पर शोभित हैं॥

बढ़ा हुआ है यहाँ की, सेवा में लालित्य।
होती हैं भगवान् की आठ झाँकियाँ नित्य॥

पट खुलते प्रात समय पहली झाँकी 'मङ्गला' कहाती है।
होता है भीतर शंखनाद बाहर विनती की जाती है॥
मङ्गला भोग में मोहन को, माखन इत्यादिक रखते हैं।
लाला का लालन पूर्ण होय, इसलिए आरती करते हैं॥
'शृङ्गार' नामवाली प्रभु की, झाँकी दूसरी कहाती है।
तीसरी 'ग्वाल' झाँकी है जो, ग्वालों के संग सुहाती है॥
चौथी है 'राजभोग' जिसमें बहु व्यञ्जन रक्खे जाते हैं।
सकरे खस्ता नमकीन मधुर, पक्वान्न भोग में आते हैं॥
इस अवसर भी राधावर की, आरती उतारी जाती है।
वस्त्राभूषण सज्जित छवि पर, जनता बलिहारी जाती है॥
होता है जब मध्याह्नकाल, विश्राम व्रजेश्वर करते हैं।
पट हो जाते हैं बंद, इसे सब लोग 'अनोसर' कहते हैं॥
तीसरे पहर, शंखध्वनि से, आती है वेला दर्शन की।
मेवायें रखकर होती है, पञ्चम झाँकी 'उत्थापन' की॥
'फल-भोग' छठी में रखते हैं, प्रभु फल का भोग लगाते हैं।
ग्वालों के संग फल खाने से, जन इसको भोग बताते हैं॥

गोधूलि-काल के होने पर, मण्डली लौटकर आती है।
होती है यह सप्तम झाँकी, 'सन्ध्या-आरती' कहाती है॥
आठवीं 'शयन' की झाँकी है, करते हैं शयन नन्दनन्दन।
लेते हैं मूँद यशोदा की गोदी में नयन नन्दनन्दन॥
है नाथद्वार नन्द का घर, नित नूतन उत्सव रहते हैं।
आनन्द उपस्थित सदा यहाँ—प्रस्तुत सब वैभव रहते हैं॥
प्रिय रूप—जनों के सम्मुख जो व्रजवल्लभ व्रजनन्दन का है।
यह वही रूप गोकुलवाला मथुरासुत नँदनन्दन का है॥

धन्य बालछवि मुग्ध हैं—जिस पर शम्भु सुजान।
धन्य वल्लभाचार्य जी, जिनके यह भगवान॥

❀ आरती—गान ❀

आओ उतारें भक्तजन, श्रीनाथजी की आरती।
राधारमण आनन्दघन, श्रीनाथजी की आरती॥
तन दीप वत्ती कर्म की, घी प्रेम का लौ धर्म की।
करता पुजारी मुदित मन, श्रीनाथजी की आरती॥
व्रजभूमि में प्रकटित हुए, मेवाड़ में शोभित हुए।
श्रीमहाप्रभु के प्राणधन, श्रीनाथजी की आरती॥
आनन्द के भण्डार हैं, मनवाच्छित दातार हैं।
दुख के हरन, सुख के सदन, श्रीनाथजी की आरती॥
छविधाम ललित ललाम की, गुणधाम राधेश्याम की।
मङ्गल-करन, तारन-तरन, श्रीनाथजी की आरती॥

———

❀ : इति : ❀

लेखक—
साहित्यभूषण, हिन्दीप्रभाकर
पण्डित खुशीराम शर्मा 'विशारद'

गुरु नानक

सम्पादक—
नेपाल गवर्नमेण्ट से "कथावाचस्पति" की पदवीप्राप्त—
कीर्तनकलानिधि, काव्यकलाभूषण, श्रीहरिकथाविशारद, कविरत्न—
पं० राधेश्यामकथावाचक

प्रकाशक—

चौथी बार १०००] सन् १९६१ ई० [मूल्य ४४ नये

मुद्रक—पं० रामनारायण पाठक, श्रीराधेश्यामप्रेस, बरेली

ॐ

प्रार्थना

निभाया आज तक है, आज भी भगवन् निभाओ तुम ।
हुई है साँझ जीवन की, न अब देरी लगाओ तुम ॥
तुम्हारे दर्शनों की चाह में, यह प्राण अटके हैं ।
दयाकर मोहिनी मूरत, मुझे अपनी दिखाओ तुम ॥
किनारे के निकट आकर भी नैया डगमगाती है ।
दया की डाँड से इसको, दयामय अब बचाओ तुम ॥
पड़ा हूँ धूलि में और वेदनाओं ने सताया है ।
उठाकर भक्त को अपने कलेजे से लगाओ तुम ॥
न जानें राह में कब से बिछाई हैं ये दो आँखें ।
सफल हो साधना मेरी, जो आँखों में समाओ तुम ॥

—:o:—

जिसकी वाणी से यहाँ फैला ज्ञान–विकास ।
दूर हुए सन्ताप सब, मिटा अन्ध–विश्वास ॥
जनता में जिसने भरी, प्रभु की भक्ति अनन्य ।
आज उसी के गान से, हो यह वाणी धन्य ॥

आर्य जाति का हो चुका था गौरव–रवि अस्त ।
सकल प्रजा कर रही थी, त्राहि त्राहि हो त्रस्त ॥
सदियों से सो रहा था, पृथीराज सा शूर ।
मनमानी कर रहे थे, विजातीय अति क्रूर ॥

आधीन विदेशी शासन के, होकर हिंदू पामाल हुए ।
खो राज-पाट ऐश्वर्य, ऐश, निर्बल निर्धन बेहाल हुए ॥
जो कभी चक्रवर्ती होकर वसुधा पर शासन करते थे ।
अपने बल विक्रम से जग में, जग के कष्टों को हरते थे ॥
हा शोक ! उन्हीं की माँ बहनें अब यवन छीन लेजाते थे ।
वे खड़े खड़े देखा करते, पुरुषार्थ न कुछ कर पाते थे ॥
जो कभी सकल भूमण्डल पर निज धर्म-ध्वजा फहराते थे ।
अब वे ही यवनों के भय से, निज शिखासूत्र कटवाते थे ॥
आर्यों का ग्रन्थागार सभी, ज्वाला में जल कर क्षार हुआ ।
लेखनी कहाँ तक लिखे हाय जो बहुविध अत्याचार हुआ ॥

रक्त बहाते थे यवन, हो निर्भय निरशङ्क ।
फैला था सर्वत्र ही, जनता मे आतङ्क ॥
भटक रहे थे आर्यगण, वर्णाश्रम को भूल ।
काट चुके थे आप ही, धर्म वृक्ष की मूल ॥

हो पथ से भ्रष्ट ब्राह्मणो ने, वेदो का मार्ग भुलाया था ?
अपना प्रभुत्व दर्शाने को, धोखे का जाल बिछाया था ॥
जब कर्णधार ही जनता के, इस विध कर्तव्य-विहीन हुए ।
तब वैश्यादिक की कौन कहे, सबके सब मति-गति-हीन हुए ॥
बिसराकरके एक ईश्वर को, मनमाने देव मनाते थे ।
नर-बलि या पशुबलि दे देकर, अपना आराध्य रिझाते थे ॥
काफिर कह कहकर यवन उन्हें, अपने से दूर भगाते थे ।
फिर भी वे उनकी कब्रों पर, जा जाकर शीश झुकाते थे ॥

बढ़ते हैं सर्वत्र ही जब बहु पापाचार ।
होते हैं जब अति प्रबल, भीषण अत्याचार ॥
आते हैं करुणेश तब, ले अपना अवतार ।
महापुरुष अथवा कोई, करता आन सुधार ॥
विश्व-सभ्यता ने जहाँ, देखा प्रथम विहान ।
वैदिक ऋषियो के जहाँ, गूँजे थे शुचि गान ॥
एक बार फिर भी हुआ, वही पञ्चनद धन्य ।
एक बार फिर वहीं से, फैला नव चैतन्य ॥
इसी पञ्चनद प्रान्त मे, सुख शोभा का धाम ।
तलवंडो के नाम से, बसता था एक ग्राम ॥
वेदी वश महान् था वहाँ सबो का त्राण ।
उसी वश मे हुए थे श्रीमेहता कल्याण ॥

पन्द्रहसौ छब्बीस था, कातिक मास अनन्य ।
सुत जन्मा कल्याण के, हुआ सकल जग धन्य ॥
थी पुण्य पूर्णिमा की रजनी, अनुपम मादकता छाई थी ।
शशि-किरणों ने भूमण्डल पर, निशि भर चाँदी बरसाई थी ॥
जब बीत चुकी आधी रजनी, सहसा एक तीव्र प्रकाश हुआ ।
मानो करोड़हा चन्द्रों से, आलोकित स्वच्छाकाश हुआ ॥
सम्पूर्ण सौर-मण्डल में भी, फैला अद्भुत सा उजियारा ।
छा गया सब जगह महानन्द, पुलकित हो उठा जगत सारा ॥
हो गई तृप्त माया 'तृप्ता', ऐसा अपूर्व सुत-धन पाकर ।
दीनों को जी भर दान दिया, कल्याणचन्द्र ने हुलसाकर ॥
आदर से कुल-विप्र को लिया तुरन्त बुलाय ।
देख लग्न नक्षत्र ग्रह, बोले द्विज हर्षाय ॥
"कल्याणचन्द्र तुम धन्य हुए, जो दिव्य पुत्र यह पाया है ।
जग के जीवों का हित करने, यह पुत्र तुम्हारा आया है ॥
होगा यह कोई महापुरुष, ग्रह इसके साफ़ बताते हैं ।
सदियों पीछे ऐसे विरले प्राणी वसुधा पर आते हैं ॥
दुनिया के बड़े-बड़े अधिपति, इसको निज शीश झुकायेंगे ।
कितने ही आकुल दुखी हृदय, इसके द्वारा सुख पायेंगे ॥
युग युग तक युग युग के प्राणी, गुण-गायन इसका गायेंगे ।
आराध्य देवता की नाईं, कितने ही इसे मनायेंगे ॥
तज जाति-धर्म का भेद-भाव, यह सबका उपकारी होगा ।
अतएव नाम इस बालक का, 'नानक' निरहंकारी होगा ॥"
इस प्रकार जब होचुका, 'नामकरण' संस्कार ।
विदा पुरोहित होगये, पा आदर सत्कार ॥

क्रम-क्रम से करने लगे, नानक चरित अपार ।
निरख बालक्रीड़ा हुआ, चकित सकल संसार ॥
अपने शैशव ही में नानक, कुछ अद्भुत दृश्य दिखाते थे ।
मुनियों की तरह समाधि लगा, ध्यानावस्थित हो जाते थे ॥
अटपटे तोतले वचनों में सबको उपदेश सुनाते थे ।
सच्चिदानन्द के चिन्तन में, ज़्यादातर समय बिताते थे ॥
कहते थे ईश्वर की महिमा, निज बाल सखाओं में जाकर ।
हर लेते थे उन सबका मन, नानाविध बातें बतलाकर ॥
ज्ञानी जन इनकी ज्ञानभरी वाणी का आदर करते थे ।
निज ज्ञान-चक्षुओं से इनमें, ईश्वर की झाँकी लखते थे ॥
उचित समय भेजे गए, पढ़ने गुरु से ज्ञान ।
गुरु इनकी प्रतिभा निरख, हुए बहुत हैरान ॥
पाटी पर लिखकर दिए, इन्हें अङ्क 'दो' 'चार' ।
तब यह यों करने लगे अपने प्रकट विचार ॥
"हे गुरुवर, हम सब युग-युग से, यह अक्षर लिखते आते हैं ।
कहने के लिए महापण्डित और ज्ञानी बनते जाते हैं ॥
पर हाय, न पलभर को भी तो, संतोष हमें कुछ मिलता है ।
कलपाते और कलपते ही, जीवन दिन-रात गुज़रता है ॥
है अटल शान्ति का जो साधन, नित्त उसे भुलाते जाते हैं ।
इन झूठे लेखों में पड़कर, हम सच्चा लेख न पाते हैं ॥
लिखना है तो हृदय पर, लिखें 'ओम' हर बार ।
काम क्रोध मद मोह-जो, करे जलाकर क्षार ॥
इसी लेख से अन्त में होवेगा उद्धार ।
यही लेख गुरु प्रेम से लिखिए बारम्बार ॥"

सुनकर ऐसी सत्यार्थ-पूर्ण, नानकजी के मुख से वाणी ।
गुरु बोले-'क्या सिखलाँय इसे,?यह तो खुद है पण्डित ज्ञानी ॥
क्या पढ़ेगा वह जो दुनिया को, स्वयमेव पढ़ाने आया है ।
पथ भूले हुए राहियों को, सत्पथ दिखलाने आया है ॥"
निश्चय ही नानक जी जग को कुछ तत्त्व सिखाने आये थे ।
निज ज्ञान ज्योति से लोगों का अज्ञान मिटाने आये थे ॥
इन झूठे विद्यालयों बीच, लगता फिर इनका मन क्यों कर ?
अक्षर अंकों की उलझन में, फँसता फिर इनका मन क्योंकर ?
जग के कोलाहल से सुदूर, वे निर्जन वन में जाते थे ।
प्रभु का आराधन कर-करके, मन ही मन में सुख पाते थे ॥
हो उठता था जब प्रेम प्रबल, तो सुधि न देह की रहती थी ।
वाणी से कीर्तन होता था, नयनों से धारा बहती थी ॥
रुपया पैसा जो कुछ मिलता, सब हरि के हेत लगाते थे ।
इस तरह नित्य वैराग्य भाव, उनमें बढ़ते ही जाते थे ॥

नानक जी की दशा लख, दुखी हुए कल्याण ।
सोचा—पढ़ने में नहीं अब इसका कल्याण ॥
जंगल में ही जब उसे मिलता है आनन्द ।
तो फिर जाकर खेत में, काम करे स्वच्छन्द ॥

पितु की आज्ञा से नानक जी, खेतों पर रोज लगे जाने ।
वैराग्य—भाव में बने रहे, पहले जैसे ही दीवाने ॥
उनके खेतों के धान सदा, हरिणादिक चरते रहते थे ।
पक्षी अपनी चोंचें दिन भर, दानों से भरते रहते थे ॥
लेकिन नानक जी को इसकी, रत्तीभर भी पर्वाह न थी ।
वे मस्त थे अपनी ही धुन में, कुछ और किसी की चाह न थी ॥

चुगती चिड़ियों को देख-देख, वे मन ही मन सुख पाते थे।
मानो उनको उन जीवों में, प्रभु छवि अपनी दिखलाते थे॥
वन-वृक्षों की शोभा उनको, संदेशा कुछ पहुँचाती थी।
नदियों की निर्मल जलधारा कल कल कर कथा सुनाती थी॥
वह एक नशे की हालत में, चुपचाप महज से रहते थे।
गर कभी किसी से कहते कुछ, तो प्रभु की बातें कहते थे॥

अति विचित्र यों देखकर, बेटे का व्यवहार।
चिन्तित हो कल्याण ने मन में किया विचार॥
"प्रबल हुआ है पुत्र के, चित में कोई विकार।
अत शीघ्र ही उचित है करना कुछ उपचार॥"
यही सोचकर एक दिन, लाये वैद्य बुलाय।
नाड़ी देखी वैद्य ने, बोले नानक—"हाय"!!
"वैद बुलाया वैदगी, पकड़ टटोले बाँह।
भोला वैद न जानिये, दर्द कलेजे माँह॥

(गुरु नानक)

❀ गाना ❀

किसी ने आज तक इस दर्द का भी पार पाया है?
कलेजे की कसक का कौन कर उपचार पाया है?
अबस है नब्ज छूना देखना हो तो ये दिल देखो।
कहो फिर इसमें तुमने, विश्व का आधार पाया है॥
कोई कहता है पागल है, कोई कहता है दीवाना।
मगर मैंने इसी दीवानगी में सार पाया है॥
अरे भोले! उतर सकता है यह गहरा नशा क्योंकर?
जब इस रँग में ही मैंने यार का दीदार पाया है॥

मर्म भरे सुनकर वचन, बोले वैद्य प्रवीन।
"निरंकार के ध्यान में, नानक हैं तल्लीन॥
कर सकते हैं क्या भला, हम इसका उपचार?
यह तो खुद ही करेगा, जग का दूर विकार॥"

लेकिन कल्याणचन्द्र को यह, बेटे का ढँग न सुहाता था।
विक्षिप्तों का सा चलन उन्हें अत्यन्त क्लेश पहुँचाता था॥
नानक जी की बातें सुनकर, वे दूने मन में दुखित हुए।
वैराग्य देख उनके मन का, बेचैन हो उठे व्यथित हुए॥
सुत के भविष्य का कर विचार, दिल में एक दर्द उमड़ आया।
और नानक जी को पास बुला, इस तरह उन्होंने समझाया॥
बोले—"बेटा, इस ढँग से तो, आशा ही टूटी जाती है।
इन बूढ़ी आँखों के आगे, अंधियारी छाती जाती है॥
तुम तो खुद चतुर सयाने हो, कैसे तुमको समझाऊँ मैं?
हो तुम्हीं बुढ़ापे की लकड़ी, कैसे यह तुम्हें बताऊँ मैं?
दुख पायें जिस से मात पिता, उस क्रूर मार्ग का त्याग करो।
वैराग्य छोड़कर तुम अपने घर गृहस्थ से अनुराग करो॥
तुम बेटे हो तो इस प्रकार, पालन बेटे का धर्म करो।
संसार में संसारी होकर, संसारी का—सा कर्म करो॥

सोच समझकर छेड़ दो, अब ऐसा कुछ काम।
जिसमें अपने वंश में, बढ़े नाम और दाम॥

भाई वाला को संग लेकर कल ही 'लावपुर' को जाओ तुम।
अच्छा सा और किफ़ायत का, कोई सौदा कर लाओ तुम॥
रुपये चालीस यह देता हूँ, इनको सँभाल कर ले जाना।
जो चीज भी लाओ देख भाल और भाव ताव करके लाना॥"

ले 'बाला' को साथ में, करने को व्यापार ।
नानक जी 'लवपुर' चले, पिता-वचन शिरधार ॥
दोनों ही मन में हर्षित हो, लवपुर की ओर जा रहे थे ।
लख वृक्षों और लताओं की शोभा आनन्द पा रहे थे ॥
सन्ध्या को वे दोनों पहुँचे, एक निर्जन कानन में जाकर ।
जिस जगह साधु-मण्डली एक, ठहरी थी पहले से आकर ॥
लेकिन उस साधु-मण्डली में चेहरे सब के कुम्हलाये थे ।
जाहिर था किसी मुसीबत ने वह सारे सन्त सताये थे ॥
जब पूछा तो मालूम हुआ, सब तीन रोज़ से भूखे हैं ।
मालूम नहीं क्यों उस प्रकार, उनके प्रभु उनसे रूठे हैं ॥
आगे चलने में हो अशक्त, ठहरे थे उस निर्जन वन में ।
सङ्कट में सङ्कटहारी को रटते थे, सब मन ही मन में ॥

साधुजनों पर देखकर, ऐसा कष्ट कठोर ।
नानक जी के हृदय में, व्यथा हुई अति घोर ॥

विह्वल होकर सोचने लगे,—"क्या अपना द्रव्य लुटादूँ मैं ?
उफ़ ! तीन रोज़ से भूखे हैं, यह विपदा क्यों न मिटादूँ मैं ?
ये सभी क्षुधा से पीड़ित हो, कैसे व्याकुल दिखलाते हैं।
हा ! कैसे देखूँ दुख इनका, बरबस लोचन भर आते हैं ॥
मिल जाए आज इन्हें भोजन, तो क्लेश न बढ़ने पायेगा ।
वर्ना ईश्वर के भक्तों का, यह दल भूखों मर जायेगा ॥"

इस ख़याल के साथ ही, पैदा हुआ विचार ।
द्रव्य दिया है पिता ने, करने को व्यापार ॥

फिर सोचा—"अरे खरा सौदा करने ही तो मैं आया हूँ ।
कुछ अच्छा सा व्यापार करूँ, बस इतनी आज्ञा लाया हूं ॥

तो इससे और खरा सौदा, पा सकता है जरदार कहाँ ?
भूखे भक्तों के प्राण बचें, इससे अच्छा व्यापार कहाँ ?"
यह सोच के भोजन सामग्री, ले आये नगरी से जाकर ।
वितरण कर उसे साधुओं में, घर लौटे शुभ आशिष पाकर ॥

बाला से कल्याण ने जाना सारा हाल ।
आकर सुत के पास यों बोले वचन कराल ॥
"अरे मूर्ख, अच्छा किया, तूने तो व्यापार ।
तेरी बुद्धि-विवेक को, लाख बार धिक्कार ॥
पैसा खोकर गाँठ का, घर लौटा नाकाम ।
खूब खरा सौदा किया ! खूब कमाये दाम" !!
नानक बोले–"पिता जी, करिये जरा विचार ।
किसी तरह भी है न यह, घाटे का व्यापार ॥
सौदा क्या इससे खरा हो सकता है और ?
क्रोध छोड़कर चाहिए, करना इस पर गौर ॥
भूखे भक्तों का किया, भोजन दे उपकार ।
है निश्चय इस पुण्य से, अपना बेड़ा पार ॥"

सुत की ऐसी बातें सुनकर, 'मेहता' को दुःख अपार हुआ ।
मन ही मन बोले–"नानक को समझाना सब बेकार हुआ ॥
वैराग्य खयालों में उसके, निशि, दिन बढ़ता ही जाता है ।
तबियत पर रंग फ़क़ीरी का गहरा चढ़ता ही जाता है ॥
बन्धन में अगर गृहस्थी के, मैं इसको नहीं फँसाऊँगा ।
यदि चटपट किसी सुन्दरी से, इसका न विवाह रचाऊँगा—
तो निश्चय यह घर द्वार छोड़, निज तन पर भस्म रमायेगा ।
मुँह मोड़ के सारी दुनिया से रमता [illegible] हो जायेगा ॥

रहता है सुल्तानपुर, जामाता जयराम ।
उसको ही अब सौंप दूँ, मैं यह मुश्किल काम ॥
रक्खेगी नानकी भी, निज भाई का ध्यान ।
सँभल जायगा इस तरह, बेटा यह 'नादान' ॥"
सोच समझकर अन्त में, सुत से कहा विचार ।
पितु आज्ञा को सिर झुका, नानक हुए तयार ॥
जा पहुँचे सुल्तानपुर, हुई नानकी धन्य ।
वसुधा में किसको मिला, ऐसा भाई अन्य ?
दौलतखाँ के थे बड़े, कारिन्दा जयराम ।
मोदीखाने का मिला, नानक को भी काम ॥

लेकिन मोदीखाने में भी, उनका वैसा ही हाल रहा ।
दीनों का और गरीबों का, पहले की तरह खयाल रहा ॥
अब भी दुखियों को देख देख; उनका अन्तस्तल रोता था ।
जब तक उनका दुख मेट न दें; तब तक न उन्हें सुख होता था ॥
भूखे भिखमङ्गों को निराश वे कभी नहीं लौटाते थे ।
मोदीखाने ही से उनको, भोजन भर पेट कराते थे ॥
यह देख के लोग लगे कहने, नानक जी धोखा खायेंगे ।
यों लुटाके मोदीखाने को, पीछे से पकड़े जायेंगे ॥
आखिर कुछ दुष्टों ने जाकर, दौलतखाँ से चुगली खाई ।
पर जाँच से मोदीखाने की, पूरी पैठी पाई पाई ॥

इस प्रकार करने लगे नानक जब निर्वाह ।
सँग सुलक्षिणी के तभी इनका हुआ विवाह ॥
क्रम से ईश्वर ने दिए, दो बेटे सुखधाम ।
'लक्ष्मीचन्द' 'श्रीचन्द' जो, कहलाये अभिराम ॥

लेकिन पत्नी पुत्र का, मनहर मोहन जाल ।
रख सकता था बाँधकर, कब वह हृदय विशाल ?
घरबार में रहकर भी जग से, वे सदा दूर से रहते थे ।
एक नई निराली मस्ती में, दिन रात चूर से रहते थे ॥
हर रोज साधुओं सन्तों में, ज्यादातर समय बिताते थे ।
दुनिया के दिलकश नज़्ज़ारे, अब उनका मन न लुभाते थे ॥
सच्चिदानन्द में ध्यानमग्न, अक्सर मन उनका रहता था ।
ईश्वर की प्रेम-तरंगों में, जीवन का बेड़ा बहता था ॥
एक रोज कर ही दिया जग से नाता भंग ।
रहे तीन दिन लापता एक साधु के संग ॥
चौथे दिन आकर किया, पुर के बाहर बास ।
त्यागे झूठे जगत् के सब झूठे विश्वास ॥
घर-घर पहुँचा यह समाचार, "नानक फ़क़ीर बन आये हैं ।
बस्ती के बाहर ठहरे हैं, कपड़े गेरुए रँगाये हैं ॥
सुन्दर मीठी मृदु वाणी में सबको उपदेश सुनाते हैं ।
जो उनकी बातें सुनते हैं, वे उनके ही हो जाते हैं ॥"
समाचार सुन नानकी, हुई बहुत बेहाल ।
पुर बाहर जयराम सँग, आपहुँची तत्काल ॥
बोली-"भैया ! भैया !! तूने, अपना क्या वेष बनाया है ?
क्यों अपनेसब घरवालों का, यों चित से ध्यान हटाया है ?
तू नहीं रहा है बालक अब, सब लायक और सयाना है ।
तुझको ही तो अपने घर का आगे को बोझ उठाना है ॥
क्योंकर बूढ़े माँ बाप भला, यह भीषण दुःख सहारेंगे ?
किन आँखों से निज बेटे की, वे ऐसी दशा निहारेंगे ?

रहता है सुल्तानपुर, जामाता जयराम।
उसको ही अब सौंप दूँ, मैं यह मुश्किल काम॥
रक्खेगी नानकी भी, निज भाई का ध्यान।
सँभल जायगा इस तरह, बेटा यह 'नादान'॥"
सोच समझकर अन्त में, सुत से कहा विचार।
पितु आज्ञा को सिर झुका, नानक हुए तयार॥
जा पहुँचे सुल्तानपुर हुई नानकी धन्य।
वसुधा में किसको मिला, ऐसा भाई अन्य?
दौलतख़ाँ के थे बड़े, कारिन्दा जयराम।
मोदीख़ाने का मिला, नानक को भी काम॥

लेकिन मोदीख़ाने में भी, उनका वैसा ही हाल रहा।
दीनों का और ग़रीबों का, पहले की तरह ख़याल रहा॥
अब भी दुखियों को देख देख; उनका अन्तस्तल रोता था।
जब तक उनका दुख मेट न दें, तब तक न उन्हें सुख होता था॥
भूखे भिखमङ्गों को निराश वे कभी नहीं लौटाते थे।
मोदीख़ाने ही से उनको, भोजन भर पेट कराते थे॥
यह देख के लोग लगे कहने, नानक जी धोखा खायेंगे।
यों लुटाके मोदीख़ाने को, पीछे से पकड़े जायेंगे॥
आख़िर कुछ दुष्टों ने जाकर, दौलतख़ाँ, से चुग़ली खाई।
पर जाँच से मोदीख़ाने की, पूरी बैठी पाई पाई॥

इस प्रकार करने लगे नानक जब निर्वाह।
सँग सुलच्छिणी के तभी इनका हुआ विवाह॥
क्रम से ईश्वर ने दिए दो बेटे सुखधाम।
'लक्ष्मीचन्द' 'श्रीचन्द' जो, कहलाये अभिराम॥

लेकिन पत्नी पुत्र का, मनहर मोहन जाल ।
रख सकता था बाँधकर, कब वह हृदय विशाल ?
घरबार में रहकर भी जग से, वे सदा दूर से रहते थे।
एक नई निराली मस्ती में, दिन रात चूर से रहते थे ॥
हर रोज साधुओं सन्तों में, ज्यादातर समय बिताते थे ।
दुनिया के दिलकश नज्जारे, अब उनका मन न लुभाते थे ॥
सच्चिदानन्द में ध्यानमग्न, अक्सर मन उनका रहता था ।
ईश्वर की प्रेम-तरंगों में, जीवन का बेड़ा बहता था ॥
एक रोज कर ही दिया जग से नाता भंग ।
रहे तीन दिन लापता एक साधु के संग ॥
चौथे दिन आकर किया, पुर के बाहर वास ।
त्यागे झूठे जगत् के सब झूठे विश्वास ॥
घर-घर पहुँचा यह समाचार, "नानक फ़कीर बन आये हैं ।
बस्ती के बाहर ठहरे हैं, कपड़े गेरुए रँगाये हैं ॥
सुन्दर मीठी मृदु वाणी में सबको उपदेश सुनाते हैं ।
जो उनकी बातें सुनते हैं, वे उनके ही हो जाते हैं ॥"
समाचार सुन नानकी, हुई बहुत बेहाल ।
पुर बाहर जयराम सँग, आ पहुँची तत्काल ॥
बोली-"भैया ! भैया !! तूने, अपना क्या वेष बनाया है ?
क्यों अपने सब घरवालों का, यों चित से ध्यान हटाया है ?
तू नहीं रहा है बालक अब, सब लायक और सयाना है ।
तुझको ही तो अपने घर का आगे को बोझ उठाना है ॥
क्योंकर बूढ़े माँ बाप भला, यह भीषण दुःख सहारेंगे ?
किन आँखों से निज बेटे की, वे ऐसी दशा निहारेंगे ?

उन पर इस तरह बुढ़ापे में, भाई ! हर्गिज़ वेदाद न कर ।
दुनिया की राह छोड़कर के, उनकी दुनिया बर्बाद न कर ॥
तू है सुलक्षिणी का जीवन, जीवन उसका पामाल न कर ।
इस चाल से उस बेचारी को, पैदा दुख का भूचाल न कर ॥
किस तरह तुझे बिना वह अबला, अपने दिन शेष वितायेगी ?
पति के जीते जी ही कैसे पति से विहीन रह पायेगी ?
तेरे छोटे छोटे बालक, अब किसका आश्रय पायेंगे ?
वे सुधर फूल सब खिलने से पहले ही मुरझा जायेंगे ॥
इतने जीवों को दुख देकर, सन्याम तुझे क्या भायेगा ?
ओ भाई, बतला तो क्या तू इतना निठुर हो जायेगा ?"

कहते कहते नानकी, भर लाई जल नैन ।
भाव भरे गंभीर तब बोले नानक बैन ॥

"हे बहन, जगत् में ईश्वर ही, जीवों का एक सहारा है ।
चर-अचर सृष्टि का रक्षक है, पोषक और पालनहारा है ॥
मानव तो है खुद ही अशक्त, वह क्या रक्षा कर सकता है ?
हर सकता है तो एक वही, सबकी पीड़ा हर सकता है ॥
फिर क्या कुटुम्ब का सोच करूँ, जब प्रभु सबका रखवारा है ?
जो पहले पालनहारा था वह अब भी पालनहारा है ॥

※ गाना ※

वही है सबका पालनहार ।
कीड़ी से कुञ्जर तक सबके जीवन का आधार ॥ वही० ॥
'मैं करता हूँ', 'मैं करता हूँ,' करके यही विचार ।
व्यर्थ लाद लेता है मानव, अपने ऊपर भार ॥ वही० ॥
कौन किसी की चिन्ता करता, कौन किसी को प्यार ?
जगदीश्वर पर ही अवलम्बित है सारा संसार ॥ वही ॥
जिसके बल से चलते हैं, इस दुनिया के व्यापार ।
'सुशील' चल शरण उसी की, जो चाहे उद्धार ॥ वही ॥

महिमा यों भगवान् की, गाकर भले प्रकार ।
नानकजी फिर इस तरह कहने लगे विचार ॥
"दुःख शोक से पूर्ण है, यह संसार असार ।
निरंकार का नाम ही, एक यहाँ पर सार ॥

तुम गाकर सुख के गीत सुघर, मुझको बहकाने आई हो ।
घर का घरवालों का लालच, देकर ललचाने आई हो ॥
विषयों के विषम बन्धनों में, बाँधना चाहती हो मुझको ।
धन वैभव के आकर्षण से, खींचना चाहती हो मुझको ॥
लेकिन मैं खूब समझता हूँ यह सारे सुख क्षणभंगुर हैं ।
कहने को दुनिया के सुख हैं, वास्तव में दुख के अंकुर हैं ॥
धन से या विषय-भोग द्वारा, किसने सच्चा सुख पाया है ?
उफ़ ! यह वह मृगमरीचिका है, जिसने सबको भरमाया है ॥
मैंने इस जग से नेह तोड़, अपना जग अलग बसाया है ।
पार्थिव कुटुम्ब का त्यागन कर, एक नया कुटुम्ब बनाया है ॥
अब 'क्षमा' ही मेरी माता है, 'संतोष' पिता है सुखकारी ।
है पुत्र हृदय का 'ईश प्रेम', पत्नी है 'शान्ति' सदा प्यारी ॥
बस, इस पवित्र परिवार बीच, अब अपना समय बिताना है ।
हो, निरंकार में ध्यान-मगन, सच्चिदानन्द बन जाना है ॥"

समझा समझाकर इन्हें, गई सब तरह हार ।
आखिर लौटी नानकी, करती हाहाकार ॥
तलवंडी में शीघ्र ही, पहुँचा सब संवाद ।
आपुसवालों को हुआ, सुनकर बड़ा विषाद ॥

उन पर इस तरह बुढ़ापे में, भाई ! हर्गिज बेदाद न कर ।
दुनिया की राह छोड़कर के, उनकी दुनिया बर्बाद न कर ॥
तू है सुलक्षिणी का जीवन, जीवन उसका पामाल न कर ।
इस चाल से उस बेचारी को, पैदा दुख का भूचाल न कर ॥
किस तरह तुझ बिना वह अबला, अपने दिन शेष बितायेगी ?
पति के जीते जी ही कैसे पति से विहीन रह पायेगी ?
तेरे छोटे छोटे बालक, अब किसका आश्रय पायेंगे ?
वे सुघर फूल सब खिलने से पहले ही मुरझा जायेंगे ॥
इतने जीवों को दुख देकर, सन्यास तुझे क्या भायेगा ?
ओ भाई, बतला तो क्या तू इतना निष्ठुर हो जायेगा ?"

कहते कहते नानकी, भर लाई जल नैन ।
भाव भरे गंभीर तब बोले नानक बैन ॥

"हे बहन, जगत में ईश्वर ही, जीवों का एक सहारा है ।
चर-अचर सृष्टि का रक्षक है, पोषक और पालनहारा है ॥
मानव तो है खुद ही अशक्त, वह क्या रक्षा कर सकता है ?
हर सकता है तो एक वही, सबकी पीड़ा हर सकता है ॥
फिर क्या कुटुम्ब का सोच करूँ, जब प्रभु सबका रखवारा है ?
जो पहले पालनहारा था वह अब भी पालनहारा है ॥

❋ गाना ❋

वही है सबका पालनहार ।
चींटी से कुञ्जर तक सबके जीवन का आधार ॥ वही० ॥
'मैं करता हूँ', 'मैं करता हूँ,' करके यही विचार ।
व्यर्थ लाद लेता है मानव, अपने ऊपर भार ॥ वही० ॥
कौन किसी की चिन्ता करता, कौन किसी को प्यार ?
जगदीश्वर पर ही अवलम्बित है सारा संसार ॥ वही ॥
जिसके बल से चलते हैं, इस दुनिया के व्यापार ।
'सुरीराम' चल शरण उसी की, जो चाहे उद्धार ॥ वही ॥

महिमा यों भगवान् की, गाकर भले प्रकार ।
नानकजी फिर इस तरह कहने लगे विचार ॥
"दुःख शोक से पूर्ण है, यह संसार असार ।
निरंकार का नाम ही, एक यहाँ पर सार ॥

तुम गाकर सुख के गीत सुघर, मुझको बहकाने आई हो ।
घर का घरवालों का लालच, देकर ललचाने आई हो ॥
विषयों के विषम बन्धनों में, बाँधना चाहती हो मुझको ।
धन वैभव के आकर्षण से, खींचना चाहती हो मुझको ॥
लेकिन मैं खूब समझता हूँ यह सारे सुख क्षणभंगुर हैं ।
कहने को दुनिया के सुख हैं, वास्तव में दुख के अंकुर हैं ॥
धन से या विषय-भोग द्वारा, किसने सच्चा सुख पाया है ?
उफ़ ! यह वह मृगमरीचिका है, जिसने सबको भरमाया है ॥
मैंने इस जग से नेह तोड़, अपना जग अलग बसाया है ।
पार्थिव कुटुम्ब का त्यागन कर, एक नया कुटुम्ब बनाया है ॥
अब 'क्षमा' ही मेरी माता है, 'संतोष' पिता है सुखकारी ।
है पुत्र हृदय का 'ईश प्रेम', पत्नी है 'शान्ति' सदा प्यारी ॥
बस, इस पवित्र परिवार बीच, अब अपना समय बिताना ।
हो, निरंकार में ध्यान-मग्न, सच्चिदानन्द बन जाना है ॥"

समझा समझाकर इन्हें, गई सब तरह हार ।
आखिर लौटी नानकी, करती हाहाकार ॥
तलवंडी में शीघ्र ही, पहुँचा सब संवाद ।
आपुसवालों को हुआ, सुनकर बड़ा विषाद ॥

नानक के जननी जनक, रोये हो बेज़ार ।
बोले—"अब से हो गया, यह जीवन भी भार ॥
नानक निकला अन्त में तू निर्दय बेपीर ।
बूढ़े माता पिता का, दिया कलेजा चीर ॥"

'मर्दाना' नामक एक व्यक्ति, था नानक का साथी सहचर ।
कल्याणचन्द्र ने एक रोज, यूँ कहा उसे घर बुलवा कर ॥
"तुम बालसखा हो नानक के, रक्खा है उससे नेह सदा ।
बचपन से रहते आये हो, ज्यों एक प्राण दो देह सदा ॥
बेटा, नानक के ढिंग जाकर, यह विपत हमारी बतलाना ।
जैसे भी हो उस निष्ठुर को, समझाकर सँग लेते आना ॥"
जो निज उपदेशों से प्रतिदिन, मनुजों को पथ दिखलाता है ।
क्या खूब ! उसी को समझाने, 'मर्दाना' भेजा जाता है ॥

क्या समझाता वह भला, था जो स्वयं अजान ?
नानक ही ने दे दिया, उल्टा उसको ज्ञान ॥
आखिर उसने रख दिया, चरणों पर निज माथ ।
गुरू मान रहने लगा, नानक जी के साथ ॥

कुछ रोज बाद की घटना है, रजनी उस दिन सुखदाई थी ।
जड़ चेतन सब निद्रा में थे, नानक को नींद न आई थी ॥
आकाश में जुगनू कभी कभी, क्षणभर प्रकाश कर जाता था ।
मानव-जीवन क्षणभंगुर है, मानो यह भेद बताता था ॥
उस शान्त निशा में पूर्ण शान्ति व्यापी थी जब कि जलस्थल में ।
कुछ गूढ़ विचार उठ रहे थे, नानक जी के अन्तस्तल में ॥
वे बोले—"हिन्दू मुसलमान, जब ईश्वर ही उपजाता है ।
तब तो फिर इन दोनों ही में, भाई भाई का नाता है ॥

क्यों हिन्दू कहलाते काफ़िर ? क्यों यवन म्लेच्छ कहलाते हैं ?
क्यों एक दूसरे का दोनों, निर्दय हो रक्त बहाते हैं ?
ये अपने मन्दिर बनवाएँ, वे भी मस्जिदें तयार करें।
किसलिए गिरायें यह मस्जिद, मन्दिर वे क्यों मिस्मार करें ?
हैं एक पिता ही के बालक, तो क्यों न मेल से रहते हैं ?
अफ़सोस है एक दूसरे को, दुख देते हैं दुख सहते हैं॥

पहुँचाऊँगा मैं उन्हें, समता का सन्देश।
मेटूँगा यह देश से, बिना बात का क्लेश॥"

दूसरे रोज़ ही से उनका, वह ढँग बदला जो आला था।
लोगों ने जो उपदेश सुना, वह निर्मल और निराला था॥
मृदु वाणी में बोले नानक,—"क्यों राह न सही पकड़ते हैं ?
हिन्दू और मुसल्मान दोनों क्यों आए रोज़ झगड़ते हैं ?
है एक ईश सबका मालिक, जो सबका जीवनदाता है।
कोई कहता है 'राम' उसे, कोई 'रहीम' बतलाता है॥
जी चाहे उसको 'राम' कहो जी चाहे उसे 'रहीम' कहो।
मंशा उस ईश्वर ही से है, 'करुणाकर' कहो 'करीम' कहो॥
अब इस खयाल से देखा तो, घर में ही दोषी हैं घर के।
हिन्दू और मुसल्मान दोनों, हैं खतावार उस ईश्वर के॥"

यह पवित्र उपदेश सुन, उत्तम और अनन्य।
पुलकित होकर कह उठे, सुनने वाले 'धन्य'॥

सैकड़ों हज़ारों ही दर्शक, उनके समीप नित आते थे।
यह सरल और मीठी वाणी, सुनकर मन में सुख पाते थे॥
हिन्दू या मुसल्मान जो भी, शिक्षायें उनकी सुनता था।
खोकर मन का सब द्रोह द्वेष, उनका अनुयायी बनता था॥

यों उनका जब कि प्रचार बढ़ा क़ाजी मुल्ला सब अकुलाये ।
जाकर नवाब दौलतखाँ के, दर्वाजे पर सब चिल्लाये ॥
बोले-"हुजूर होगया गजब, इस्लाम पै हर्वा आया है ।
काफ़िर नानक ने लोगों में, एक नया कुफ़्र फैलाया है-॥
वह अपने हिन्दू मजहब को, इस्लाम की जगह बिठाता है ।
हिन्दू का मुसल्मान के सँग, यकसाँ रुतबा बतलाता है ॥
सीधे नाख़्वाँदा मुसलमान, तफ़रीक़ न कुछ कर पाते हैं ।
मीठी मीठी बातें सुनकर, उसके मुरीद बन जाते हैं ॥
हौसला अगर उसका यों ही, दिन पर दिन बढ़ता जायेगा—
तो मुसल्मान कोई न कहीं, इस मुल्क में रहने पायेगा ॥"

मुल्लाओं के वचन सुन, हुए नवाब कराल ।
बुलवाया दर्बार में, नानक को तत्काल ॥
शाही आज्ञा से हुई, चिन्ता उन्हें न लेश ।
आ नवाब को भी दिया, सरल सत्य उपदेश ॥

बोले नवाब-"गर वाक़ई में हर मजहब से है प्यार तुम्हें ।
मन्दिर मस्जिद में मिलता है, यकसाँ रब का दीदार तुम्हें ॥
तो पढ़ो हमारे संग नमाज, अब शाही मस्जिद में चलकर ।
हो जायेगा सबको यक़ीन, हर तरह तुम्हारी बातों पर ॥

हो सकता था क्या भला, नानक को इनकार ?
बोले-"मैं इसके लिए, हूँ हर वक़्त तयार ॥

यों कहकर शाही मस्जिद में, सबके सँग शीघ्र प्रवेश किया ।
करते थे जो उपदेश नित्य, आज भी वही उपदेश किया ॥
जब मुल्लाओं के सँग नवाब, झुक-झुककर सिजदा करते थे ।
तब आप अलग हटकर उनसे ईश्वर की चिन्ता करते थे ॥

यह हाल देख बोले नवाब,–"आना कानी क्यों करते हो ?
तुम मेरे साथ क़ायदे से, किसलिए नमाज़ न पढ़ते हो ?
यह बोले–"पढ़ूं नमाज़ भला, कैसे उसके संग दिल लाकर ?
घोड़ों का मोल कर रहा हो - जिसका मन काबुल में जाकर ?
गर क़ाज़ी जी के साथ पढ़ूं, तो वह भी फसे बखेड़े में ।
तन से मस्जिद में हैं लेकिन मन घर पर पड़ा बछेड़े में ॥
पूजा आरती और सिजदा, सब निर्मल मन के धन्धे हैं ।
करते हैं दिल से आराधन, जो उसके सच्चे बन्दे हैं ॥
क्या सिर्फ़ उठक बैठक से ही, ईश्वर कोई पा सकता है ?
मन का सन्ताप भला क्यों कर, इस नाटक से जा सकता है ?
जो दुखियों और ग़रीबों की, खिदमत को आगे बढ़ता है ।
जो पाकदिली से नेकी का, आये दिन कलमा पढ़ता है ॥
है वह ही सच्चा मुसलमान, उसको ही प्रभु अपनाता है ।
सुख शान्ति पूर्ण वह जन्म बिता, बस अन्त परम पद पाता है ॥"

क़ाज़ी और नवाब ने सुन नानक के बैन ।
लज्जित होकर हृदय में झुका दिए निज नैन ॥

मर्दाना जब मृदु वाणी से, अति मंजुल राग सुनाता था ।
वीणा के मधुर स्वरों में जब, वह सुधा-सलिल बरसाता था ॥
तब हिला-हिलाकर पत्तों को, वन के तरु ताल बताते थे ।
मीठी तानों से मोहित हो, हिंसक पशु भी रुक जाते थे ॥
'मर्दाना' कहता था–"गुरुवर, मुद्दत से गाता आता हूँ ।
तबला, सितार और सारंगी, सब साज़ सदैव बजाता हूँ ॥
पर ऐसी अनुपम तन्मयता, पहले न कभी मैं पाता था ।
पहले प्यासे का प्यासा ही, हृदयस्थल यह रह जाता था ॥"

गुरु बोले–"ईश भक्ति ही की, महिमा का यह अद्भुत बल है ।
करते हो प्रभु का गुण बखान, मिलता उसका मीठा फल है ॥"

जगह जगह हरते हुए, जनता का अज्ञान ।
ग्राम ऐमनाबाद में पहुँचे गुरु मतिमान ॥

ऐमनाबाद में एक व्यक्ति, बढ़ई का पेशा करता था ।
'लालू' था उसका नाम सुघर, वह सुकृत सर्वदा करता था ॥
यद्यपि ग़रीब ही था घर का, तबियत थी मगर अमीरों की ।
सर्वस दे देता सेवा में, दुखियों की और फ़क़ीरों की ॥
मर्दाना के संग ठहरे थे गुरुवर इसके ही घर आकर ।
अतिशय आनन्दित होते थे, रूखा सूखा भोजन पाकर ॥
नीरस पदार्थ भी श्रद्धा से, स्वादिष्ट सरस हो जाता है ।
श्रद्धाविहीन षट्रस भी हो, तो भी मन तृप्ति न पाता है ॥
शबरी के जूठे बेरों में, कुछ थी न अनोखी सुघराई ।
वह भाव था भक्तिन के मन का, जिसकी थी उनमें मधुराई ॥

उसी ग्राम के बीच था, भागूमल दीवान ।
अपने वैभव का जिसे, था अतीव अभिमान ॥

अपने अपार धन के कारण, वह फूला तन न समाता था ।
अपने मुक़ाबले औरों को, गिनती में कभी न लाता था ॥
रहता था कमर कसे हरदम, बस्ती की प्रजा सताने को ।
दीनों का रक्त चूसता था, अपनी सम्पत्ति बढ़ाने को ॥
सुत के विवाह पर हर्षित हो, उसने एक भोज रचाया था ।
ऐमनाबाद के लोगों को, अपने घर न्योत बुलाया था ॥
आज्ञा थी उसकी साधु सन्त, जो कोई बाहर से आवे ।
वह पहले मेरे घर आकर, मिष्टान्नपूर्ण भोजन पावे ॥

उसके कहने से कई विप्र, गुरुवर के सम्मुख आकर के ।
बोले–"भागूमल के चलिए, भोजन के लिए दया करके ॥"
गुरु बोले–"हमको तो भाई, निर्धन का भोजन रुचता है ।
धनवानों के घर बना हुआ, पकवान न अच्छा लगता है ॥"
विप्रों द्वारा भागूमल को, यों मिला जब कि गुरु का उत्तर ।
'ले आओ पकड़'–इस तरह का आदेश दिया उसने जलकर ॥

सेवक पहुँचे गुरु निकट, डरते हुए अधीर ।
गुरु कुछ हंसकर चल दिए, भागूमल के तीर ॥

नानकजी को लख भागूमल, बोला–"मिजाज दिखलाते हो ।
दुनियादारों से भी ज्यादा, साधू हो शान जमाते हो ॥
शूद्रों के घर का सड़ा हुआ, अग्राह्य अन्न तो भाता है ।
मेरा स्वादिष्ट स्वच्छ भोजन, क्या घाँटी में फँसजाता है ?"

भागू के इस कथन पर, बोले गुरु मतिमान ।
"अपने भोजन का तुम्हें, है अतिशय अभिमान ॥
किन्तु दीन का शाक ही, है मुझको मंजूर ।
मिलती है बस उसी में, मुझे तृप्ति भरपूर ॥"

भागू ने कहा कि–"मेरे घर, जो भी भोजन को आये हैं ।
वे मेरे मधुर व्यञ्जनों की, महिमा कहते न अघाये हैं ॥
लेकिन लालू की रोटी से, तुम उनको हेय बताते हो ।
अफसोस, महात्मा होकर भी, मिथ्या कहते न लजाते हो ॥"

गुरु बोले–"दुनिया कहे, झूठ न होगा साँच ।
मन में कुछ सन्देह हो, तो कर देखो जाँच ॥"

यह सुनकर भागू ने अपने, व्यञ्जन रख दिये वहाँ लाकर ।
लालू भी निज रूखी रोटी, ले आया गुरु आज्ञा पाकर ॥

बोले—"शुभ कर्मों से ही हम, पितरों को खुश कर सकते हैं।
निज सदाचार से ही उनका, मानसिक ताप हर सकते हैं॥
जो प्राणी सदाचरण छोड़ पापों में समय बिताता है।
उसके कुल पितरों का समूह, पिण्डों से शान्ति न पाता है॥
है पिण्डदान का अर्थ यही, हम पितरों का सत्कार करें।
उनका यश सदा रहे कायम ऐसा अपना आचार करें॥
उनके गौरव पर जीवन में, हम आँच न हरगिज़ आने दें।
सर जाये तो जाये लेकिन, सम्मान न उनका जाने दें॥"

शुद्ध सनातन धर्म का, करते हुए प्रचार।
जगन्नाथ आकर रहे, गुरुवर दिन दो चार॥
कहा आरती के लिए जब सबने बहु बार।
गुरुवर ने तब इस तरह, अपना कहा विचार॥
"जिसकी पूजा के लिए, बना है नभ का थाल।
तारागण जिसमें जड़े, मानो हीरा लाल॥
सूर्य-चन्द्र जल रहे हैं, दो प्रदीप सुविशाल।
बजता रहता है सदा, अनहद का घड़ियाल॥
मलयागिरि से आन कर, चँवर डुलाता पौन।
कर सकता है आरती, ऐसी उसकी कौन?
जिसके आश्रय पर टिका, यह सारा संसार।
उसके चरण-सरोज पर, नानक है बलिहार॥"

यों जगह जगह पर भारत में, जब गुरु ने खूब प्रचार किया।
तब अन्य देश को जाने का, मन में एक रोज़ विचार किया॥
चल पड़े शिष्य को सँग लेकर थी राह बहुत तकलीफ़ों की।
आखिर जा पहुँचे अरब देश, जो भूमि थी खालिस अरबों की॥

जिस दिन कि सूर्य छिप जाने पर वे ठहरे मक्का में जाकर ।
पस्ती के कारण दोनों को, घेरा झट निद्रा ने आकर ॥
मर्दाना ने झट लगा दिया, गुरु का विस्तरा ठाँव करके ।
गुरु जी सोये आलस्य भरे, कावे की तरफ़ पाँव करके ॥
फिर प्रातःकाल मुजाविर सब, उस कावे के वाहर आये ।
और नानकजी को उस प्रकार सोते देखा तो झुंझलाये ॥
बोले-"हजरत क्या खूब, आप अच्छा हज करने आये हैं ।
खानए खुदा की जानिब को, आपने पाँव फैलाये हैं ॥
नानक ने कहा नम्रता से,-"क्यों आप क्रोध दिखलाते हैं ?
मक्का शरीफ़ का अदब और क़ायदे न मुझको आते हैं ॥"
नानकजी तो अति नर्मी से, उनको निज अर्ज़ सुनाते थे ।
लेकिन वह अपने लफ़्ज़ों में, सख़्ती ही लाते जाते थे ॥
आखिर गुरु बोले-"आँजनाव बेकार मुझे वहकाते हैं ।
कावा ही ईश्वर का घर है यह ग़लत आप फ़र्माते हैं ॥
हो जहाँ न घर उस मालिक का, वह जगह दिखादें आप मुझे ।
मैं अपने पाँव घुमा लूंगा, गर ठीक बतादें आप मुझे ॥"

नानकजी के वचन सुन, धाया एक फ़क़ीर ।
लगा घुमाने पकड़कर, पद उनके बेपीर ॥
इसपर एक कौतुक हुआ, सुनो लगाकर ध्यान ।
उस कौतुक को देखकर, सभी हुए हैरान ॥

गुरु नानक जी के चरणों को, जिस तरफ़ फ़क़ीर घुमाता था ।
तत्काल घूमकर काबा भी, बस उसी तरफ़ आजाता था ॥
यह घटना बारम्बार घटी, कोई कुछ समझ न पाता था ।
घूमते हुए चरणों के संग काबा भी फिरता जाता था ॥

माजरा देखकर चकित हुए, जो वहाँ खड़े थे नर-नारी।
सोचा यह कोई औलिया है, रखता है करामात भारी॥
उर-अन्तर में जम गया, लोगों के विश्वास।
सभी जगह संसार में, है ईश्वर का वास॥
केवल काबा ही नहीं, उसका वासस्थान।
रमा हुआ है विश्व के, कण-कण में भगवान॥
'हिन्दू हो या मुसलमाँ? बोला काजी आय।
नानकजी कहने लगे, मन्द-मन्द मुसकाय॥
"हिन्दू कहा तो मारिये, मुसलमान भी नाँह।
पंचतत्त्व का पुतला, नानक मेरा नाँव॥

(गुरु नानक)

❀ गाना ❀

सभी हैं उस प्रभु की सन्तान।
हिन्दू मुसलमान दोनों हैं उसको एक समान।
एक वृक्ष की शाखायें हैं, अरे तनिक कर ध्यान॥ सभी॥
मन्दिर मस्जिद दोनों में है, एक वही भगवान।
लड़ने लगते हैं आपुस में योंही मूढ़ अज्ञान॥ सभी॥
दया, क्षमा, अक्रोध, सत्य का रखता हो सामान।
सच्चे हिन्दू मुसलमान की एक यही पहचान॥ सभी॥

—:०:—

पहुँच मदीने में दिया, इसी भाँति व्याख्यान।
मर्दाना ने भी वहाँ, गाये मंजुल गान॥
तदुपरान्त कुछ समय तक, रहे जाय बगदाद।
वहाँ खलीफा से किया, ज्ञानपूर्ण संवाद॥

सुनकर गुरु-कथन खलीफ़ा की, आत्मा का कल्मष क्षार हुआ।
धर्मान्ध-भाव का त्यागन कर, मन उसका विमल उदार हुआ॥
गुरुवर जब होने लगें विदा, तो आदर उसने दिखलाया।
थी लिखी धर्मवाणी जिसपर वह चोला उनको पहनाया॥

फैलाने को विश्व में, सत्य धर्म सन्देश।
इसी तरह घूमे फिरे, गुरुवर नाना देश॥
वापिस जब आरहे थे, सींच प्रेम का नीर।
मर्दाना ने मार्ग में, सहसा तजा शरीर॥
बालसखा और मित्र का, कर अन्तिम संस्कार।
गुरुवर लौटे देश को, करते हुए प्रचार॥

वर्षों यात्रा में रहने से, होगया क्षीण पौरुष तन का।
इसलिए ठहरकर एक जगह, गुरु लगे साधने तप मन का॥
सरिता के निकट अलग सबसे, छोटी सी कुटिया बनवाकर।
भगवत् का कीर्तन करते थे, अपने कोमल पद गा-गाकर॥
कितने ही नर-नारी प्रतिदिन, दर्शन को उनके आते थे।
अति सरल मधुर वाणी उनकी, सुनकर गद्गद् हो जाते थे॥

'लालू' भाई का इन्हें, मिला यहीं संदेश।
गुरुवर "शीघ्र पधारिए, लोग पा रहे क्लेश॥"

यह समाचार पा सैयदपुर, पहुँचे गुरुवर लालू के घर।
देखा सब लोगों को हताश, यवनों के अत्याचारों पर॥
नाना प्रकार के कष्टों से, पीड़ित थे जितने नर नारी।
वे रोये आ गुरु के समीप, अपना अपना दुखड़ा भारी॥
बोले "हे महाराज, प्रतिदिन शाशकमण्डल दुख देता है।
जो रक्षक है भक्षक बनकर, सर्वस ही छीने लेता है॥

अन्यायी राजकर्मचारी, नानाविध हमें सताते हैं ।
करते हैं अपनी मनमानी, कुछ भय न किसी से खाते हैं ॥
सबसे ज़्यादा तो प्रजावर्ग, अपमान धर्म का सहता है ।
आँखों के आगे ही अक्सर, गोरक्त गाँव में बहता है ॥
फिर, मुस्लिम मुल्लाओं का दल, दोनों को अलग दलाता है ।
जो हिन्दू बेवस होता है, वह मुसल्मान हो जाता है ॥
अन्धेर हुआ है चौतर्फ़ा, है नहीं धर्म का राज यहाँ ।
गुरुदेव, लूट ली जाती है, अबलाओं की अब लाज यहाँ ॥

पीड़ित है जिस राज में, ऐसा प्रजा-समाज ।
हे ईश्वर, उस राज पर, क्यों न टूटती गाज ?"

गुरुवर बोले—"टुक धैर्य धरो, क़िस्मत फिरने ही वाली है ।
इस अत्याचारी शासन पर, बिजली गिरने ही वाली है ॥
अबतक जो पाप होचुका है, उसका फल मिलने वाला है ।
निर्दयी नृपति का सिंहासन, जल्दी ही हिलने वाला है ॥
दो चार रोज़ में काबुल से बाबर का लश्कर आयेगा ।
जो शीघ्र फैलकर यहाँ वहाँ, टिड्डीदल-सा छा जायेगा ॥
इस लश्कर के साहसी वीर, दिल्ली तक बढ़ते जायेंगे ।
ज़ालिम बेरहम पठानों को करनी का मज़ा चखायेंगे ॥

तुच्छ मनुज का वश नहीं, करे जो कुछ उपचार ।
ऐसे में तो है वही, विपति विदारणहार ॥

अतएव उसी के चरणों में, अब अपना चित्त लगाओ तुम ।
उस दीनबन्धु के कानों तक, दुख की पुकार पहुँचाओ तुम ॥
केवल उसके ही आश्रय में, मिल सकता तुम्हें सहारा है ।
जो वसुधा का रखवाला है तुम सबका भी रखवाला है ॥"

अक्षरशः पूरी हुई, गुरुवर की यह बात ।
बाबर के आक्रमण का, आ पहुँचा उत्पात ॥
दम के दम में हो गई उथल पुथल चहुं ओर ।
राज पठानों का मिटा चल न सका कुछ ज़ोर ॥
चुन-चुनकर मारे गये, सब पठान सर्दार ।
दिल्ली पर भी होगया, बाबर का अधिकार ॥
इस प्रकार जब क्रान्ति से, मिटा देश का क्लेश ।
गुरुवर फिर देने लगे, लोगों को उपदेश ॥

समयानुसार वे जनता को, वास्तविक धर्म बतलाते थे ।
औरों के सुख में सुख पायें, बस मन्त्र यही सिखलाते थे ॥
जाहिरदारी का विध विधान, दिल को उनके न सुहाता था ।
उनके खयाल से सत्य धर्म, उससे न किसी को आता था ॥
वे कहते थे कि—"दिखावा तज, मन से ईश्वर का ध्यान करो ।
आपुस का वैर विरोध त्याग, सबका समान सम्मान करो ॥
है धर्म किसी का भी न ग़लत, दुनिया के हैं सब धर्म सही ।
उद्देश है जोकि आरती का, मक़सद नमाज़ का भी है वही ॥
मन्दिर मस्जिद है अलग अलग, यह कहना महज़ जहालत है ।
जो बुद्धि झगड़ती है इनपर, उस भ्रष्ट बुद्धि पर लानत है ॥"

फैल गया सब देश में, इस शिक्षा का मर्म ।
लोग समझने लग गये, क्या है सच्चा धर्म ॥

हिन्दू और मुसलमान दोनों, पुलकित हो बल बल जाते थे ।
श्रद्धा से उनके चरणों में, तन मन की भेंट चढ़ाते थे ॥
शासकमण्डल की सम्मति में, गुरुवर असीम उपकारी थे ।
जनता के मुखियों के समीप, वे जनता के हितकारी थे ॥

जब मुसलमान दल कहता था,–"यह पीर औलिया भारी है ।"
तब हिन्दू घोषित करते थे,–"यह तो कोई अवतारी है ॥"
इसी तरह देते हुए, सरल विमल उपदेश ।
आया गुरुवर के निकट, ईश्वर का संदेश ॥
प्रस्तुत हो आनन्द से, प्रभु-पद में धर-ध्यान ।
किया आखिरी बार यों, भगवत् का गुणगान ॥

❀ गाना ❀

"हरि बिनु तेरा कौन सहाई ।
काकी मातु पिता सुत वनिता को, काहू को भाई ॥
धन धरनी अरु सम्पति सगरी जो मान्यो अपनाई ।
तन छूटे कुछ संग न चाले, कहा ताहि लिपटाई ॥
दीनदयाल सदा दुखभंजन, तासों रुचि न बढ़ाई ।
'नानक' कहत जगत् सब मिथ्या जिउ सुपना रैनाई ॥

[गुरु नानक]

—०—

गाते गाते इस तरह, हुआ दीप निर्वाण ।
ले समाधि गुरुदेव ने, त्यागे अपने प्राण ॥
समाचार तत्काल यह, जा पहुँचा सर्वत्र ।
दूर दूर से भक्तगण, हुए वहाँ एकत्र ॥
हिन्दू और मुसलमान दोनों, श्रद्धा उन पर दिखलाते थे ।
हिन्दू उनको हिन्दू कहते, मुस्लिम मुस्लिम बतलाते थे ॥
हिन्दू बोले–"शुचि चन्दन की हम एक चिता तैयार करें ।
शास्त्रों में कही हुई विधि से, गुरु का अन्तिम संस्कार करें ॥"
इतने में मुस्लिम बोल उठे,–"तुम कैसी चिता बनाते हो ?
यह तो थे सच्चे मुसल्मान, हिन्दू कैसे बतलाते हो ?

तुमने तो खुद ही देखा था, गुरुवर उपदेश सुनाते थे ।
सच्चा कलमा, सच्ची नमाज, पढ़ना हमको सिखलाते थे ॥
ये काबे और मदीने का, जीवन में हज कर आये हैं ।
जाकर बगदाद खलीफा के हाथों से चोला लाए हैं ॥
है पाक शरह का हुक्म यही, गुरुवर को हम दफनायेंगे ।
और उनकी यादे मुबारक में, मकबरा एक बनवायेंगे ॥"

हिन्दू लोगों को मगर, हुआ न यह स्वीकार ।
बातों बातों में बढ़ी, दोनों में तकरार ॥

लेकिन जिस गुरु के जीवन में, उपदेश प्रेम का रहता था ।
हो क्लेश मृत्यु पर उनकी ही, यह किस प्रकार हो सकता था ॥
जब अन्तिम दर्शन करने को, शिष्यों ने चादर उलटाई ।
तो पड़ा न गुरुवर का शरीर, उस जगह किसी को दिखलाई ॥

पाया लोगों ने वहाँ, फूलों का एक ढेर ।
आपस की तकरार अब, मिटते लगी न देर ॥
हिन्दू मुस्लिम शान्त हो गए उपद्रव भूल ।
दो भागों में बाँटकर, साथ ले गए फूल ॥
अपने अपने भाग को निज निज मत अनुसार ।
अलग अलग रखकर किया, दोनों ने संस्कार ॥

नानक जी का पार्थिव शरीर, गो नहीं आज है इस जग में ।
लेकिन उनकी शिक्षाओं का, दीपक है जीवन के मग में ॥
उस उज्ज्वल दीपक का प्रकाश, उजियाला ऐसा फैलाए ।
धार्मिक कटुता की रजनी का, अवसान शीघ्र ही हो जाए ॥
निर्मल गुरु नानक की वाणी, भय से भारत का त्राण करे ।
हिन्दू मुस्लिम में प्रीति बढ़ा, हिन्दू मुस्लिम कल्याण करे ॥

* गाना *

दयामय भूले भटकों को दया कर राह पर लाओ ।
समझ रखते हुए भी जो न समझें उनको समझाओ ॥
हज़ारों को मिटाकर हम विजय का गीत गाते हैं ।
यह जय है या पराजय है, हमें बस इतना बतलाओ ॥
मनुष्यों को मनुष्यों की तरह रहना नहीं आया ।
मनुष्यों को मनुष्यों की तरह रहना तो सिखलाओ ॥
जो है कुरआन का ईश्वर, वही वेदों का ईश्वर है ।
यह सच्चा भाव सच्चा ज्ञान फिर से जग में फैलाओ ॥
सिखाता है न कोई धर्म आपुस में कलह करना ।
गुरू नानक की इस शिक्षा में सबकी प्रीति उपजाओ ॥

—:०:—

इति